ऋचाओं की छाया में

रामनिवास विद्यार्थी

विश्वविद्यालय प्रकाशन • वाराणसी



ऋचाओं की छाया में

[३२० वेद-मंत्रों का हिन्दी कविता में भावपूर्ण भाषान्तर तथा मंत्रों के समछन्दानुवर्त्ती शब्दार्थ भाषान्तर एवं हिन्दी में व्याख्यान सहित]

रचयिता

रामनिवास विद्यार्थी एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी) एल० टी०

प्रस्तावना लेखक

स्वामी आत्मानन्द सरस्वती



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

प्रकाशक
विश्वविद्यालय प्रकाशन
चौक
वाराणसी



प्रथम संस्करण १९७१ ई०

मुद्रक
ज्योतिष प्रकाश प्रेस
कालभैरव मार्ग, वाराणसी

गद्य-पद्यमयी-व्याख्या
समछन्दानुवर्त्तिनी ।
'स्तुता मया वेदमाता'
पावनमानी-सनातनी ॥

मंगल कामना

द्रुत विलम्बित छन्द

उपवने भवने च वने वने, वहति मादक माधव माधुरी।
विकसितानि प्रसूनफलानिव, मधु स्रवन्ति वसन्तसमागमे ॥
भवतु नः ऋतुराजमहोत्सवः, सुस्मरणीय अशोक यशो।
परिणयो परितोष यशोदयो, भवतु सौख्यप्रदः शुचि ॥
हरितमादकमाधविकालताः, मधुरसालमही सहमंजरी।
भवतु नः ऋतुराजसमागमः, प्रियसुखाय हिताय च स्वस्तये ॥
नुदतु देवइषे सविता सदा, विततु ऊर्ज्जबलं अभयं शुभम्।
सतत नन्दतु शङ्करशर्मदः, प्रभु करोतु निरामय सर्वदा ॥
सफलतां लभतां नवजीवने, मम इयं शुभमंगलकामना।
सफलतां लभतां कविता सदा, सुकविराम निवास सरस्वती ॥

मालिनी छन्द

विदधतु परितोषं लब्धकामा यशोदा।
अभिनव लभतां शोभां यशं पुण्यतां च ॥
भवतु च गृहलक्ष्मी अन्नपूर्णा सुशीला।
अविरत मम सर्वाशासु मित्रं भवन्तु ॥

ओं स्वस्ति ।३

—रामनिवास विद्यार्थी

शुभ-कामना

श्री पण्डित रामनिवास जी विद्यार्थी ने फ़िरोजपुर कारावास में रहते हुए ९१ मंत्रों का विभिन्न छन्दों में अनुवाद किया है। अनुवाद जहाँ भावगर्भित है वहाँ चित्ताकर्षक भी है। विभिन्न मंत्रों में निर्दिष्ट अनुवाद की भाषाभंगी का आलंकारिक रूप दर्शनीय है।

'नवरससिंचिता निर्मिता मादधिती भारती कवेर्जयति'

अपनी ऐसी रचनाओं में कवि ने रस का रसीला भण्डार भर दिया है। मंत्रों में प्रगट की गई वैदिक भावनाएँ हृदय में नवीन भावनाओं को जन्म दे रही हैं। पुस्तक के गर्भ में स्थान-स्थान पर प्रगट की गई नवीन उद्भासित विभिन्न छन्दकृतियाँ श्रोतृवर्ग के चित्तों को आकृष्ट कर रही हैं।

प्रकाशित पुस्तक का बाह्य चित्रपट भी सम्भवतः उतना ही सुन्दर होगा जितना उसका आन्तरिक रूप है।

आपका जितना प्रयत्न इस पुस्तक के निर्माण में हुआ है आशा है अवश्य ही वह सफल होगा।

आशा है आपकी यह पुस्तिका सर्वसाधारण के लिए हित-साधक होगी। पुस्तक के लिए शुभ-कामना करता हुआ मैं आपकी निर्माण की उदात्त शुभ-कामना करता हूँ।

वैदिक साधनाश्रम
यमुनानगर (पंजाब)

शुभचिन्तक
आत्मानन्द सरस्वती

सम्मति

मैं श्री रामनिवास की लिखी पुस्तक 'ऋचाओंकी छाया में' देख गया। मुझे यह प्रयास बहुत अच्छा लगा। शायद अब तक और किसी ने वेदमंत्रों का हिन्दी पद्य में अनुवाद करने का प्रयत्न नहीं किया, कम से कम मैंने तो ऐसी रचना नहीं देखी।

मैं पद्यशास्त्र के विषय में कोई बात साधिकार नहीं कह सकता, परन्तु जहाँ तक देख पाया इस दृष्टि से भी यह कृति अच्छी है। आज के हिन्दी पाठक की अभिरुचि कैसी है यह कहना कठिन है। फिर भी पुस्तक प्रकाशित करने योग्य है ऐसा मुझे लगता है।

लखनऊ, सितम्बर १२, १९५८ —सम्पूर्णानन्द

दो शब्द

अत्युक्ति न होगी, यदि वैदिक वाङ्मय को भारतीय चिन्तन एवं दर्शन का सम्पूर्ण तथा सर्वश्रेष्ठ प्रातिनिधिक साहित्य कहा जाये। पुराकाल में भारत के अनेक मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने अपने तपःपूत आत्मप्रकाश में श्रेष्ठ तत्त्व का जो कुछ दर्शन किया, उसको विवध ऋचाओं द्वारा उतारकर मानव-जाति के अभ्युदय एवं निःश्रेयस का द्वार उन्होंने जब उन्मुख किया, उस काल को हम भारतीय संस्कृति की मंगल वेला मानते हैं। उन ऋचाओं का संगायन जहाँ-जहाँ प्रतिध्वनित हुआ, वहाँ का कोना-कोना तीर्थस्थल बन गया। उन दिव्य ऋचाओं के दर्पण में, हम अपने उस महान् अतीत का दर्शन पाते हैं जो विश्व को आज भी जीवन-सन्देश देने की क्षमता रखता है।

वेदों पर कई भाष्य रचे गये हैं और विभिन्न भाष्यकारों ने भिन्न-भिन्न या अलग-अलग अर्थरत्न खोजने के प्रयत्न किये हैं। चारों वेदों की सहस्रों ऋचाओं का गहरा अध्ययन और अगाध अनुशीलन जिन सत्य-शोधकों ने किया, वे उनमें विश्व-जीवन का निर्मल दर्शन पाकर सदा के लिए रसमग्न हो गये। किन्तु सम्पूर्ण वैदिकवाङ्मय के महासागर में अवगाहन करने के लिए इस दौड़ा-दौड़ के युग में हम में से कितनों के पास उतना समय और उतना धैर्य होगा? तब स्वभावतः उस कुशल शोधक के प्रति कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिए जो चुन-चुन कर कुछ रत्नों का संग्रह कर देता है और उनकी उन खूबियों को भी सामने रख देता है जिन पर कि हम सहज ही मुग्ध हो जाते हैं। इस प्रकार के लोकोपयोगी प्रयास निष्ठापूर्वक कई विद्वानों ने किये हैं उनके संकलन से, संपादन से और टीकाओं से कौन ऐसा होगा जिसे दिव्य रसलाभ न हुआ हो।

इसी प्रकार का एक प्रयास हाल में श्री रामनिवास विद्यार्थी ने किया है। ३४० ऋचाओं का चयन तथा हृदयग्राही शैली और भाषा में उनका

पद्यानुवाद करना कोई आसान काम नहीं है। अनुवाद में विद्यार्थी जी ने विविध छन्दों का प्रयोग किया है। अनुवाद खासा सरस बन पड़ा है। अपने इस संकलन और पद्यात्मक भाषान्तर को रचयिता ने "ऋचाओं की छाया में" यह नाम दिया है। इस सुखद-शीतल छाया के तले बैठ कर मुझे आशा है अनेक सन्तप्त मानव-प्राणियों को सात्विक समाधान और अलौकिक रस-लाभ होगा। इस सुन्दर कृति के लिए कवि रामनिवास का मैं अभिनन्दन करता हूँ।

हरिजन निवास, दिल्ली —वियोगी हरि

११–९–१९५८

अग्निमीळे पुरोहितम्

(स्रग्विणी छन्द) स्तोत्र

अग्निमीळे जगज्ज्योतिरग्निं यजे ।
ऋत्विजं होतृ-यज्ञस्य देवं यजे ।
दीप्तिवन्तं महान्तं सदा राधितम् ।
स्वप्रकाशं स्तवे लोकवन्द्यं वृणे ॥ १ ॥

विश्वविस्तारकं पालकं पूषणम् ।
सर्वसंहारकं रुद्रमुग्रं हुवे ।
सर्वसृजवेधसं विष्णु विश्वम्भरम् ।
त्र्यम्बकं भीषणं स्वस्तयेऽहं भजे ॥ २ ॥

सर्वरत्नाकरं सुप्रभा धातमम् ।
सर्वविद्याकरं भर्ग तेजो जुषम् ।
दाहकं ध्वान्त-प्रत्यूहसर्वापदाम् ।
अव्ययं स्तौम्यहं प्रापणीयेश्वरम् ॥ ३ ॥

काम कुक्रोध मोहाविवेकान्तकम् ।
कल्मषौघापहं रोचिषां भाजनम् ।
अप्रमेयं, द्विषं एनसां रक्षसाम् ।
नौमि संसारपाथोधि निस्तारकम् ॥ ४ ॥

ग्राहकं द्योतकं नायकं पावकम् ।
रम्यरत्नादिकं धारकं स्तौम्यहम् ।
वासना - बीजविध्वंसनं क्लेशहम् ।
सर्वश्रेयस्करं तं हि वन्दे विभुम् ॥ ५ ॥

योग-सम्पादकं क्षेम-सम्पादकम् ।
भद्र-विस्तारकं भद्रसत्साधकम् ।
ज्ञानविज्ञानवन्तं महान्तं स्तवे ।
रम्य - संयोजकं अद्वितीयं हुवे ॥ ६ ॥

ओं खम्ब्रह्म विश्वात्मनं स्तौम्यहम् ।
सच्चिदानन्दमानन्दकन्दं भजे ।

आत्मतत्त्वं परं निष्कलं निर्मलम् ।
पूर्णमद्वैततत्त्वं शरण्यं लभे ॥ ७ ॥

निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं भजे ।
नित्यमेकं निराकारमीशं भजे ।
अच्युतं सर्वमीड्यं समाराधितम् ।
ईश्वरं देवदेवं परेशं भजे ॥ ८ ॥

अक्षरं निर्विकारं परं निश्चलम् ।
स्तौमि सत्यं शिवं सुन्दरं शाश्वतम् ।
स्तौम्यजं सर्वलोकाश्रयं कारणम् ।
आदिदेवं परेषां परं पावनम् ॥ ९ ॥

शङ्करं शर्मदं विश्वनाथं शिवम् ।
शम्भुमाराध्यमीळे महेशं हरम् ।
यो हि माता पिता यो विधाता सखा ।
तं शरण्यं व्रजामि भजे व्यापिनम् ॥ १० ॥

अङ्गिरं वल्लभं प्राणमङ्गं प्रियम् ।
मातरंस्वामिनं सद्गुरूणां गुरुम् ।
विष्णु-नारायणं लोकनाथं हरिम् ।
अन्धकारात्परं सूर्यवर्णं स्तवे ॥ ११ ॥

जीवनाधार, मे त्वं निधानं परम् ।
अन्नरूपोसि त्वामेव हीषे भजे ।
प्राण त्वं मे बलं देव मे जीवितम् ।
ऊर्ज्जरूपोसि त्वामेव ऊर्ज्जे भजे ।
ओमुपासे सधस्थे स्थितं स्वस्तये ॥ १२ ॥

भूर्भुवःस्वः तदेवाग्निः तद् ब्रह्मतम् ।
तत्सदोमित्यनन्तं प्रभुं सन्ततम् ।
कृष्णलालात्मजोऽहं भजे स्वस्तये ।
सर्वभूतान्तरात्मा सदेकं भजे ॥ १३ ॥

ओ३म्

प्रार्थना-गीति-मन्त्राः

१. ओ३म् मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्रसोमिनः। मान्तः स्थुर्नो अरातयः ॥ १ ॥

हे प्रभो! सन्मार्ग से विपरीत हम न कभी चलें,
इस सम्पदामय यज्ञ से प्रभुवर! कहीं न कभी टलें।
विश्व में कोई हमारा शत्रु प्रतिपक्षी न हो,
मद-लोभ-मत्सर-मोह से हारा हमारा मन न हो ॥

२. ओ३म् अनृणा अस्मिन् अनृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम। ये देवयानाः पितृयानाश्च लोकाः सर्वान्पथो अनृणा क्षियेम ॥ २ ॥

हों सदाचारी उऋण हों मातृ-ऋण से सर्वदा,
हों गृहस्थी स्वावलम्बी उऋण पितृऋण से सदा।
दें भगा जग से अविद्या को, चलें ऋषि ऋण चुका,
हो अनृण पथ सब हमारा, देव या पितृयान का ॥

३. ओ३म् त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवे हवे सुहवं शूरमिन्द्रम्। ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः ॥ ३ ॥

सर्वरक्षक! शक्तिमय! शासक सकल ऐश्वर्य के,
इन्द्र! हे शुभ शूर सुन्दर स्तुत्य हो सब विश्व के।
यज्ञ में हम मिल पुकारें देव! करुणा कीजिए,
शक्र! हे सुखकर विभो! कल्याणमय वर दीजिए ॥

४. ओ३म् नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे इन्द्र अभिमातिषाह्ये ॥ ४ ॥

हे शतक्रतु ! सैकड़ों शुभ कर्म करते तुम सदा,
मानियों के मान को तुम नष्ट करते सर्वदा।
इन्द्र हे ! वाणी हमारी नाम तेरा ही कहें,
"ओ३म्" स्तुति तेरी सदा एकाग्र हो करती रहें ॥

५. ओ३म् उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि ॥ ५ ॥

हे अग्नि ! ज्योतिर्मय विभो तुम शक्ति हो इस विश्व की,
सृष्टि यह संकेत तव पाकर प्रगतिमय बन रही।
यह सूर्य शशि गाकर तुझे गुंजा रहे विस्तृत गगन,
प्रभु ! पा सकें हम भी तुम्हें, निशिदिन रहें स्तुति में मगन ॥

६. ओ३म् यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः ॥ ६ ॥

हे प्रिय तुम्हारे प्यार से यह सृष्टि मधुमय बन चली,
कल्याणमय वरदान से है गोद इसकी भर चली।
संसार में दानी तुम्हारे प्रेम का भागी बना,
यह "सत्य" है कल्याण ही उसका सदा सङ्गी बना ॥

७. ओ३म् प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये सत्यशुष्माय तवसे मतिं भरे। अपामिव प्रवणे यस्य दुर्धरं राधो विश्वायु शवसे अपावृतम् ॥ ७ ॥

जिसकी सभी सम्पत्ति सुखमय यह खुली बिखरी यहाँ,
पर निम्नगा के नीर सी, है कौन धर सकता कहाँ ?
हे पूज्यतम ! विभुवर्य ! अधिपति श्रेष्ठ सकलैश्वर्य के,
रक्षार्थ बलशालिन् ! प्रभो ! यह मति समर्पित : तुम्हें ॥

८. ओ३म् पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः। अतप्ततनूर्न तदामोऽश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत ॥ ८ ॥

हे दुःखरक्षक सब कहीं सामर्थ्य तेरा व्याप्त है,
हो देह में तुम रम रहे, पर सुख अभी अप्राप्त है।
यह सत्य है तप के बिना वह मिल सका है कब किसे,
घट-देह को तप से तपाकर पा सके हैं सब उसे ॥

९. ओ३म् बलं देहि तनूषु णो बलमिन्द्रानुडुत्सु नः। बलं तोकाय तनयाय जीवसे त्वं हि बलदाऽसि ॥ ९ ॥

बलशील! सबके देह में शुभ शक्ति का सञ्चार हो,
घर के सभी पशु पक्षिगण बलवीर्य के भण्डार हों।
सब राष्ट्र की सन्तान बल से युक्त हों दीर्घायु हों,
कल्याणकर बल दीजिए कोई निबल अबला न हों ॥

१०. ओ३म् नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयान् विचृता बन्धपाशान्। यमो मह्यं पुनरित्त्वां ददाति तस्मै यमाय नमोऽस्तु मृत्यवे ॥ १० ॥

यह जन्म मरण के बन्धपाश सब दुःखों में कटते जाते,
चिर प्रकाशमय! नमस्कार, हम सत्पथ पर बढ़ते जाते।
हे मृत्यु! तुम्हें भी नमस्कार, नवजीवन दान तुम्हीं करतीं,
तुम परमपिता की मधुर गोद में पहुँचा दुःख सभी हरतीं ॥

११. ओ३म् प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाऽहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च । जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ॥ ११ ॥

इस ज्ञान कवच से ढका हुआ मैं प्रभुवर पाप कभी न करूँ,
प्रजापते हे! भ्रष्ट मार्ग में अपने पाँव कभी न धरूँ।
मैं विवेक की अमर दृष्टि से जीवन भर शुभ कर्म करूँ,
चिरञ्जीव मैं सदा सबल हो जीवों के सब दुःख हरूँ॥

१२. ओ३म् स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् । आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्त्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥ १२ ॥

मां! तुम्हारी कर रहा स्तुति शुद्ध मेरा मन करो,
जननि हे! सन्मार्ग पर हमको सतत प्रेरित करो।
चिरआयु, वर्चस्, प्राण शुभ सन्तान से सब युक्त हों,
सत्कीर्ति, पशु, धन पा सभी आनन्दमय उन्मुक्त हों॥



अनुक्रमणिका

कुल मंत्र ३८२ पृथ्वीसूक्त सहित

ऋचाओं की छाया में

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विळा मनुष्वदिह चेतयन्ती ।
तिस्रोदेवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु ॥

ऋग्वेद १०–११०–८, यजु० २९–३३

आओ हे भारती ! हमारे अनुष्ठान में, तुम अध्वर में ।
ज्ञान, चेतना, भक्ति प्रवर दो भर दो दिव्य ज्योति अन्तर में ॥
आओ हे तुम इळे, पधारो जन-मानस-विष्ठर-सुखकर में ।
सरस्वती भगवती विराजो हृदय-हंस में, मानस-सर में ॥

देवि, भारती, इळे, सरस्वति !
तीनों अमृत प्रवाहित करदो ।
दिव्य शक्तियो ! सम्प्रति ऋग्यजु,
साम-छन्द का वर सत्वर दो ।

(नः यज्ञम्) हमारे यज्ञको (भारती) कान्तिमती (मनुष्वत्) मननशील मनीषीवत् (चेतयन्ती) चेतनायुक्त करनेवाली (इडा) वाणी और (सरस्वती) सरस्वती वेदवाणी (तूयम्) शीघ्र ही प्राप्त हो। (तिस्र) तीनों (सु-अपसः) उत्तम कर्म करनेवाली (देवीः) प्रकाश-ज्ञान-प्रदायिका। (इदं बर्हि) इस आसन पर ऋक्-यजुः-सामरूपिणी (स्योनं) सुखपूर्वक (सदन्तु) विराजे।

(ऋचा १)

पंक्ति छन्द :—

हमारे यज्ञ को मनुष्यवत् चेताती बढ़ा आओ तीनों देवी ।
इड़ा सरस्वती भारती धाराओं से इस स्योन बर्हि में पधारो ॥

भारतीळे सरस्वति यान्वः सर्वा उपब्रुवे । तानश्चोदयत श्रिये ।

ऋ० १–१८८–८

हे भारति, हे इळे, सरस्वति, मैं तुम सबके निकट विनयनत
प्रार्थी हूँ भरणी सुखकरणी तम दारिद्र्य राशि कर अपहृत ।
तुम श्रेयस्कर, पुण्यवती श्री की, समृद्धि के हेतु अहर्निशि
प्रेरित करती रहो निरन्तर कर प्रशस्त मंगलपथ दिशि-दिशि
श्रेय-मार्ग पर चलें सदा हम तव आजीवन सद्‌यश श्री ले
वरदो हे विज्ञानव्रते ! हे कुशले, भद्रे, इळे, सुशीले !

हे (भारति) ! हे (इळे) ! हे (सरस्वति) ! (सर्वाः वः उपब्रुवे) तुम सब के समीप प्रार्थना करता हूँ कि (ताः) वे आप सब (नः) हमारी (श्रिये) श्री-वृद्धि के लिए (चोदयत) हमें सदा सत्प्रेरणा देती रहें ।

(ऋचा २)

गायत्री छन्द :—

भारतीळे सरस्वति ! मैं करता तव, स्तुति ।
दो हमें श्री-प्रेरणा ।

ॐ सहना ववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्विना वधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः । तैत्तिरीयारण्यक, अष्टम प्रपाठक, प्रथमानुवाक

[(ॐ) सर्वरक्षक परमेश्वर, (सह) साथ-साथ (नौ) हम दोनों लेखक तथा पाठक की (अवतु) रक्षा करे । (सह नौ) हम दोनों साथ-साथ भोगें । हम साथ-साथ वीर्यवान् हों । हमारा अध्ययन हमें तेजस्वी बनाये । हम दोनों परस्पर विद्वेष न करें । त्रय तापों का शमन हो ।]

हम दोनों, बटुक तथा गुरुवर,
हम दोनों, पथदर्शक, अनुचर,
हम दोनों अध्यापक-पाठक,
श्रोता, वक्ता, लेखक-वाचक ॥ १ ॥

हम बाल-वृद्ध, हम वृद्ध-तरुण,
हम युगल परस्पर मित्र-वरुण,
हम तनय पिता, दुहिता-माता,
हम दोनों स्वसा तथा भ्राता ॥ २ ॥

हम दोनों पुरुष तथा जाया,
हम दोनों आत्मा औ काया,
हम दोनों ब्रह्म राज्य नायक,
कुलपति सुप्रजापालक शासक ॥ ३ ॥

हम दोनों भौतिक वैज्ञानिक,
एवं सत्साधक आध्यात्मिक,
हम गृही-विरक्त, युगल आश्रम,
हम सेवक सेव्य विहित आगम ॥ ४ ॥

सहरक्षक हों सहयोगी हों, सहभोगी हों हम दोनों ।
हों वीर्यवान् हम साथ साथ, उद्योगी हों हम दोनों ॥
शिक्षा-दीक्षा, स्वाध्याय करें हम दोनों को तेजस्वी ।
हम दोनों करें न द्वेष कभी हम दोनों हों वर्चस्वी ॥
तन-मन, आत्मा के त्रिविध ताप रक्षक प्रभु हरें हमारे ।
हो शान्ति लाभ हो शान्ति लाभ हो ॥ १ ॥

ऋचाओं की छाया में

निरापद ऋचाओं की छाया में आओ तुम्हें वेदमाता अभयदान देगी।
थकन सब मिटेगी नवल स्फूर्त्ति देगी तुम्हें प्रेरणा, शुभदिशा ज्ञान देगी ।।

यहाँ सब दिशाओं से शम् झर रहा है[१]
यहाँ स्वस्तिपथ भद्र आलोकवाला[२]
यहाँ सर्व आशा-दिशा मित्र ही हैं[३]
अभयता, त्रिविधि शान्ति का है उजाला[४]
यहाँ सब दिशाओं में हैं मित्र-दृष्टि[५]
सुखद है यहाँ की परम पांथ-शाला।
बड़ी पावमानी सुरम्यस्थली है
बड़ी है विशद ये बड़ी है विशाला।।

बटोही सुनो तो तुम्हें वेदमाता द्रविण, पशु, प्रजा, आयु, यश, प्राण देगी।[६]
निरापद ऋचाओं की छाया में आओ० ।। १ ।।

दिये उक्त पाथेय की राशि पुष्कल
तुम्हें ध्येय-पथ पर बढ़ाती रहेगी।
तुम्हें ब्रह्म-वर्चस् मिलेगा यहीं से
समुन्नत शिखर पर चढ़ाती रहेगी।

---

१. शंयो रभिस्रवन्तु नः । यजु० ३६।१२
२. स्वस्ति पंथा मनुचरेम० ऋ० ५-५१-५
३. सर्वाशा मम मित्रं भवन्तु । अथर्व० १९-१५-६
४. ॐ शान्तिःशान्तिःशान्तिः । तैत्तिरीय आरण्यक ब्र०वल्ली प्रपा० १०-१-६
५. मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामह । यजु० १८–३६
६. स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्ताम् पावमानी द्विजानाम् । आयुः प्राणं प्रजां पशुं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ।

असत् मृत्युतम से हटा सत्य अमृत
तथा ज्योति का पथ दिखाती रहेगी।[७]
युगल अभ्युदय निःश्रेयस् प्रदाता
य' पुरुषार्थ चारों दिलाती रहेगी।

बढ़ा चल ऋचाओं की छाया में राही ! प्रणीती यही मुक्ति का धाम देगी।
निरापद ऋचाओं की छाया में आओ तुम्हें वेद माता अभयदान देगी ॥२॥

यहाँ भेद कर देश कालावरण को
अमृत-ज्योतिधारा बही जा रही है।
सहज श्रेष्ठ तम-कर्म की चारु शिक्षा
यजुर्भगवती ले चली आ रही है।[८]
यहाँ त्याग की याग की अध्वरों की
सुवातावरण में सुरभि छा रही है।
विमल ज्ञान-विज्ञान-समुपासना की
त्रिवेणी क्रतव-भद्र उमगा रही है।[९]

यही दिव्यगौ[१०] जो सकल इष्टियों को सकल कामना पूर्णकर मान देगी
निरापद ऋचाओं की छाया में आओ तुम्हें वेदमाता अभयदान देगी ॥३॥

अरे विश्व जन तुम कहाँ जा रहे हो
बरसती जहाँ पर अचल द्वेष-ज्वाला।

---

७. असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमयन्ति लाभसुखदारे।

अथर्व० १९-३०-१

८. श्रेष्ठतमाय कर्मणः। यजुः १।१

९. आनो भद्राः क्रतवो यन्तु०। यजु०

१०. न ता न सन्ति न दधाति तस्करो०

बिछे हैं बड़े शूल पथ में तुम्हारे
कहीं डँस न जाये तुम्हें नाग काला।
चुना तुमने पथ जो प्रलय नाशकारी
लुभाता तुम्हें जो बड़ी भ्रान्तिवाला।
न तुमको यहाँ शान्ति-सुख मिल सकेगा
यहाँ तो त्रिविध ताप का है कसाला।
न भटको तिमिर में अरे ज्योति पुत्रो! तुम्हें वेदमाता समाधान देगी।
निरापद ऋचाओं की छाया में आओ तुम्हें वेदमाता अभयदान देगी।।४।।
तपो मत तपन में जलो आग में मत
बढ़ो शान्ति सुख और विश्राम पाओ।
मरुत वेकली सब तुम्हारी हरेगा
"ऋचाओं की छाया में" तुम बैठ जाओ।
यहाँ वात लाती है सब भेषजों को[११]
बहाती दुरित तुम दुरित को बहाओ।
यहाँ गूँजता साम-संगीत स्वर्गिक
पियो सोम-रस पंचजन को पिलाओ।[१२]
मरणसे[१३] तिराकर तुम्हें अमृत पुत्रो! यही सत्य यश श्रीसुधा दान देगी।
निरापद ऋचाओं की छाया में आओ तुम्हें वेदमाता अभयदान देगी।।५।।

---

११. आवात वाहि भेषजं विवात वाहि यद् रपः। ऋ० १०–१३७–३
१२. गायन्ति त्वा गायत्रिणः ०। ऋ० १
तथा प्रत्नान्मानादध्याये समस्वर०,। ऋ० ९–७३
१३. अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। यजु० ४०-१४

अरे पंचशीलों के अनुरक्त, प्रेमी
अरे प्रेम की रागिनी गानेवालो!
नये विश्व-निर्माण के स्वप्नद्रष्टा!
ओ सर्वोदय-योजना लानेवालो!
सकल विश्वनायक, सकल शान्ति-कामी,
मरण की दिशा से जगत् को बचालो।
सृजन, शान्ति के प्रेम के स्रोत अक्षय
अमरदेव के काव्य पर दृष्टि डालो।[1]

अनागस अदिति वेद की दिव्य नौका दुखों से तुम्हें पारकर[2] तार देगी।
निरापद ऋचाओं की छाया में आओ, तुम्हें वेदमाता सुधासार देगी॥६॥



१. पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति०।

२. सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिं। दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये। ऋ० १०—६३—८

अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः
प्रणीतीरम्या वर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह।
अ० ९—१०५—१

ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्। उपत्वाग्ने दिवे दिवे दोषा वस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि। ऋ० १-१,७।

द्रुतविलम्बित छंद

सकल प्रेरक हे सविता पितः
रसवती महती रसना बना।
दुरित देव अशेष हरो हरे!
निखिल भद्र समन्वित कीजिये।

कमल – कोमल – कान्त – पदावली
कर समर्थ गिरा कवि–कल्पना।
सुवरदे वरदे शुभ सार दे,
कर निराश न रामनिवास को।
सदय हो, निज भर्ग वरेण्य दो

विमल बुद्धि करो जड़ता हरो।
प्रभु प्रदान करो वर-प्रेरणा
शिववती कविता सविता बनो

नमन के हम ले उपहार को
प्रणति-बुद्धि क्रियासह धार के
तव समीप निरन्तर अग्नि हे!
विनय-भाव भरे हम आ रहे॥

गायत्री छन्द :—

देव सविता कराओ, दूर विश्व दुरितों को, जो भद्र वो हमें दिला।
उस सविता देव का धारें भर्ग वरेण्य हम प्रेरे बुद्धियाँ वही।
नित्य अग्ने पास तव, सायं प्रातः धी-सहित आते लाते हम नमन्।

(ऋ. ६)

अथेश्वर-स्तुतिप्रार्थनोपासना:

[कस्मै देवाय हविषा विधेम]

ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव॥१॥

ऋ. ५-८२-३।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥२॥

ऋ. १०-१२१ यजु० १२४।

अर्थ—[हे (सवितः देव) जगदुत्पादक प्रेरक परमात्म देव ! आप हमारे (विश्वानि दुरितानि) सम्पूर्ण दुर्गुण, दुष्टव्यसन, दूर कर दीजिये। तथा जो कुछ (भद्रं) भलाइयाँ, श्रेष्ठ गुण-कर्म-स्वभाव हों उन्हें प्रदान कराइये॥१॥]

[जो (हिरण्यगर्भः) स्वप्रकाशस्वरूप तथा सूर्यादि तेजोमय पदार्थों का उत्पादक तथा धारक जो (भूतस्य) उत्पन्न सृष्टि का (जातः पतिः एकः आसीत्) प्रसिद्ध एक ही स्वामी था। जो (अग्रे समवर्त्तत) जो सर्गारम्भ से पूर्व था (सः इमां पृथिवीं उत् द्याम् दाधार) वह इस भूमि और आकाश को सूर्यादि लोक को धारण कर रहा है। हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) शुद्ध परमात्मा के लिए (हविषा) आत्म-हवि से (विधेम) भक्ति विशेष करें॥२॥]

(खयाल)

किस देवहेतु? जो सुखद प्रजापति प्यारा।
हम करें निरन्तर भक्ति आत्म-हवि द्वारा॥

सम्पूर्ण जगत् उत्पादक सविता प्यारे।
तुम दूर करो हे देव दुरित द्रुत सारे॥

हों भद्र भाव भरपूर दूर अघ होवे।
भवदीय कृपा से कलुष कालिमा धोवें॥
जीवन हो सद्गुण सारस्वरूप हमारा।
हम करें आप की भक्ति आत्म-हवि द्वारा॥
जो हिरण्यगर्भ प्रजापति जगपति अनुपम।
जो सृष्टि पूर्व भी विद्यमान था सक्षम॥
जिसमें सुनिहित हैं स्वर्ण-रजत-खनि सारे।
ज्योतिर्मय अतिशय सूर्य चन्द्रमा सारे॥
जिसने भू-नभपर्यन्त सकल जगधारा।
'कस्मै देवाय' आत्म-हवि-दान हमारा॥

समछन्दानुवर्त्ती अनुवाद—

देव सविता कराओ विश्वदुरितों को दूर, जो भद्र वो हमें दिला॥ १॥
हिरण्यगर्भ अग्र में रहा था भूत का पति एक सुप्रकट जो।
वह द्यौ औ पृथिवी को धारता हम अर्चें हविसेकः देव को॥ २॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥३॥

ऋ० १०—१२१—२, यजु० २५—१३

य प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥४॥

ऋ० १०—१२१—३, यजु० २३—३

अर्थ—[जो आत्मज्ञान का दाता, शारीरिक-आत्मिक-सामाजिक बल का दाता है, जिसकी सब विद्वान् उपासना करते हैं, जिसका सत्यस्वरूप प्रत्यक्ष शासन-न्याय सब मानते हैं। जिसका आश्रय मोक्ष-सुखदायक है और

जिसका आज्ञा-पालन न करना मृत्यु आदि दारुण दुःखरूप है। हम लोग उसी सुखस्वरूप देव को आत्मा और अन्तःकरण से भक्ति विशेष करें ॥ ३ ॥]

[जो प्राणवाले और अप्राणि-रूप जगत् का अपनी अनन्त महिमा से एक ही राजा था। जो इस मानव तथा पशु-जगत् की रचना करता है, स्वामी है। हम उस सुखस्वरूप परमात्मदेव की आत्म-हवि से उपासना करते रहें ॥ ४ ॥]

जो आत्मज्ञान का दाता बल का दाता।
जो देव-वृन्द से सतत प्रशंसित त्राता ॥
जिसकी छाया है अमृतोपम सुखकारी।
जिसका वियोग है मृत्यु-रूप दुख भारी ॥

जिसका शासन है न्याय-दयामय सारा।
"कस्मै देवाय" आत्म-हवि दान हमारा ॥

जो परमेश्वर अपनी महिमा के द्वारा।
है प्राणि अप्राणि जगत् का राजा न्यारा ॥
जो सकल सृष्टि का है सर्वोपरि स्वामी।
खग-मृग-मनुजादिक सब जिसके अनुगामी ॥

जिस एकमात्र ने विरचा जगत् पसारा।
"कस्मै देवाय" आत्म-हविदान हमारा ॥

सम-छन्दानुवर्त्ती अनुवाद—

वह आत्मबलदाता उसका प्रशासन विश्वदेव सेवते।
छाया अमृत अछाया मृत्यु हम अर्चें हवि से 'कः' देव को ॥ ३ ॥

जो प्राणि नेत्रधारियों का जगत् का महिमा से एक राजा हुआ।
जो ईश है द्विपद-चतुष्पदों का हम हवि से अर्चें 'कः' देव को ॥ ४ ॥

येन द्यौ रुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥५॥

ऋ० १०-१२१-५, यजु० ३२-६

स नो बंधुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा
यत्र देवाऽअमृत मान शानास्तृतीये धामन्न ध्यैरयन्त ॥६॥

ऋ० १०-१२१-६, यजु० ३२-१०

[अर्थ—जिसने द्युलोक को तेजस्वी किया तथा पृथिवी को दृढ़ किया। जिसने आदित्यमंडल धारण किया। जिसने मोक्ष को धारण किया है। जो अन्तरिक्ष में लोक-लोकान्तरों का विशेष मानयुक्त करने वाला है, उस प्रजापति की हम भक्तिभाव से उपासना करें ॥ ५ ॥]

[वह परमेश्वर हमारा बन्धु है। जनक है। वह विधाता है। सम्पूर्ण लोक-भुवनों का ज्ञाता है। जिस तृतीय जगदीश्वर रूप प्रासव्य आधार में विद्वान् मोक्ष को प्राप्त करते हुए स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं ॥ ६ ॥]

जिससे अवनी है दृढ़ अपनी कक्षा पर,
जिससे नभ-मण्डल का आलोकित अन्तर।
जो अन्तरिक्ष में विविध लोक-लोकान्तर,
करता रहता नियमित निर्मित निशिवासर।

जिसने सुख धारण किया मोक्ष को धारा।
किस देव ? प्रजापतिहित हविदान हमारा ॥

जो जीव प्रकृति से भिन्न तृतीय विलक्षण,
जिसमें करते उन्मुक्त जीवगण विचरण।

भोगते सुधोपम परमतोष लोकोत्तम,
जो सकल भुवनधामों का ज्ञाता निरुपम।

समच्छन्दानुवर्त्ती अनुवाद :—

जिसने वह बन्धु विधाता एवं पिता हमारा।
हम करें उसीकी भक्ति आत्महवि द्वारा॥

जिससे द्यौ उग्रपृथ्वी दृढ़ा है जिससे स्वमोक्ष धारा गया।
जो अन्तरिक्ष में लोक विरचे हम हवि से अर्चें 'कः' देव को॥ ५॥

वो हमारा बन्धु-पिता-विधाता विश्व-भुवन-धामों का ज्ञाता है।
जहाँ तृतीय धाम में अमृत पाये देव स्वतंत्र विचरें॥ ६॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽअस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥७॥

ऋ० १०-१२१-१०, यजु० १०-२०

अग्नेनय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्
युयोध्यस्मज्जुहुराणमे नो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥८॥

ऋ० १-१८९-१, यजु० ४०

[हे सब प्रजा के स्वामी परमात्मा, आपसे भिन्न अन्य कोई उन इन सब उत्पन्न हुए जगत् को बनानेवाला सर्वव्यापक नहीं है। उस आपकी भक्ति करनेवाले हम चेतनादि को तिरस्कार करता है अर्थात् आप सर्वोपरि हैं। जिस-जिस कामनावाले होकर हम लोग भक्ति करें, आपका आश्रय लेवें और कामना करें, हमारी वह कामनाएँ पूर्ण होवें। हम लोग जिससे ऐश्वर्य के स्वामी हो जायें॥ ७॥]

[हे स्व-प्रकाश ज्ञानस्वरूप सब जगत् के प्रकाशक सकल सुखदाता परमेश्वराग्ने ! आप जिससे सम्पूर्ण विद्यायुक्त हैं कृपा करके हम लोगों को विज्ञानादि ऐश्वर्य की प्राप्त्यर्थ अच्छे धर्मयुक्त आप्त जनोचित मार्ग से सम्पूर्ण प्रज्ञान और उत्तम कर्म प्राप्त कराइये। हमसे कुटिलता युक्त पापरूप कर्मों को दूर कीजिये। इस कारण हम आपकी विविध रूपेण नम्रभाव से प्रशंसा सदा करते हैं ॥ ८ ॥]

सम्पूर्ण प्रजा का पालन करने वाले।
तुम बिना कौन जो जग को सृजे-सँभाले।
हो पूर्ण कामनाएँ प्रभु अन्तर्यामी।
हम हों ऐश्वर्यवान प्रभुधन के स्वामी।
इस हेतु आपका हमने लिया सहारा।
हम करें आपकी भक्ति आत्म-हवि द्वारा ॥ ७ ॥

हे सर्व-प्रकाशक ज्योतिर्मय जगदीश्वर।
ले चलो हमें परमार्थ प्रशस्त सुपथ पर।
हे सकल कर्म के ज्ञाता जग-उजियारे।
तुम हरो कुटिल आचरण समस्त हमारे।
तुमको प्रणाम है बारम्बार हमारा।
हम करे आपकी भक्ति आत्म-हवि द्वारा ॥ ८ ॥

इति ईश्वरस्तुति-प्रार्थनोपासना।

(ऋचा १३)

समछन्दानुवर्त्ती अनुवाद :—

प्रजापते न तुझसे अन्य इन-उन विश्वजातों को व्यापे था।
जिस कामना से तुझे हवि दें वह हो हम रयि पति हों ॥ ७ ॥
अग्ने ऐश्वर्य को सुपथ पर ले चलो देव विश्व कर्म जानते।
हमसे कुटिल पापहर करते तब बहु नमः स्तुति ॥ ८ ॥

अथ स्वस्तिवाचनम्

(१) ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं। होतारं रत्न
धातमम् । ऋ० १।१।१

(२) स नः पितेव सूनवेऽग्नेसूपायनो भव। सचस्वानः
स्वस्तये । ऋ० १।१।९

(३) स्वस्ति नो मिमीतामश्विना भगः स्वस्ति देव्यदिति-
रनर्वणः। स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः स्वस्ति द्यावा
पृथिवी सुचेतुना । ऋ० ५।५१।११

अर्थ—मैं यज्ञ के देव, पुरोहित, ऋत्विज, होता और रत्नधारकतम परमेश्वराग्नि की स्तुति करता हूँ॥ १ ॥

हे परमात्माग्ने! तू हमारे लिए इस प्रकार सहज प्राप्य हो जैसे पिता पुत्र के लिए सदा सहज प्राप्त होता है। हमें स्वस्ति के लिए आप पितृवत् सुखप्रद होवो॥ २॥

अश्विनदेव (परमात्मा तथा युगल भौतिक पदार्थ) हमारी स्वस्ति करें। ऐश्वर्यस्वामी भग, देवी अदिति अप्रतिम रूपेण हमारा कल्याण करें। सूर्य तथा मेघ हमारी स्वस्ति करें। सूर्य तथा पृथ्वी लोकसुन्दर प्रकाश तथा चेतना से युक्त हमारा कल्याण करें॥ ३ ॥

अथ स्वस्तिवाचनम् (वीर छन्द)

सर्वप्रकाशक दीप्तिवन्त अग्रणी अग्नि नायक विख्यात।
सकल यज्ञ का होता, सम्पादन, धारण करता अवदात।
ऋत्विज, देव, पुरोहित, रत्नादिक धर्त्ता जो लोकललाम।
उसी देव की स्तुति करता हूँ गाता हूँ उसके गुण-ग्राम॥ १॥

अग्ने, वह, तू पोषक-पालक है संसृति का पिता समान।
हमें पुत्र के ही समान कीजे प्रदान सुख का वरदान।
सहज, सुखद उत्तम-सुख-साधक अग्ने स्रोत ज्ञान-विज्ञान।
हम सब के कल्याण हेतु वह प्राप्त हमें हो तू भगवान॥ २॥

मंगलमय हो अश्विन हम को वैभव अधिपति जगदाधार।
मंगलमय हो अदिति, अखण्डित देवी हमपर रहे उदार।
मंगलमय हो पोषक पूषा मेघ करे कल्याण अपार।
मंगलमय हो द्यावा पृथ्वी लोक चेतनामय संसार॥ ३॥

---

(४) स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः। बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु नः।

(५) विश्वेदेवा नो अद्या स्वस्तये वैश्वानरो वसुरग्निः स्वस्तये। देवा अवन्त्वृभवः स्वस्तय स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः।

ऋ० म० ५।५१।१२,१३,१४

अर्थ—हम स्वस्ति के लिए वायु, सोम के प्रति स्तुस्ति-वचन कहें। जो भुवनों के पति हैं वह हमारी स्वस्ति करें। सर्वगणों के स्वामी बृहस्पति स्वस्तिहेतु हों। आदित्यगण हमें स्वस्तिकारक हों॥ ४॥

आज सब देव हमें स्वस्तिकारी हों। वैश्वानर, वसु, अग्नि स्वस्तिकारी हों। ऋभुगण, देवगण, हमारे लिए रक्षाहेतु हों। पापों से रक्षा करनेवाला, दुष्टों को रुलानेवाला रुद्र स्वस्तिमय होकर हमें पापों से बचाये॥ ५॥

(६) स्वस्ति मित्रावरुणा स्वस्ति पथ्ये रेवति । स्वस्ति न इन्द्र-
श्चाग्निश्च स्वस्ति नो अदिते कृधि ॥

ऋ० म० ५।५१।१२,१३,१४ ॥

(७) स्वस्ति पंथामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव । पुनर्ददताघ्नता
जानता संगमेमहि ।

ऋ० ५ । ५१ । १५ ॥

अर्थ—मित्र-वरुण हमारे लिये स्वस्तिकारी हों । हे जीवन-मार्ग में सुख-कारिणी ! हे रेवति ! तू स्वस्ति कर । इन्द्र, अग्नि कल्याण करें । हे अदिति, तू हमारा स्वस्ति कर ॥ ६ ॥

सूर्य तथा चन्द्रमा के समान हम स्वस्तिमय मार्ग का अनुगमन करें । निरन्तर हमारा दानशील, उदार, अहिंसक, परोपकारी तथा विचारशील ज्ञानी पुरुषों से सम्मिलन होता रहे ॥ ७ ॥

सौम्य सोम के प्रबल वायु के प्रति सुवचन हो मंगल अर्थ ।
जो भुवनों का पति है वह कल्याण हमारा करें समर्थ ॥
सर्व-सहायक-सहित बृहस्पति हो हमको मंगलमय नित्य ।
हो हमको मंगलमय एवं सुखदायक समुचित आदित्य ॥ ४ ॥

विश्व देवगण हों मंगलमय सुन्दर सत्ता से अनुकूल ।
वैश्वानर, वसु अग्नि देवगण आज बने सब मंगलमूल ॥
ऋभुगण, मेधावी-शिल्पी जन, स्वस्ति हेतु हों देव-समाज ।
पापों से रक्षा कर्त्ता हों रुद्र हमें मंगलमय आज ॥ ५ ॥

मंगलमय हों मित्र वरुण, प्रियतम वरेण्य, आत्मीय नितान्त ।
मंगलमय हो श्री-समृद्धि जीवन-पथ में भगवती प्रशान्त ॥
मंगलमय हो हमें इन्द्र ऐश्वर्यवान् औ' अग्नि प्रचण्ड ।
कृपया हम पर सानुकूल हो स्वस्ति कीजिये अदिति अखण्ड ॥ ६ ॥

२

(८) ये देवानां यज्ञियायज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः।
तेनो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥
ऋ० म० ७। ३५। १५ ॥

(९) येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः।
उक्थशुष्मान् वृषभरान्त्स्वप्न सस्तां आदित्या अनुमदा
स्वस्तये ॥ ९ ॥
ऋ० म० १० सू० ६३ म० ३ ॥

अर्थ—जो पूज्य देवताओं में भी पूजनीय, मननशील पुरुषों के साथ संगति करने वाले, सत्य और ऋत के ज्ञाताजन हैं वे आज (उरुगायम्) बहु विशद प्रशंसित कीर्त्तित ज्ञान का उपदेश करें। हे दिव्य जनो ! तुम सब स्वस्तिमय उपायों से सदा हमारी सुरक्षा करो ॥ ८ ॥

जिनकी सहायता से मातृरूप पृथिवी तथा अखण्ड विद्युत् तथा बादलों से युक्त आकाश मधुर अमृत समान जल बरसाते हैं उन बहु बलशाली, सुखवर्षक, कल्याणकारी आदित्य करों (विद्वान् तथा भौतिक सूर्य-किरणों) की हमें स्वस्तिहेतु प्राप्ति कराइये ॥ ९ ॥

स्वस्ति पंथ पर चलें सदा हम तेजस्वी रवि सूर्य समान्।
संगति हेतु अंहिसक ज्ञाता दाता मिलें सदा विद्वान् ॥ ७ ॥
जो यजनीय देवगण में भी यजन योग्य है परम सुजान।
मननशील यज्ञों के त्राता ऋत ज्ञाता अमृत विद्वान् ॥
करें आज वह सर्व प्रशंसित हितकारी प्रवचन, उरु-गान।
हे देवो, तुम करो, स्वस्तिओं से रक्षा जीवन-कल्याण ॥ ८ ॥
जिनके बल से मधुर अमृतसम घन जल बरसाते सोल्लास।
अखण्ड विद्युत् माता पृथिवी तथा मेघ आवृत आकाश ॥
अतिशय बलशाली तेजस्वी सुखवर्षक भवमंगल मूल।
जन अखण्ड आदित्यकरों की हमें प्राप्ति हो शुभ, अनुकूल ॥ ९ ॥

(१०) नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्व
मानशुः । ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो
वर्ष्माणं वसते स्वस्तये । ऋ० १० । ६३ । ४ ॥

(११) सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुर परिह्वृता दधिरे दिवी
क्षयम् । ताँ आ विवास नमसा सु वृक्तिभिर्महो
आदित्याँ अदितिं स्वस्तये ।
ऋ० १० । ६३ । ५ ॥

अर्थ—नृचक्षस् (ज्ञानदर्शन करानेवाले मनुष्यों के नेत्रों के समान तथा सब मनुष्यों के परीक्षक) सजग, सावधान, दिव्य-गुणयुक्त योग-उपासना से अमृतपद को पानेवाले ज्योतिरथी, अप्रतिहत बुद्धियुक्त, निष्पाप होकर मुक्त पुरुष द्यु-लोक में निवास करते हैं वह भी स्वस्ति करें ॥ १० ॥

जो सम्यक् राजनीय, सुन्दर वर्द्धनशील अकुटिल यज्ञादि शुभकार्यों में सहायक हैं वे आदरणीय ख्याति को प्राप्त करके मुक्त हो दिव्य-लोक को धारण करते हैं। उनकी नमस्कार से, सुवचनों से आदित्यवत् तेजस्वी दिव्य अखण्डित जनों का हम स्वस्ति के लिए सेवन करें ॥ ११ ॥

मानव के सम्यक् दर्शक सुपरीक्षक मानवीय विज्ञान ।
धर्म-कर्म रत, अध्यवसायी, सजग, पूज्य, निष्पाप, महान् ॥
अमृततत्त्व के पात्र मुक्त जन ज्योति-रथी सुकृति द्युतिमान् ।
दिव्य धाम सुख के अधिवासी करते रहें सदा कल्याण ॥१०॥
सम्यक् राजनीय उन्नत उन्नति-पथ प्रेरक आदरणीय ।
सतत निरत यज्ञादि सुकृतियों में जो अकुटिल अनुकरणीय ॥
दिव्य तेज ऐश्वर्य समन्वित तेजस्वी आदित्य समान ।
उन्हीं अदिति को आदित्यों को स्वस्ति हेतु है अमित प्रणाम ॥
दिव्य तेज ऐश्वर्य समन्वित जो है सम्यक् शोभावान् ।
स्वस्तिहेतु उत्तम वचनों से हम उनका करते सम्मान् ॥११॥

(१२) को वः स्तोमं राधति यं जुजोषथ विश्वेदेवासो मनुषो यतिष्ठन । को वोऽध्वरं तुवि जाता अरं करद्यो नः पर्षदत्यं हः स्वस्तये ।

ऋ० १० । ६३ । ६ ॥

(१३) येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनः समिद्धाग्नि मनसा सप्त होतृभिः । त आदित्या अभयं शर्म यच्छतः सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये ॥

ऋ० १०-६३-७

अर्थ—हे विश्व-देवो ! आप लोगों के स्तवन करने योग्य स्तोम को कौन उपदेश करता है जिसकी आप प्रेम से सेवा और आराधना करते हैं। हे मनुष्यो ! हे बहुसंख्यक जनो ! आप जितने भी हों आप लोगों के यज्ञ को कौन अलंकृत करता है जो स्वस्ति के लिए हमें दुःखसागर से पार करे—(वह कः अर्थात् प्रजापति परमेश्वर है) ॥ १२ ॥

अग्नि को प्रज्वलित करने वाला मननशील, मन द्वारा, सात होताओं द्वारा जिनसे सर्वप्रथम वेदवाणी का आदरपूर्वक ग्रहण करता है, हे सूर्यवत् तेजस्वी जनो ! आप हमें सुख प्रदान करो। हमारे लिए शुभमार्गों का उपदेश करो। मार्गों को सुगम बनाओ ॥ १३ ॥

विश्व देव जन मननशील तुम जितने भी हो यहाँ सुजान।
कौन ? (प्रजापति) स्तवन योग्य करता तुमको उपदेश प्रदान ॥
जिसका आराधन समुपासन तुम करते हो बुद्धि निधान।
कौन ? प्रजापति तव अध्वर को समलंकृत करता श्रीमान् ॥
हमें बताओ विश्वदेव, विद्वन् गुरुजन जो सुख का सार।
स्वस्ति हेतु हो जो हम सबको करे दुःख-सागर से पार ॥१२॥

(१४) य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च
मन्तवः । तेनः कृतादकृतादेन सस्पर्यद्या देवासः पिपृता
स्वस्तये ॥

ऋ० १०-६३-८ ॥

(१५) भरेष्विन्द्रं सुहवं हवामहेऽहो मुचं सुकृतं दैव्यं जनम् ।
अग्निं मित्रं वरुणसातये भगं द्यावापृथिवी मरुतः
स्वस्तये ॥

ऋ० १०-६३-९ ॥

अर्थ—जो प्रकृष्ट चेतना वाले मननशील, स्थावर जंगम समस्त भुवन वा जीव-जगत् के स्वामी होते हैं वे आप लोग देवो, कृत-अकृत दोनों पापों से स्वस्ति के लिए आज हमें बचाइये ॥१४॥

(भरेषु) यज्ञों, संग्रामों, समाजों में भरणपोषण के कार्यों में, योगक्षेम के लिए सुन्दर नामवाले पापनाशक देवपदस्थानी जनों को अग्नि, मित्र, वरुण, भग, द्यावापृथिवी, मरुत का हम आवाहन करते हैं । अर्थात् भिन्न-भिन्न नामों से हम परमात्म देव को पुकारते हैं ॥१५॥

मन से, सातों होताओं से प्रथमसुपूजित जो आदित्य ।
जिनका करते सदा समादर अग्निहोत्रकर्त्ता जन नित्य ॥
उत्तम कल्याणी वाणी से दे हमको वह सुखद विचार ।
स्वस्ति हेतु सुख शरण हमें दे करे सुपथों का विस्तार ॥१३॥
[सप्त होत्रकर्त्ता मानव जिनका करते आदर सम्मान ।
तेजवन्त आदित्य हमें दे सौख्य अभयता विद्यादान ॥
प्रखर तेज से करें हमारा सम्यक् पथदर्शन वह नित्य ।
धर्म प्रगति का सुपथ सुगम वह करते रहें देव आदित्य] ॥१३॥
विश्व जगत् जंगम भुवनों के ईश प्रचेतस मानव देव ।
स्वस्ति हेतु कृत अकृत पाप से सबकी रक्षा करें सदैव ॥१४॥

(१६) सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥
(१७) विश्वे यजत्रा अधिवोचतोतये त्रायध्वं नो दुरेवाया अभिह्रुतः । सत्यया वो देवहूत्या हुवेम शृण्वतो देवा अवसे स्वस्तये ॥

अर्थ—सुन्दर त्राणकर्तृ विस्तृत सूर्यवत् तेजस्वी, निष्पाप अखण्ड सुनिर्मित सुन्दर सुखप्रद, शोभन शत्रुओं से निरापद, न चूने वाली दिव्य ज्ञानरूपी जीवन-नौका पर हम कल्याण के लिए चढ़ें ॥ १६ ॥

सर्व यजत्रगण ! आप रक्षा के लिए अध्यक्षवत् शासन करो, हमें दुखदायी आपदाओं से, चारों ओर से विनाशशील कुटिल चाल से हमारी रक्षा करो । हे देवो ! हम आपको सुनते हुए सत्य से देवहुति से कल्याणार्थ रक्षार्थ बुलाते हैं ॥ १७ ॥

अघ मोचक हम दिव्य जनों का आवाहन करते हैं आज ।
जिनसे अनघ आस्तिक ज्ञान सुकृत व्रती हो सभा समाज ॥
हम यज्ञों में संग्रामों में प्रजाभरण पोषण के काज ।
योग-क्षेम के लिए सभी का आवाहन करते हैं आज ॥
द्यावापृथिवी अग्नि मित्र का वरुण मरुत का बारम्बार ।
स्वस्ति तथा ऐश्वर्य हेतु हम सब करते आह्वान अपार ॥१५॥
सुन्दर त्राणकरी, विस्तीर्ण, अदोष, अखण्ड, परम द्युतिवान् ।
सुखदायक, सत्पथ अनुगामी, जिसका पूर्ण हुआ निर्माण ॥
अस्रवन्त उत्तम करणों का, पापमुक्त जीवन-जलयान ।
स्वस्ति हेतु हम उसी दिव्य पर हों आरूढ़ सदा भगवान् ॥१६॥
हे यजत्रगण आज हमारी रक्षा हेतु करो आदेश ।
दुखदायी दुर्गति से हमें बचाओ हरो अनिष्ट-अशेष ॥
सत्य देववाणी से हम सब देव कर रहे हैं आहूत ।
स्वस्ति हेतु रक्षार्थ देववाणी सुनियेगा पावन-पूत ॥१७॥

(१८) अपामीवामप विश्वामनाहुतिमपारातिं दुर्विदत्रा-
मघायतः । आरे देवा द्वेषो अस्मद्युयो तनोरुणः शर्म
यच्छता स्वस्तये ॥ ऋ० १०।६३ मंत्र १०, ११ व १२ ॥

(१९) अरिष्टः समर्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि ।
यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानिदुरिता स्वस्तये ॥

(२०) यं देवासोऽवथ बाजसातौ यं शूरसाता मरुतो हिते धने ।
प्रातर्यावाणं रथमिन्द्र सानसिमरिष्यन्तमा रुहेमा स्वस्तये ॥

अर्थ—आपलोग हमसे, रोग, शत्रु को दूर करें । सब प्रकार की अदान-शीलता दूर करो । हम पर अत्याचारों के इच्छुक की दुश्चेष्टा को दूर करो तथा जगत् के कल्याणार्थ हमें बहुत-बहुत सुख प्रदान कीजिये ॥ १८ ॥

हे आदित्यो ! आप जिसको कल्याणार्थ उत्तम नीतियों से समस्त दुखों-दुराचरणों से पार पहुँचा देते हो वह मर्त्य विविध स्थानों में गमनशील, अहिंसित होकर सु-प्रजाओं से धर्माचरण से फलता फूलता है ॥१९॥

हे देवो ! हे मरुतो ! आप युद्धों में जिसकी रक्षा करते हो और वीर पुरुषोचित युद्धों में स्थिर धन के लिए जिसकी रक्षा करते हो । हे इन्द्र ! हम ऐसे प्रातः चलनेवाले, उत्तम सेवनीय रथ पर हम कल्याणार्थ चढ़ें ॥२०॥

हे देवो ! सब रोग कुसंगति अनुदारों को कीजे दूर ।
लोलुप लम्पट अरिजन दूर कीजिये दीजे सुख भरपूर ॥१८॥
हे आदित्यो ! जिस जनको तुम स्वस्ति हेतु करते स्वीकार ।
उन्नति पथ पर सदा फूलता फलता है उनका परिवार ॥
जिसे सुनीतिमार्ग से सकल दुरित से पहुँचाते हो पार ।
वह हो जाता मनुज अहिंसित धर्म प्रजामय विविध प्रकार ॥१९॥
प्रात संचरित दिव्य प्रगति रथ पर हम चढ़ें सभी सुख हेतु ।
जिसका शस्य धान्य रक्षण हित युद्धभूमि में उन्नत केतु ॥
होते हैं आसीन देवगण संचालन करते श्रीमान् ।
उसी सुरथ पर चढ़े मरुतगण करें अन्नधन स्वस्ति प्रदान ॥२०॥

(२१) स्वस्ति न पथ्यासु धन्वसुस्वस्त्यप्सु वृजने स्वर्वति ।
स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतोद्धातन ॥
ऋ० १०–६३ म० १३ से १५ ॥

(२२) स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्ण स्वत्यभि या वाममेति ।
सा नो अमा सो अरणे निपातु स्वावेशा भवतु देव गोपा ॥
ऋ० १०–६३–१६ ॥

(२३) इषे त्वोर्ज्जे त्वा वायवस्थदेवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमायकर्मण आप्याथध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीर

अर्थ—हे मरुतो ! आप सजल निर्जल मार्गों में हमारी स्वस्ति कीजिये। सैन्य जलमय नदी समुद्रादि में हमारी स्वस्ति कीजिये। पुत्रोत्पादक योनियों में हमारी स्वस्ति कीजिये धन प्राप्त करने के लिए स्वस्ति कीजिये ॥२१॥

उत्तम मार्ग में चलनेवाले का कल्याण हो। प्रशंसनीय उत्तमधनैश्वर्य, वीर्यवती पृथ्वी जो सेवनीय को प्राप्त होती है वह हमें हमारे मार्गों को प्रशस्त बनाती हुई सुखद हो। हम उस पर उत्तम-उत्तम आवास बनायें। इसके विजन काननों में भी हम सुरक्षित रहें। यह देवों से सुरक्षित हो ॥२२॥

सविता देव तुम्हारे जो प्राण अन्तःकरण इन्द्रियाँ हैं उन्हें श्रेष्ठतम कर्म के लिए प्रेरे। तुझे अन्न, बल पराक्रम के लिए प्रेरित करे। तुम उससे तृप्त होओ तथा इन्द्र के लिए (आत्मा के लिए) हे अहिंसनीय अवध्या गोवे जो नीरोग

शान्ति, युद्ध जल-स्थल मार्गों में पर्वत-सागर में निर्बाध।
पुत्र-प्रसूता योनिमध्य तुम रक्षा करो मरुद साह्लाद ॥२१॥
यह धरती माता का अंचल शस्य धान्य से हो भरपूर।
शुभ कर्मों में सदा सहायक बने स्वस्ति हित हो अक्रूर ॥
उस पर विलसें भलीभाँति हम भवन बनाकर विविध प्रकार।
देव सुरक्षित धरती माँ के वन उपवन में करें विहार ॥२२॥

नमीवा अयक्ष्मा मा वस्ते न ईशत् माघश छं सो ध्रुवा
अस्मिन् गोपतो स्यात् बह्वीर्यजमानस्य पशून्पाहि ॥

यजु० १।१ ॥

(२४) आनो भद्रा ऋतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास
उद्भिदः। देवानो यथा सदमिद् वृधे असन्न प्रायुवो
रक्षितारो दिवे दिवे ॥

यजु० २५।१४ रेवति ॥

प्रजावती तथा यक्ष्मा रहित हैं उचित भाग प्राप्त कराओ। पापी चोर शासक न हों। आप यजमान के पशुओं की रक्षा करें। इस पृथिवी गौ आदि पदार्थ निश्चल सुखार्थ हों ॥२३॥

अर्थ—हमें कल्याणकारी, अबाधित, अव्याप्त, दुःखनाशक, अदमनीम, अनुच्छेदनीय, श्रेष्ठ यज्ञकर्म, संकल्प प्राप्त हों जिससे देव तथा दिव्य शक्तियाँ हमारे लिए सदा उन्नति के लिए प्रतिदिन सजग रक्षक हों ॥२४॥

सर्ग सृजेता सविता देव अभीष्ट तथा बल प्राप्ति निमित्त।
प्रेरित करे श्रेष्ठतम कर्म हेतु, तुम सबको करे प्रवृत्त॥
अघ्न्याएँ हों, प्रजावती सब व्याधि-यक्ष्मारहित अशेष।
अर्पित करती रहें इन्द्र के लिए उचित संभाग विशेष॥
तुम होवो बलवान अहिंसक वित्तनिमित्त बढ़ाय सुयोग।
होवो उत्तम प्रजायुक्त क्षयरोग-बीज से मुक्त निरोग॥
पापी चोर न शासक हों हो सुस्थिर गोधन का विस्तार।
यजमानोंके पशुओं की रक्षा कर, हों गोपति सुखके आधार ॥२३॥
शुभमंगलकारी अविनाशी उत्तम दुखनाशी सब ओर।
प्रबल हमें हों प्राप्त सहज प्रज्ञा यज्ञादिक क्रतव अथोर॥
अमर देवगण समुपस्थित हों सतत सहायक हों सविशेष।
प्रतिदिन पालन-पोषण रक्षण एवं वृद्धि हेतु अनिमेष ॥२४॥

(२५) देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजुयतां देवानां रातिरभि नो निवर्त्तताम देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयु प्रतिरन्तु जीवसे ।

यजु० २५।१५ ॥

(२६) तमीशानं जगस्तस्थुषस्पतिं धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम् पूषां नो यथा वेद साम सद्वृधे रक्षिता पायुर दब्धः स्वस्तये ।

यजु० २५।१८ ॥

अर्थ—सरल प्रगतिमय देवों की कल्याणी सुन्दरमति हमें प्राप्त हो। देवों का दान हम पर सम्यक् सब ओर से सदा-सदा वर्त्तता रहे। हम सब उक्त देवों की मित्रता-सख्य-सम्बन्ध प्राप्त करें, दिव्य शक्तियाँ जीवनार्थ हमारी आयु का विस्तार करें ॥ २५ ॥

हम जंगम-स्थावर के पालक के बुद्धि-कर्म को संचालन-प्रेरणा देनेवाले, ऐश्वर्यवान् ईश्वर को रक्षार्थ आह्वान करते हैं। वह पोषक जहाँ हमारे धनों की वृद्धि के लिए हो वहाँ वही कल्याण के लिए अहिंसित दुर्धर्ष रक्षक पालक होवे ॥२६॥

सरल स्वभाव युक्त देवों की भद्र सुमति औ विद्यादान।
हमें प्राप्त हों देवों की मैत्री अनुकूल भावना, मान ॥
करें दीर्घ जीवन निमित्त हम पर अनुकम्पा देव उदार।
विबुध वृन्द सब दिव्य शक्तियाँ करें हमारा वय-विस्तार ॥२५॥

स्थावर-जंगम बुद्धिप्रदाता प्रभु का हम करते आह्वान।
स्तुति करते हैं हम रक्षार्थ करे जिससे वह सबका त्राण ॥
पोषक-रक्षक विघ्ननिवारक हमें करे धनधान्य प्रदान।
सुखसमृद्धि कल्याण हेतु हो वह हमको पूषा, ईशान ॥२६॥

(२७) स्वस्तिन इन्द्रो वृद्धश्रवाः। स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्तिन तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः। स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु।
यजु० २५।१९॥

(२८) भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षिभिर्यजत्राः।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवा ँ सस्तनूभि व्यशेमहि देवहितं यदायु।
यजु० २५।२१॥

(२९) अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये। निहोता
सत्सि बर्हिषि। साम० १।१॥

अर्थ—विशाल यशस्वी इन्द्र हमें कल्याणकारी हो। सर्वज्ञ पूषा हमें स्वस्तिकारी हो। अरिष्टनेमि सर्वशक्तिमान् हमारा कल्याण करे। बृहस्पति हमारे लिए स्वस्ति को धारण करे॥ २७॥

हे देवो! हम कानों से भद्रवाणी सुने। हे यज्ञरक्षको! हम आँखों से भद्र दर्शन करें। परमेश्वरभक्ति करते हुए दृढ़ अंगों तथा शरीरों से जो आयु पायें वह पूर्ण आयु देव-हित में भोगे॥ २८॥

हे पारमेश्वराग्ने! तुम प्रकाशनार्थ तथा हव्य प्रदान करने के लिए हमें प्राप्त हो। हे स्तुतियोग्य, तुम होता (दाता-आदाता-आह्वता) मेरे हृदयासन पर विराजो॥ २९॥

मंगलमय हो इन्द्र यशस्वी ज्ञानवान जीवन आधार।
मंगलमय हो पोषक पूषा करे वेद आलोक-प्रसार।
दुखहर्त्ता तार्क्ष्यदेव हमको शुभ होवे भली प्रकार।
वाणी कल्याणी का स्वामी स्वस्ति बृहस्पति धरे उदार॥२७॥
देवो! भद्र सुने कानों से भद्र दृगों से लखें यजत्र।
दृढ अंगों से हम शरीर से प्रभु-चिन्तन करते सर्वत्र॥
जो भी आयु देवहितकारी पायें प्रभु-वरदान समान।
उसको भोगें भलीभाँति हम करते रहें विश्व-कल्याण॥२८॥

(३०) त्वमग्ने यज्ञानां ꣳ होता विश्वेषा ꣳ हितः। देवेभिर्मानुषे जने।

सामः १।२॥

(३१) ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वारूपाणि बिभ्रतः। वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे।

अथर्व का० १ सू० १ म० १ इति स्वस्ति वाचनम्॥

अर्थ—हे अग्ने! तुम समस्त यज्ञों के स्वामी हो। होता हो। तू देवों के साथ मानवों में सुस्थापित है॥ ३०॥

जो इक्कीस, विश्वरूपों को धारण करते हुए चारों ओर विचरते हैं उन सबके बल सत्त्वों को वाणी का पति मेरे लिये धारण कराये॥ ३१॥

अग्निदेव आइये कृपाकर जगत् प्रकाशक दिव्य समर्थ!
स्तुति लायक, मख-मध्य पधारो हव्य प्रदानप्रकाशन अर्थ॥
हे होता, (दाता आह्वाता आदाता) हे तेजनिधान!
याग-यज्ञ-आत्मा-अन्तर के आसन पर आओ भगवान्॥२९॥

अग्ने तुम सब यज्ञकर्म के होता, हो प्रकाश आधार।
देवों के संग मनुजजनों में तुम पूजित हो भली प्रकार॥३०॥

[दश इन्द्रिय गण पंच भूत तन्मात्रा पंच प्रपंच प्रसार।
एक जीव इस भाँति त्रिषप्ता रूपों में संसृति व्यापार]॥
जो इक्कीस, विश्वरूपों में विचरण करते विविध प्रकार।
मेरे तन में धरें आज उन सबका बल वागीशउदार॥३१॥

॥ इति स्वस्ति-वाचनम्॥

(ऋचा ४४)

अथ स्वस्ति-वाचनम्

[सम छन्दानुवर्त्ती अनुवाद]

अग्नि पूजूँ पुरोहित, यज्ञ-देव-ऋत्विज को, होता रत्नधा उत्तम ॥ १ ॥
पितावत् सुत के लिए अग्ने सुप्राप्य हो हमें स्वस्त्यर्थ संयुक्त होवो तू ॥ २ ॥
स्वस्ति हमें अश्विन दें भगवा अनर्वण देवी अदिति स्वस्ति।
स्वस्ति मेघ पोषक धारे हमें स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतु से ॥ ३ ॥
स्वस्ति को वायु प्रति बोले हम, सोम स्वस्ति करे भुवनपति।
सर्वगण बृहस्पति स्वस्ति को, स्वस्ति के लिए आदित्य हों हमें ॥ ४ ॥
विश्वदेव हमें आज स्वस्ति को, वैश्वानर वसुअग्नि स्वस्ति को।
ऋभुदेव स्वस्त्यर्थ रक्षा करें रुद्र पाप से, स्वस्ति हो ॥ ५ ॥

स्वस्ति मित्र वरुण स्वस्ति पथ् में रेवति !।
इन्द्राग्नि स्वस्ति हों हमारा स्वस्ति अदिति करो ॥ ६ ॥

स्वस्ति-पथ में करें अनुगमन सूर्यचन्द्रवत्।
दाता अहंता ज्ञानी का सत्संग सदा करें ॥ ७ ॥

यज्ञिय देवों में यज्ञिय, मनु से यजत्र अमृत ऋतज्ञ जो।
वे हमें आज उरुगान करें स्वस्तियों से बचाओ हमें सदा ॥ ८ ॥
जिन्हें मातामधुमत् पय, पीयूष द्यौ अदिति अद्रि-आसना दे।
उन स्तुत्य बली वर्षक सुजान सआदित्यों को स्वस्त्यर्थ पायें ॥ ९ ॥
नर दृष्टा अनिमेषी उपासना से देव बृहत् अमृतत्व पाते हैं।
ज्योति रथी अप्रतिहत प्रज्ञावान् निष्पाप स्वस्त्यर्थ दिव्धाम ॥१०॥
जो सुदीप्त, सुवृद्ध, अकुटिल यज्ञ पूर्ण पाये दिव् में ऐश्वर्य धारें।
उन महा अदिति आदित्यों को स्वस्त्यर्थ नमन् वचनों द्वारा सेवें ॥११॥
तव स्तोम का कः उपदेष्टा जिसे सप्रेम सेवो विश्वदेवो मानुषो।
बहु जनो ! कः यज्ञ अलंकृत करें स्वस्त्यर्थ हमें पार करे ॥१२॥

दीप्ताग्निसनु मन सप्तहोता से जिनसे प्रथम होत्रा को स्वीकारे।
वो आदित्य हमें अभयसुख दे स्वस्त्यर्थ पथों को सुगम करें ॥१३॥
जो प्रचेता मनीषीगण विश्व के जड़-जंगम के ईश हो रहे हैं।
वे हमें देव कृताकृत पापों से बचाये स्वस्त्यर्थ आज परिपातें ॥१४॥
भरों में सुहव्र इन्द्रपापनाशी दैव्यजन सुकृती को पुकारें।
स्वस्ति क्षेम के लिए अग्नि वरुण मित्र भग द्यावापृथ्वी मरुत को ॥१५॥

सुत्राणकरी पार्थिवी दिव्या निरापदा सुखदा अदिति सुमार्गेगा।
सुअरित्रा अस्रवन्ती दैवी नाव में निष्पाप स्वस्त्यर्थ हम चढ़ें ॥१६॥
विश्व यजत्रो रक्षार्थ अधिशासो कुटिल चाल दुर्गति से बचाओ।
देवो तुम्हें सत्य देवहूति से, सुनो स्वस्ति रक्षार्थ पुकारते ॥१७॥
रोग शत्रु सर्व अनाहुति हटा ओ अघेच्छु अराति दुर्विदत्रा को।
देवो हमसे द्वेषियों को हटा बहुसुख दो स्वस्ति के लिए ॥१८॥
आदित्यो वो मर्त्य अरिष्ट विश्ववर्धित प्रजा से धर्म से प्रकृष्ट।
जिसे स्वस्त्यर्थ सुनीतियों से विश्वदुरितों से परे आप ले जाओ ॥१९॥

मरुत् देवो जिसकी अन्नधन के लिए युद्ध में रक्षा करते।
जो सुसेव्य प्राततीव्रगामी, हम स्वस्त्यर्थ उसी रथ पर चढ़ें ॥२०॥
स्वस्ति निर्जलों जलों पथों में सुअर्वती सैन्य में दो।
पुत्रउत्पादक योनियों में ऐश्वर्यों में मरुतो हमें स्वस्ति दो ॥२१॥
सुमार्ग स्वस्ति दो श्रेष्ठा धनवती भूसेवनीय को मिले।
वो गृहणीवत् हमें वन में सुसद्मा बचाये देवगोपा हो ॥२२॥
इष-ऊर्जार्थ तुझे, वायु हो श्रेष्ठतम कर्म को प्रेरे—
देव सविता, अघ्न्याओ इन्द्र के लिए भाग पहुँचाओ।
प्रजावती निरोगी अयक्ष्मा तुम्हें न अस्तेय न अघी प्रशासे।
बहु इस गोपति में ध्रुवा हों यजमान पशुओं को बचा ॥२३॥
आएँ भद्रक्रतु ही सर्व ओर से हमें अदब्ध अपरीत उद्भेदी।
हों जिससे देवगण सदा ही वृद्धि को हमें, हो सजग रक्षी सदा ॥२४॥

देवों की भद्रा सुमति ऋजुकामी देवों का दान हम अभितः वर्त्तें ।
देवों की सख्यता हम पाते रहें देव जीवनार्थ आयु विस्तारें ॥२५॥
जड़ जंगमपति धी के प्रेरक ईशान को हम रक्षार्थ पुकारते ।
पूषाधन वृद्धि हेतु स्वस्ति हेतु हो हो व'अदब्ध रक्षिता हमारा ॥२६॥
स्वस्ति वृद्धश्रवा इन्द्र स्वस्ति विश्ववेद पूषा करे ।
स्वस्ति तार्क्ष्य अरिष्टनेमि, स्वति बृहस्पति करे हमारी ॥२७॥
देवो कानोंसे भद्र ही सुनें यजत्रो आँखों से भद्र ही देखें ।
दृढ़ अंगों देहों से भक्ति करते जो प्राप्तायु हो देवहित भोगें ॥२८॥
अग्ने प्रकाशनार्थ आ स्तुत्य हव्यदान को । बैठो होता बर्हि पर ॥२९॥
तू अग्ने विश्वयज्ञों का होता सर्वमान्य है । देवो मानुष जनों में ॥३०॥

जो त्रि-सप्त सब ओर जाते विश्वरूप धारे ।
धराये उनके बल, सत्त्व वाचस्पति मुझे ॥३१॥

॥ इति : स्वस्तिवाचनस्य समछन्दानुवर्त्ती अनुवादः ॥



तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति स्वर्यस्य च केवल तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतो दरं । दिवं यश्चके मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ २ ॥

अर्थ—(यो भूतं च भव्यं च)—जो परमात्मा भूत, भविष्य और वर्त्तमान त्रिकाल और (सर्वं यश्चाधितिष्ठति) सर्व जगत् में व्यापक रहता है तथा······ जो सबका अधिष्ठाता है। जो त्रिकालातीत है तथा जो केवल सुखस्वरूप और निर्विकार है—(तस्मै ज्येष्ठाय) उस सबसे श्रेष्ठतम (ब्रह्मणे) ब्रह्म के लिए (नमः) नमन हो ॥ १ ॥

(यस्य भूमिः प्रमा) जिसके यथार्थ ज्ञान का साधन भूमि है। वह पादस्थानी है। (अन्तरिक्षं उत् उदरं) तथा अन्तरिक्ष उदरस्थानी (दिवं यः चक्रे मूर्धानं) ऊर्ध्व द्युलोक मूर्धास्थानी किया है उस श्रेष्ठतम महानतम ब्रह्म को नमन हो ॥ २ ॥

भूत भविष्यत् वर्त्तमान् का स्वामी जो।
विश्व अधिष्ठाता है अन्तर्यामी जो।
केवल परमानंद रूप है नामी जो।
नमस्कार उस ब्रह्म ज्येष्ठ परमेश्वर को।
नमस्कार उस सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर को ॥ १ ॥
अवनी अन्तरिक्ष, दिव लोक रचाये हैं।
चरण, उदर, मूर्धा समान प्रकटाये हैं।
जिसनें अपने ज्ञापक लोक बनाये हैं।
नमस्कार उस ब्रह्म ज्येष्ठ परमेश्वरको।
नमस्कार उस सर्वश्रेष्ठ सर्वेश्वर को ॥ २ ॥

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः। अग्निर्यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥

अथर्व १०–२३–४ म० १,३२,३३

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसो भवन्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानी तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ४ ॥

अर्थ—(यस्य सूर्यः चक्षुः चन्द्रमा च पुनर्णवः) जिसकी सूर्य और चिर-नूतन चन्द्रमा चक्षुस्थानी है और अग्नि जिसकी मुखस्थानी है, उस श्रेष्ठतम महान् ब्रह्म को नमन हो ॥ ३ ॥

(यस्य वातः प्राणापानौ) ब्रह्माण्ड का वायु जिसका प्राण-अपान वायु रूप है। (चक्षुरंगिरसो भवन्) प्रकाशक किरणें जिसके नेत्रवत् हैं, जिसके बिना रूप ग्रहण सम्भव नहीं। और दिशाओं को जिसने सर्वव्यवहारों की सिद्धि करने वाली कर्णेन्द्रिय बनायी है। उस सर्वश्रेष्ठ परमात्म देव को नमन हो ॥ ४ ॥

जिसके दो दृग् सूर्य पुनर्नव चन्द्र बने।
कल्प-कल्प में नूतन रूप धरें अपने।
एवं अग्नि बनायी मुख अपनी जिसने।
नमस्कार उस ब्रह्मज्येष्ठ परमेश्वर को।
नमस्कार उस सर्वश्रेष्ठ सर्वेश्वर को ॥ ३ ॥

जिसकी प्राण-अपान सारी हवा बनी।
आँखें जिसकी ज्योतिर्मय रश्मियाँ बनी।
जिसकी विजय-पताकाएँ सब दिशा बनी।
नमस्कार उस ब्रह्मज्येष्ठ परमेश्वर को।
नमस्कार उस सर्वश्रेष्ठ सर्वेश्वर को ॥ ४ ॥

(ऋचा ४९)

यः श्रमात् तपसो जातो लोकान्सर्वान्मानसे ।
सोमं यश्चक्रे केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ५ ॥

१०–७–३४ व ३६

अर्थ—(यः श्रमात् तपसः) जो श्रम तथा तप से (जातः) प्रसिद्ध है। (लोकान् सर्वान्) सर्व लोकों के (मानसे) मन में (सोमं यः चक्रे केवलं) जिसने सोम को सुखमय किया उस सर्वश्रेष्ठ ज्येष्ठ ब्रह्म को नमन हो ॥ ५ ॥

सर्वलोक-मानस में तप से प्रकट हुआ ।
सोम किया केवल जो श्रम से प्रकट हुआ ।
जो केवल सुख-सार घट-घट प्रकट हुआ ।
नमस्कार उस ब्रह्मज्येष्ठ परमेश्वर को ।
नमस्कार उस सर्वश्रेष्ठ सर्वेश्वर को ॥ ५ ॥

समछन्दानुवर्त्ती अनुवाद :—

(i) जो भूत औ भव्य में सर्व में अधिराजता, स्वर जिसका स्वरूप उस ही ज्येष्ठ ब्रह्म को नमन्,

(ii) जिसकी भू प्रमा अन्तरिक्ष वा उदर दिव् किया मूर्धास्थानी उस ही ज्येष्ठ ब्रह्मको नमन्,

(iii) जिसका सूर्य सदा नया चन्द्रमा चक्षु है, मुख अग्नि है तथा उस ही ज्येष्ठ ब्रह्म को नमन्,

(iv) वात प्राणापान चक्षु ज्योतिरश्मियाँ जिसकी प्रज्ञापक दिशाएँ हैं उस ही ज्येष्ठ ब्रह्म को नमन्,

(v) जो श्रम तप से हुआ सर्व लोकमानस में सोम रूप केवल जो उस ही ज्येष्ठ ब्रह्म को नमन् ॥

अभिविनय (१)

ओम् परमेश, शंकर, महादेव, शिव, अर्यमा, श्रेष्ठतम न्यायकारी,
अज निरंजन पुरातन सनातन प्रभो, सत्य-ऋत-नीति नयधर्मधारी।
विष्णु, लक्ष्मीपते, क्रान्तिदर्शी कवि, ध्वान्तहर, कान्तश्री, ज्योतिधारी,
विश्वनायक, विनायक, प्रकाशक, विमल, सोम, विनय विधि-प्रद सुखारी॥
सिद्धिप्रद, ऋद्धिप्रद, बुद्धिप्रद, वृद्धिप्रद, विश्वशर्मद, सुमतिभद्रदाता,
दिव्य, आदित्य, विद्यार्क कर, मोक्षप्रद, मान्यप्रद, विश्वकर्मा, विधाता।
इन्द्र, वृद्धश्रवा, परमऐश्वर्यप्रद, सर्वआनन्दप्रद, दुःखहर्त्ता,
पतित-पावन परात्पर पुरुष ज्योतिघन प्राणधन शक्तिमन् विश्वभर्त्ता॥
वरुण-करुणाकरास्मत् पितः ज्ञानप्रद, विश्वरक्षक, सुशिक्षक सहारे,
सर्व-सन्ताप, चिन्तापहर्त्ता, निखिल, मित्र, चित्रश्रवस्तम सखारे।
सर्वव्यापक, उरुक्रम, पराक्रमपते! सर्वपुरुषार्थप्रापक नियन्ता!
काम-कुक्रोध, मदमोह-मत्सर तथा लोभ-ईर्ष्यादि मन-शत्रु हन्ता॥
सर्वसुख-धामगुणग्राम, विश्राम-पद नाम सर्वास्पद शान्तिदातः,
ब्रह्म, वृन्दारकावृन्दवन्दित बृहस्पति, सुवागीश, वरदेश, त्राता।
नित्य, निर्द्वन्द्व, निर्गुण, निराकार, नरईश, निर्वैर साधक निरन्तर,
शान्ति-सुख दीजिये, सर्व हर लीजिये क्लेश की राशि दुख बाह्य-अन्तर॥
सूर्य! एकर्षि! यम! पूज्य! पोषक! पते! तेज विकराल अपना हटा लो,
रूप कल्याणतम मैं तुम्हारा लखूँ प्राणधन मुझको अपना बना लो॥

(२)

वरणीय वरुण विशाल वैभववान् इन्द्रेश्वरवरम्,
सविता विधाता सुखप्रदाता अर्यमा करुणाकरम्।
भज ज्योतिवंत जगत्प्रकाशक अग्निदेव पुरोहितम्,
रमणीय होतारं परम यज्ञस्य देवं ऋत्विजम्॥

निर्मल निरीह नरेश निरुपद्रव निरंजननायकम्,
शाश्वत सनातन पतित-पावन परम ब्रह्मविधायकम्।
परिभू स्वयंभू कवि मनीषो आपज्योतिरसोमृतम्,
भगवान् परम महान् अक्षर अज प्रकाशक सद् ऋतम्॥

निर्गुण सगुण व्यापक विभो वर विष्णु श्रीनारायणम्,
अखिलेश शेष महेश रुद्र प्रजेश प्रभु करुणायनम्।
माता पिता प्रिय बन्धु मित्र सखा चिरन्तन गुरुवरम्,
आचार्यवर सुखराशि अविनाशी अलौकिक उरुक्रमम्॥

शत प्रणति रामनिवास गणपति सिद्धिसदन विनायकम्।
अघ-पुंज पातक दुरितहर द्रुत सकल सद्गुणदायकम्॥

ओंकार सर्वाधार भज मन सकल भव भय शंकरम्
शुक्रं अकायं अव्रणं शुद्धं अपापमस्ना विरम्।
विद्या-विलासक विश्वनायक विश्वपति विश्वंभरम्
सच्चिदानन्द स्वरूप परम अनूप दीन-दयाकरम्॥



ऋचाओं की छाया में

प्रथम-विराम

गायत्री-कुञ्ज

(ऋचाएँ)

मंत्र योग ४६ + ३४ + ३ = ८३
पुनरावृत्ति ६ मंत्रों की
कुल मंत्र-संख्या

ओ३म्

भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धि यो यो नः प्रचोदयात् ॥ यजु० ३६, ३, साम० १४६२

अर्थ—(भूः) प्राणरूप सत् का कर्म से (भुवः) अपानरूप चित्त प्रभु, दुःखनाशक का उपासना से (स्वः) व्यानरूप आनन्दस्वरूप प्रभु का ज्ञान (के द्वारा) (तत्) उस (सवितुः) सर्वप्रेरक सर्वोत्पादक सच्चिदानन्द (देवस्य) देव का, सर्वप्रकाशक का (वरेण्यं) वरणीय (भर्गः) तेज का हम (धीमहि) ध्यान करें, धारण करें (यः) जो (नः) हमारी (धियः) धारणावती प्रज्ञाओं, बुद्धियों को (प्रचोदयात्) प्रेरित करे [वेदाश्छन्दांसि सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य कवयोऽन्नमाहुः । कर्माणि धियस्तदु ते ब्रवीमि प्रचोदयात् सविता माभिरेति ॥ गोपथ]

पद्यान्तर

गायत्री छन्द :—

उस सविता देव का, धारें भर्ग वरेण्य हम प्रेरे बुद्धियाँ वह ही ।
अथवा [उस सविता देव का धारे भर्ग वरेण्य जो, प्रेरे हमारी धियों को।]

प्रसाद-छन्द

ओ३म् वह प्राण, प्राण आधार, प्राणधन जग-जीवन का मूल,
दूर करने वाला वह देव, दुःख औ आधि-व्याधि के शूल ।
विश्वव्यापक वह सुखस्वरूप नियामक प्राण-अपान-व्यान,
भूः भुवः स्वः हैं जिसके नाम, सच्चिदानन्द रूप भगवान ॥

ज्ञान-विज्ञान-धारणा-ध्यान, त्रिविध का धारण कर उपहार,
तेज हम उसका धारण करें करे वह सब तम अङ्कुर क्षार ।

जगत् उत्पादक सविता देव परमतेजस्वी जो वरणीय,
तेज हम उसका धारण करें प्रेरणा पाएँ शुभकरणीय ॥
भर्ग, जो निखिल अविद्याजन्य, तमस् स्तर का करता परिहार,
देव, जिसको पाकर आलोक प्रकाशित करते हैं संसार।
भर्ग, जिसमें सबका अस्तित्व प्रकाशन, वर्द्धन, अन्तर्धान,
वरण करने लायक जो तेज उसी का हम करते हैं ध्यान ॥
बुद्धियों को हम सब की वही करे प्रेरित शिवकर पथ ओर।
बुद्धि-विभ्रम हर, दे सद्बुद्धि करे हम सब पर करुणाकोर ॥

चौपदा

वरुण देव सविता का हम भर्ग धारें। करे ध्यान उसका उसी को विचारे।
व' बुद्धि हमारी को शुभ प्रेरणा दे। परम तेज वरणीय प्रज्ञा सुधारे ॥

बरवै छन्द

जग-उत्पादक सविता, प्रेरक देव। वरण योग्य जिसका है भर्ग सदैव।
जो विज्ञान रूप है शुद्ध महान्। हम धारण करते हैं, धरते ध्यान ॥
प्रेरे बुद्धि हमारी ज्ञानस्वरूप, सविता का हम धारें तेज अनूप।
प्रेरित करे सुपथ पर वह वरणीय, करे हमारे निर्मल कृत करणीय ॥

× × ×

[वरण योग्य सविता का तेज विशुद्ध
धारें हम वह धी को करे प्रबुद्ध]

होली (कुरुजनपद का प्रचलित लोकगीत)

(टेक) भगवान् ज्ञान का वर दे।
(लावनी) भूर्भुवस्व: प्राण, अपान, व्यानरूप सुखदाता ओम्।
सत्यस्वरूप स्वयंभू दुखहर्त्ता आनन्दविधाता ओम्।
(त्रिभान) हे सब जग सिरजनहार, जगत् आधार, रचे संसार,
सुप्रेरक सविता।

हे दिव्य गुणों के धाम देव जगजनिता।
तू है प्रभु करुणाकन्द, सच्चिदानन्द, तथा निर्द्वन्द्व
प्राण से प्यारा॥

धारा व्यापक ब्रह्माण्ड आपने सारा।
(तोड़) हे जगप्रेरक, अन्तर्यामी जीवन से जड़ता हर दे॥ १॥
(लावनी) हे जगप्रेरक अन्तर्यामी अनुपम अलखनिरञ्जन हे!
निर्विकार हे निराकार, जीवनाधार, जीवनधन हे!
(त्रिभान) हे जगउत्पादक ओम्, प्रकाशक ओम्, नियामक ओम्,
ओम् अज निर्भय।

हे शुद्ध तेज के धाम, परम ज्योतिर्मय।
सविता वह तेज त्वदीय, परम ग्रहणीय, शुद्ध वरणीय करें
हम धारण।

हम धरते उस का ध्यान जगत् के कारण।
(तोड़) शुद्ध तेज वह बुद्धि हमारी सत्पथ पर प्रेरित कर दे॥ २॥
(लावनी) चरण शरण में हम आये हैं करुणानिधान भगवान्।
तेज आपका करें वरण हम, हरे हमारा तम अज्ञान।
(त्रिभान) तव तेज विशुद्ध महान्, ज्ञानविज्ञान धारणाध्यान वृद्धि का कर्त्ता।
अघ-पाप-ताप-सन्ताप सकल दुखहर्त्ता।
पावन तम तव आलोक, हरे तम शोक ज्योति के लोक
हमे ले जाये॥ ३॥

हम को वह प्रेरित करे सुपथ दिखलाये।
(तोड़) काम-क्रोध-मद-मोह-लोभ के जंजाल जाल सब हर दे।
(लावनी) ज्ञान-कर्म-उपासना का दो वर ईश्वर अन्तर्यामी।
अन्तरतम की गाँठ खोल दो मुझे बना लो अनुगामी।
(त्रिभान) जीवनधन-परम-पवित्र, दिव्य. सन्मित्र करो सच्चरित्र
प्राणधन प्यारे।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव।

यजु० अ० ३०।३

अर्थ—हे (सवितः) विश्वप्रेरक तथा जग-उत्पादक प्रभो ! (देव) दिव्यगुणधारी [तू] (नः) हमारे (विश्वानि दुरितानि) समस्त दुर्गुण, दुर्व्यसन तथा दुःखसमूह को [कृपया] (परासुव) दूर कराइये और जो (भद्रं) कल्याणकारी गुण, कर्म, स्वभाव तथा पदार्थ हैं (तत्) वह सब (नः) हमको (आसुव) प्राप्त कराइये ।

प्रार्थना करो स्वीकार जगत् उजियारे ।
आवरण मलिन विक्षेप, सतत संक्षेप, पूर्ण प्रक्षेप अन्त में कर दो।
करुणानिधान भगवान् प्रेरणा वर दो ।
(तोड़) राम निवास भर्ग अपना वर, भीतर-बाहर भास्वर दे ॥ ४ ॥

(गायत्री मंत्र का काव्यानुवाद अनेक कवियों ने किया है । इनमें कवीन्द्र रवीन्द्र, अरविन्द घोष, डॉ० इकबाल, सुमित्रानंदन पंत, डॉ० सुधीन्द्र, स्वामी आत्मानंद सरस्वती तथा सत्यकाम के अनुवाद पर्याप्त सुन्दर हैं । स्थानाभाव से उद्धरण देना सम्भव नहीं ।

गायत्री छन्द :—

विश्व-दुरित-राशि को, सविता देव दो हटा । जो भद्र वो हमें दिला ।

द्रुतविलम्बित छन्द

सकलप्रेरक हे सविता, पिता,
जगत्-ज्योति विभाचय प्राण हे !
दुरित देव अशेष हरो हरे !
निखिल भद्र समन्वित कीजिये ॥

सकल दुर्गुण दुःख-समूह को
व्यसन दुष्ट, अशेष बुराइयाँ ।
कर कृपा हमसे हर लीजिये
परमप्रेरक दिव्य स्वरूप हे !

उप त्वाऽग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् । नमो भरन्त एमसि । ऋ० म० १ सू० १ म० ७

अर्थ—हे (अग्ने) अज्ञानांधकार विनाशक परमेश्वराग्ने ! (वयं) हम (दिवे दिवे) प्रतिदिन (दोषावस्तः) दिन-रात, प्रतिक्षण (उप त्वा) तेरे समीप, तुम्हारे सम्मुख (नमः) अहंकार अर्पित कर नम्र भाव से (धिया) बुद्धि-कर्म द्वारा; सुविचार तथा सुकृति से (त्वा एमसि) तुम्हें प्राप्त होते हैं । तुम्हारी उपासना करते हैं ।

सुखद कर्म स्वभाव पदार्थ जो,
सुगुण-पुंज समस्त भलाइयाँ ।
कर कृपा हममें भर दीजिये,
वर दो हमको वर दिव्यता ॥

समानान्तर श्लोक—

कल्याणानां त्वमसि महसां भाजनं विश्वमूर्त्ते !
धुर्यां लक्ष्मीमथ मयि भृशं धेहि देव प्रसीद ।
यद्यत्पापं प्रतिजहि जगन्नाथनमस्य तन्मे,
भद्रं भद्रं वितर भगवन् ! भूयसे मंगलाय ॥
—भवभूति ।

गायत्री छन्दः—देव सविता कराओ, दूर विश्व दुरितों को जो भद्र वो हमें दिला ।

गायत्री छन्दः—दिन् दिन् अग्ने पास तव । सायं प्रातः धी सहित । आते लाते हम नमन् ।

द्रुतविलम्बित छन्द

नमन के हम ले उपहार को,
प्रणति बुद्धि, क्रिया सह धारके ।

तव समीप निरन्तर अग्नि हे !
दिवस में रजनी प्रति आ रहे ॥

प्रसाद छन्द

दीप्तिमय सर्वप्रकाशक देव ! अग्रणी अनुपम ज्योति-निधान !
देव अग्ने ! परमात्मन् दिव्य ! ज्योति की ज्योति पूज्य भगवान !
नाथ हम प्रतिदिन सायं-प्रात बुद्धियों कर्मों के अनुसार।
आ रहे चरण में नित्य ला रहें तुम्हें नमन-उपहार ॥

गीत

हम तुम्हारे ही निकटतर देव प्रतिदिन आ रहे हैं।
नमन का उपहार धी अनुसार प्रतिक्षण ला रहे हैं ॥
[स्वार्थ की उठ कर धरा से प्रात-संध्याकाल में नित,
नाथ हम तव शरण आते ले प्रगति नैवेद्य तव हित।
रात-दिन यह चक्रसम अनवरत चलते जा रहे हैं,
हम तुम्हारे ही निकट से निकटतर पर आ रहे हैं ॥]
[नाथ होते जा रहे हैं शुद्धतर अन्तःकरण हम,
उठ रहा है आपके उपनयन से तम-आवरण-भ्रम।
हम निरन्तर नित्य प्रियतम आपको अपना रहे हैं,
हम तुम्हारे ही निकटतर देव आते जा रहे हैं ॥]
यह हमारा प्रणति वन्दन देव अर्चन स्मरण कीर्त्ति,
विकल आत्मिक यह समर्पण, आत्म सम्यक् यह।
अमर जीवन का सुखद वरदान तुमसे पा रहे हैं,
हम तुम्हारे ही निकट तर देव प्रतिदिन आ रहे हैं ॥

समानान्तर—

दिवस से प्रथम रात्रि से पूर्व भक्ति से स्वार्थ-त्याग के साथ।
आ रहे हैं प्रतिदिन लें भेंट तुम्हारी चरण शरण में नाथ ॥

(डॉ॰ मुंशीराम सोम)

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्। ऋ० म० १ सू० १ म० १

अर्थ—स्वस्ति-वाचन में देखिये।

चौपाई छन्द

अग्नि दिव्य वन्द्येश्वर त्रिभुवन।
जातवेद जागृति ज्योतिर्घन॥
सृष्टि-यज्ञ के पूज्य पुरोहित।
यज्ञदेव, यज्ञाग्नि समावृत॥
ब्रह्मा, ऋत्विज, अध्वरनायक।
होता विश्व-यज्ञ के गायक॥
सर्ग-यज्ञ आधार-पात्र वह।
परम रम्य आगार मात्र वह॥
यज्ञप्रणेता यज्ञसहायक।
यज्ञरूप विस्तारक धारक॥
अग्निदेव सब जग-हितसाधक।
ऋतु-अनुकूल सुखद सम्पादक॥
सर्वप्रकाशक सर्व विनायक।
दीप्तिवन्त सब विधि सब लायक॥
पाप-ताप तम-पुंज विनाशक।
सकल ज्ञान-विज्ञान प्रकाशक॥
योग-क्षेम के सर्व प्रदाता।
सर्व पूज्य सर्वज्ञ विधाता॥
करता हूँ मैं संस्तुति सादर।
सदय रहें मुझ पर करुणाकर॥

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत । स देवां एह वक्षति । ऋ० १-१-२

अर्थ—(अग्निः) अग्नि (पूर्वेभि उत नूतनैः ऋषिभिः) पूर्व और नूतन ऋषियों द्वारा (ईड्यः) स्तुत्य है (सः) वह (देवान्) देवों को, दिव्यताओं को (इह) यहाँ (आ वक्षति) वहन कराता है ।

वीर छन्द

सर्वप्रकाशक, दीप्तिवन्त, अग्रणी, अग्निनायक विख्यात ।
सकल यज्ञ का होता सम्पादक धारणकर्त्ता अवदात ॥
ऋत्विज पूर्वस्थित, रत्नादिक का धारक जो लोक-ललाम ।
अग्निदेव की स्तुति करता हूँ गाता हूँ उसके गुण-ग्राम ॥

अनुष्टुप् छन्द

करता हूँ स्तुति अग्नि की पुरोहित, यज्ञ-देव, जो है ऋत्विज होता तथा है जो रम्य रत्नधर ।

गायत्री छन्द

पुरोहिताग्नि मैं भजूँ ऋत्विज यज्ञदेव को होता रत्नधारक को ।

घनाक्षरी छन्द

पूर्वजन्मा, ज्ञानवृद्ध, मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों से,
स्तुतियोग्य नूतन वटुक वर्ग द्वारा रे ।
नूतन-पुरातन सुविज्ञ अज्ञ मानवों का
सब ही का इष्ट देव एकमात्र प्यारा रे ॥

धारण कराता इह लोक में जो दिव्यता को
जिसने कि विद्यादिक दिव्यता को धारा रे ।
वन्दना मनन ज्ञान अन्वेषण स्तुति योग्य
अग्निदेव अग्रणी आचार्य वह हमारा रे ॥

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे। यशसं वीरवत्तमम्।

ऋ० १-१-३

अर्थ—(अग्निना) अग्नि से (दिवे दिवे) प्रतिदिन (पोषं यशसं वीरवत् तमं रयिं) पोषक यशदायक वीर्यवान् श्रेष्ठतम, ऐश्वर्य को (अश्नवत्) ही भोग करें सेवन करें।

प्राचीन धर्मधुरीण अर्वाचीन ऋषिजन सर्व
गाते जिसे हैं प्रेम से सुर-देव-नर-गन्धर्व।
धारण कराता दिव्यता जो देव दिव्याधार
वह ईड्य है समुपास्य सबका अग्निदेव उदार॥

जो हो चुके प्राचीन युग में हो रहे ऋषि आज
होंगे अनागत काल में ऋषि-वृन्द, देव-समाज।
जो उन सभी है सनातन वन्दना के योग्य
अभ्यर्थना के अर्चना समुपासना के योग्य॥

× × ×

हे अग्निदेव! जगत्प्रकाशक! जातवेद! महान्!
दो दिव्यता का दान हमको दिव्यता के प्राण!
जगदीश संस्तुति योग्य हम पर हों सदय भगवान्
आचार्यवत् हो मार्गदर्शक भक्ति का दो दान॥

गायत्री छन्दः—अग्नि पूर्व ऋषियों से ईड्य नूतनों से भी वो धारे
देव यहाँ वही।

गायत्री छन्दः—

अग्नि से पुष्टिदारयि। भोगें भुक्ति ही सतत। यशवीरवत्तम ही।
उपलब्ध करें प्रतिदिन, पावन दिव्याग्नि देव द्वारा ही हम।
पोषक यशवर्धक वीर्यवान् सर्वोत्तम जीवनभोग्य परम॥

भजन

अग्निदेव के समान कोई और नहीं।
दीप्तिवान् ज्ञानवान् कोई और नहीं॥

जो करते हैं प्रतिदिन मानव।
सेवन प्रभु का वर सोमासव॥

वह ही जन भाग्यवान् कोई और नहीं।

परमेश्वर के कृपा पात्रबन।
होते सब विधि सुखी विश्वजन॥

वह ही होते वर्धमान कोई और नहीं।

ईश कृपा से जो धन आता।
वह ही है सुख-पुष्टि प्रदाता॥

वह ही धन वीर्यवान् कोई और नहीं।

भजन करे जो प्रभु का प्राणी।
पाता सम्पति वह कल्याणी॥

विद्या-किर्त्ति-शक्ति ज्ञान कोई और नहीं।

पाता वही स्वास्थ्य संवर्धन।
सत्य न्याय हो धर्मपरायण॥

बल, ओज, आयु प्राण कोई और नहीं।
दाता प्रभु के समान कोई और नहीं॥

हम भी पुष्टि-तुष्टि-यश वाला।
पायें उसका अमर उजाला॥

पायें धन वीर्यवान् कोई और नहीं।
अग्निदेव का महान् कोई और नहीं॥

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि। स इद् देवेषु गच्छति।
ऋ० १-१-४

अर्थ—(अग्ने) ! तू (यं) जिस (अध्वरं यज्ञं) अहिंसक यज्ञ को, नित्य जगत् रूप यज्ञ को, श्रेष्ठतम कर्म को (विश्वतः) सब ओर से (परिभूः असि) घेरते हो वह ही (देवेषु) देवों में, विद्वानों में, श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा (गच्छति) जाता है, स्वीकृत होता है, समादृत होता है।

वीर छन्द

हे अग्ने! ज्योतिर्मय भगवन्! सर्वप्रकाशक विश्वाधार!
तुम जिस अकुटिल सरल अहिंसक यज्ञकर्म को भली प्रकार।
सभी ओर से आप व्याप लेते, कर लेते अंगीकार।
वह ही यज्ञ सफल होता है, करता दिव्य सफल विस्तार॥

राधिका छन्द

है यज्ञ श्रेष्ठतर कर्म परम अध्वर जो,
हिंसा से मुक्त अहिंसक पर हितकर जो।
जिसमें सुहावना प्रेम-भाव है नीका,
वह ही सुकृत है सफल श्रेष्ठ प्राणी का॥ १॥
जिसमें निष्कपट सरलता ऋजुता निर्मल,
जिन श्रेष्ठ सुकर्मों में न वैर हिंसानल।
जिनमें न लेश भी है अनिष्ट का अंकुर,
जिनमें है परहित भाव उच्चतम सुमधुर॥ २॥
हैं उन्हीं कर्म को अपनाते प्रभु प्यारे,
जो कर्म श्रेष्ठतम, ऋजुता प्रेम पसारे।
जिनमें न मोहवश होती कुटिलाई है,
जिनके न मूल में स्वार्थसिद्धि आई है॥ ३॥

× × ×

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः । देवो देवेभिरागमत् ॥ ऋ० १, १, ५

अर्थ—(होता) दाता, आदाता, आह्वाता (कविक्रतुः) दिव्य क्रान्तिदर्शी कर्मों का प्रेरक (सत्यः) सत्यस्वरूप (चित्र श्रवस्तमः) विचित्र अद्भुत कीर्त्तिमान् (देवः) दिव्य (अग्नि) परमेश्वराग्नि (देवेभिः) देवताओं द्वारा, दिव्य शक्तियों के साथ (आगमत्) सहज प्राप्त हो ।

[हे सर्वप्रकाशक ज्योतिर्मय अग्नेश्वर !
तुम करो हमारे यज्ञकर्म को अध्वर ।
हिंसा विद्वेष घृणा ईर्ष्या मदमत्सर,
अपहरण करो निर्मल कर दो अभ्यन्तर ॥ ४ ॥
कर दो निष्कपट सरल जीवन प्रभु प्यारे,
कर दो शुभकर्म अहिंसक सरल हमारे ।
प्रभुवर हमको पर हित कर कर्म सुझाओ,
ज्योतिर्मय जगदीश्वर आलोक दिखाओ ॥ ५ ॥
अर्पित हैं सब शुभकर्म तुम्हें अपनाओ,
देवों के देव यज्ञ मम सफल बनाओ ।
अभिलषित याग वर दिव्य शक्तियों द्वारा,
तुम पूर्णतया अपनाओ अग्नि हमारा ॥
देवों को देवो तुम संभाग यथावत् ।
हे अग्निदेव तुम करो यज्ञ परि आवृत ॥ ६ ॥

गायत्री छन्द :—

जिस अध्वर यज्ञ को । घेरते अग्ने ! सर्वतः । पाता वह ही दिव्यता ॥

रुचिरा छन्द

विश्व-यज्ञ, होता, (दाता, आदाता, आह्वाता) अतिशय ।
है सर्वदृक् कवि संसृति का कर्त्ता स्रष्टा सत्य-अक्षय ॥

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि । तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः ।

ऋ. १-१-६

अर्थ—(अंग) प्रिय ! (अंगिरः) जीवन-सार ! (अग्ने) ! (यत् त्वं) जो तू (दाशुषे) समर्पक के लिए (भद्रं) कल्याण (करिष्यसि) करेगा। (तव इत्) तेरा ही (तत् सत्यं) वह सत्य है, नियम है ।

हे अग्ने ! प्राप्य ! लक्ष्य परमेश्वर ! हे अंग प्राणसखे ! जो जन तुम्हें आत्मदान करता है, प्राणार्पण करता है, तुम उसका भला करते हो। हे अंगिर ! हे प्राणों के प्राण ! तेरा ही वह सत्य विधान है जो तुम्हारा प्रदत्त सुख है वह ही नित्य सत्य है ।

है विचित्र सर्वोत्तम दिव्य अलौकिक यश गुण शक्ति निलय ।
दिव्य गुणों के सहित प्राप्त हो अग्नि हमें वह ज्योतिर्मय ॥

वह है दाता सर्व मनीषी क्रियावान् सर्वज्ञ महान् ।
अद्भुत श्रव सर्वोत्तम वाला कोई उसके नहीं समान ॥
दिव्य जनों की विद्वानों की देव सुसंगति करे प्रदान ।
दिव्य गुणों से ज्योतित कर दे अग्नि सत्य-सुन्दर भगवान् ॥

गायत्री छन्द :—

अग्नि, होता, कवि, क्रतु,
सत्य, चित्र, श्रवस्तम,
मिलें दिव्यताओं संग ॥

वीर छन्द

सर्वप्रकाशक ! अग्नि ! प्राणधन ! प्रियतम जीवन-सार महान् !
जो जन करते आत्मदान तुम उनका करते हो कल्याण ।
पर-हित-चिन्तक उपकारी जन दुर्गति पाते कभी न प्राण !
सदा भला होता सुजनों का देव तुम्हारा अटल-विधान ॥

गीत

सखे ! मम जीवन-सार !
अग्नि हे ! सर्वप्रकाशक देव ! प्राणधन ! प्राणाधार !
आत्मदान करने वालों का।
पर-उपकारी दिव्य जनों का।
मानवता की दीप-शिखा पर।
शलभ रूप हुत आत्माओं का।
सदा करते कल्याण ॥
तुम्हारा है यह अटल विधान।
चिरन्तन शाश्वत देव !
[विपद घन-घटाओं से भय क्या है अतएव
हमारा भी कर दो उद्धार।
खोल प्रियतम मंगलमय द्वार।
यह विपत्ति की क्षणिक घटाएँ,
अचिर क्षणिक नैराश्य निशाएँ,
धृति सम्बल को कृत हृदय में,
भरती भद्रालोक प्रभायें,
भले हो जाते पार।
डूब जाते पापी जन सदा विश्व सागर मँझदार।
लगा दो बेड़ा पार।
विश्व-अर्णव के कर्णाधार ॥]

गायत्री छन्द :—

करोगे आप भद्र ही। यहै तव सत्य अंगिर ! अग्ने ! अंग ! दाता का जो
अंगाग्ने ! दानशील का करोगे आप भद्र जो यहै तव सत्य अंगिर !

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये ॥ ऋ. १-१-९

अर्थ—(अग्ने!) (सः) वह तू (नः) हमारे लिए (सु-उपायनः) सहज प्राप्य (भव) हो (नः) हमें (सचस्व स्वस्तये) स्वस्ति के लिए सामीप्य लाभ हो (सूनवे पिता इव) जैसे पुत्र के लिए पिता सहज प्रापणीय होता है।

गायत्री छन्द :—

हमें पितेव पुत्र को,
अग्ने! सहज प्राप्य हो,
स्वस्त्यर्थ हमें सौख्य हो॥

बरवै छन्द

अग्ने! हम स्व सुतों को पितासमान।
सहज प्राप्य हो शुभ हो सुखद महान्॥

वीर छन्द

अग्नि देव वह जो तू पोषक पालक जग का पितासमान।
हमें पुत्र के ही समान देवो सम्प्रति सुख का वरदान॥
सहज सुगम्य पितः हम तेरी छाया निकट रहें अम्लान।
करो हमें तुम सम्यक् सेवित मंगल हेतु करो सुख-दान॥

गीत

पिता तुम हमारे, परम देव प्यारे, तेरे द्वार मेरी पहुँच हो सदा रे॥
कि सब बाल तेरे सदा पुत्र के सम।
निकट आपके पहुँचने योग्य हों हम॥
करो नित्य पालन करो प्राण-पोषण।
तुम्हारी शरण में सुजीवन समर्पण॥

मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः । मान्तःस्थुर्नो अरातयः ॥
ऋ०-१०-५७-१ अथर्व० १३-१-५९

अर्थ—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् विद्या, ज्ञान प्रकाश प्रदातः! (वयं) हम (सोमिनः) उत्तम शासन वाले होकर (पथः) गमनीय मार्ग (मा प्रगाम) दूर न हो (मा यज्ञात्) न यज्ञ से, यज्ञ रूप प्रभु से दूर हों। (अरातयः) स्वार्थी लोभी तथा कृपणता आदि शत्रुगण (नः अन्तः मा तस्थुः) हमारे अन्दर न ठहरें।

हमें तुम सुसेवित करो प्राण-जीवन।
अभय-दान दीजे करो त्राण-रक्षण॥
मिले नित्य कल्याण के हेतु तेरा।
हमें लाभ-सामीप्य भगवन् चिरन्तन॥
पिता तुम हमारे, परम देव प्यारे कि हम प्राणप्यारे तुम्हारे दुलारे॥
पिता! जिस समय जिस जगह तुमको चाहें।
सदा मिल सको हमको हम दुख सुनायें॥
करो पूर्ण बालों की सब कामनाएँ।
तुम्हें छोड़ किसको व्यथा हम सुनाएँ॥
हमारी सुनो प्रार्थना याचनाएँ।
हमारा तो अधिकार है बस तुम्हीं पर॥
तुम्हें छोड़ किसको व्यथा हम सुनाएँ।
कि हम हैं तुम्हारे कि तुम हो हमारे,
कि तुम तक हमारी पहुँच हो सदा रे॥

महालक्ष्मी छन्द

इन्द्र ऐश्वर्य के हे धनी!
त्याग कर सत्य पथ को कभी—
हम कुटिल पंथ अपनायेना,
आपसे है यही प्रार्थना॥

अग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनाम् ।
सनः पर्षदति द्विषः ॥ १ ॥ ऋ. १०-१८७-१

अर्थ—हे मनुज ! तू (क्षितीनां वृषभाय) भूमि पर वर्षण करने वाले मेघवत् उदार मनुष्यों के मध्य श्रेष्ठ, धर्मरूप (अग्नये) अग्नि के लिए (वाचं प्र ईरय) वाणी प्रेरित कर (सः) वह ही (नः) हमें (द्विषः) काम क्रोधादि आन्तरिक शत्रुओं से (अति पर्षत्) पार करे ।

हम नहीं यज्ञ से दूर हों,
सोम ऐश्वर्य-भरपूर हों ।
शत्रु कार्पण्य ठहरे नहीं,
बाह्य अन्दर हमारे कहीं ॥

पद

सत्पथ त्याग कुपंथ गहें ना ॥
हे परमेश्वर ! हे इन्द्रेश्वर ! हम ऋजुभाव तजें ना ।
याग त्याग मय करें दान हम
सौम्य बनें ऐश्वर्यवान हम
करें 'श्रेष्ठतम कर्म' स्वार्थ की सरिता में उमगें ना ।
शत्रुप्रबल कार्पण्य हमारा
रोक न पाये जीवन-धारा
यह अराति, यह कृपण भाव क्षण भर अन्दर ठहरें ना ।

गायत्री छन्द :—

हम ना मार्ग से हटें । यज्ञ से सौम्य ना हटें । अन्तर्कार्पण्य ना रहें ॥

सार छन्द

अग्नि श्रेष्ठ के लिए मनुज तू कर प्रेरित निजवाणी ।
सुखसंवर्धक वृषभदेव के लिए गिरा कल्याणी ।

यः परस्याः परावतस्तिरो धन्वातिरोचते । स नः पर्षदति द्विषः ॥ २ ॥ ऋ० १०-१८७-२

अर्थ—(यः) जो (परस्याः परावतः) दूर से भी दूर स्थान से (तिरः धन्व) अन्तरिक्षवत् सब पारकर (अतिरोचते) अत्यधिक सुप्रकाशित है (सः नः द्विषः अतिपर्षत्) वह हमारे समस्त बाह्य-अन्तर शत्रुओं से हमें पार करें ।

[वही अभीष्ट कामनाओं की पूर्ति करे प्रभु प्यारा ।]
पार करे वह द्वेषीजन से जीवन-यान हमारा ॥

राजगीत (गज़ल)

बसाना तू रसना में अमृत बसाना ।
नहीं द्वेष मत्सर गरल को बढ़ाना ॥
मनुज तू अभीष्टों के सुख स्रोत वर्षक,
वृषभ देवता को जो चाहे मनाना ॥
जगत् के उजाले परम देवता के-
लिए अपनी वाणी को पावन बनाना ॥
जो सुख-कामना है जो पाना उसे है ।
तो वाणी को शुभ प्रेरणा-पथ दिखाना ॥
अभीष्टों को पूरा करेगा वही तो,
वही है मनुज सब सुखों का खजाना ॥
तू वाणी को उसकी दिशा में लिए जा,
अगर तुझको है शत्रु से पार पाना ॥
मिटाएगा वह ही तेरे कल्मषों को,
उसी ज्योतिघन देव से लौ लगाना ॥

गायत्री छन्द :—

क्षितिवर्षक अग्नि को, करो प्रेरित वाक् वो उभारे शत्रु से हमें ॥

यो रक्षांसि निजूर्वति वृषा शुक्रेण शोचिषा। स नः पर्षदति द्विषः ॥ ३ ॥

ऋ० १०–१८७–३

अर्थ—(यः) जो (वृषा) बलवान् (शुक्रेण शोचिषा) अति शुद्ध कान्ति से उज्ज्वल और दीप्ति द्वारा राक्षसों का, दुर्गुणों का नाश करता है वह हमें भीतरी और बाहरी शत्रुओं से पार करे ॥ ३ ॥

(पिछले मंत्र का तथा इस पृष्ठ के मंत्र का पद्यानुवाद)

रूपमाला छन्द

भूमियों पर सलिलवर्षक मेघतुल्य उदार।
सब प्रजाओं मध्य उत्तम देव अग्नि विचार ॥
कर उसी के हेतु प्रेरित मनुज निज उद्‌गार।
बाह्य-अंतर शत्रु से हमको करे वह पार ॥ १ ॥
१०-१८७-१

दूर से भी दूर हैं जो मध्यवर्त्ती लोक।
पार करके सर्व लोक प्रसारता आलोक ॥
सूर्यतुल्य प्रचण्ड तेजोमय अखण्ड अपार।
बाह्य-अन्तर शत्रु से हमको करे वह पार ॥ २ ॥
१०-१८७-२

जो महाबलवान् अतिशय कान्ति से द्युतिमान।
तेज से निज राक्षसों का जो करे अवसान ॥
दुरित-दुर्गुण-दस्यु नाशी भर्ग का भण्डार।
बाह्य अन्तर शत्रु से हमको करे वह पार ॥ ३ ॥

योो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति। स नः पर्षदति द्विषः ॥ ४ ॥
ऋ० १०–१८७–४

यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निरजायत। स नः पर्षदति द्विषः ॥ ५ ॥
ऋ० १०–१८७–५

अर्थ—(यः) जो (विश्वा भुवना) समस्त लोकों को (अभिविपश्यति) साक्षात् देखता है और (स पश्यति) अच्छी तरह देखता है (सः नः द्विषः अति पर्षत्) वह हमारे बाह्य आभ्यन्तर शत्रुओं से हमें पार करे ॥ ४ ॥

(यः) जो (अस्य रजसः पारे) इस लोक से पार रजोगुण से परे (शुक्रः अग्निः अजायत) कान्तिमय दुर्गुण भस्म करने वाला स्वप्रकाशस्वरूप तेजपुंज है वह हमें बाह्य आभ्यन्तर शत्रुओं से पार करे ॥ ५ ॥

देखता प्रत्यक्ष जो प्रभु विश्वभुवन सदैव।
देखता सम्यक् सकल ब्रह्माण्ड को जो देव।
सर्वदर्शक सूर्यवत् वह तेज पुंजाधार।
बाह्य अन्तर शत्रु से हमको करे वह पार ॥ ४ ॥

जो रजस् से पार, है जो शुक्र ज्योति निधान।
अग्नि जीवन-दान जग का स्वप्रकाश महान्।
भस्मकर्त्ता दुरित दुर्गुण-तिमिर का संसार।
बाह्य अन्तर शत्रु से हमको करे वह पार ॥ ५ ॥

गायन्त्री छन्द :—

नभवत् परे के परे जो अत्यन्त प्रकाशता वो तारे शत्रु से हमें।
जो वृषा शुद्ध कान्ति से राक्षसों को विनाशता वो तारे शत्रु से हमें।
साक्षात् विश्व-भुवनों को सम्यक् विशेष देखता वो तारे शत्रु से हमें।
जो अन्तरिक्ष से परे, रजस् परे शुक्राग्नि है—वो तारे शत्रु से हमें ॥

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥ ८ ॥ ऋ०

अर्थ—(सरस्वती) सर्वज्ञानविज्ञान युक्त वाणी (पावका) पवित्र करनेवाली (वाजेभिः) उत्कृष्ट अन्न ज्ञान कर्मों के साथ (वाजिनीवती) सर्वोत्तम क्रिया विज्ञानयुक्त, शक्ति सम्पन्न होकर (धिया) बुद्धि के साथ (वसुः) निधि स्वरूप वह वाणी (यज्ञं वष्टु) हमारे जीवन-यज्ञ, श्रेष्ठतम कर्मों को धारण करे। अर्थात् पवित्र ज्ञानयोग के साथ कर्मयोगयुक्त होकर वेद-वाणी हमारे जीवन रूपी यज्ञ को अन्न धन विज्ञान, बुद्धि सम्पन्न करती हुई सफल करे।

गायत्री छन्द :—

सुपवित्रा सरस्वती। वाजों से वाजिनीव ती। धारे हमारे यज्ञों को।

वीर छन्द

ज्ञान धनधान्य सुबल सम्पन्न परम पावन सरस्वती शुद्ध।
ज्ञान ऐश्वर्यों द्वारा करे हमारे बुद्धियज्ञ उद्बुद्ध॥
धारणावती बुद्धि के साथ श्रेष्ठतम धर्म कर्म सुस्थान।
प्रकाशित करे हमारे यज्ञ अन्तरात्मा, विद्या-विज्ञान॥

घनाक्षरी छन्द

उत्कृष्ट अन्नधन बलसम्पन्न होके,
ज्ञान कर्म संग होके होवे वाजिनीवती।
श्रेष्ठ बुद्धि संग वर्त्तमान निधिरूपिणी जो,
ध्यान-धारणा से मन-मन्दिर में राजती॥

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः । तेषां पाहि श्रुधी हवम् । ऋ० म० १। सू० २ म० १

अर्थ—(वायवा) हे अनन्तबल प्राणेश्वर वायो ! (दर्शत) दर्शनीय (इमे सोमा अरंकृताः) इन सोमों को भली प्रकार अलंकृत किया है (तेषां पाहि) उनकी रक्षा करो, (श्रुधी हवम्) हमारी स्तुति सुनो ।

हमें वह पावन प्रदान करें अन्नधन,
धारण करे वह श्रेष्ठतम कर्म भारती ॥
ज्ञान कर्म योग संग हृदय को पवित्र कर,
यज्ञ को हमारे धारे पावका सरस्वती ॥

विहारी छन्द

हो 'वाज' श्रेष्ठ अन्न संग वाजिनीवती ।
हमको करे पवित्र पावका सरस्वती ॥
बल-ज्ञान वर विभूतियों सुअन्न सत्त्व से ।
ऐश्वर्यवान् करे हमें भगवती सती ॥
हे वाक्पते ! सत्य मती कीजिये गिरा ।
मंगलमयी प्रदान करो वाक् शिषवती ॥
जो श्रेष्ठ ज्ञान कर्म की विभूति धार ले,
यज्ञों को प्रकाशित करे करे विमल व्रती ॥
वह दीजिए हमें विशुद्ध जल-प्रवाह सम,
उत्कृष्ट प्रवहमान ज्ञानपूर्ण भारती ॥
सम्पूर्ण श्रेष्ठ कर्म को जो प्रेरणा करे ।
वह पुण्यवती दीजिये सुमति प्रभावती ॥
जो गुरु-परम्परा से लगातार बहर ही,
कल्याणकारिणी घनी सदा विराजती ।
हमको करे चरित्र, पावका सरस्वती,
हो ऊर्ज, अन्न, ज्ञानयुक्त वाजिनीवती ॥

वीर छन्द

वायु हे प्राणेश्वर ! हे दर्शनीय द्रष्टा हे जगदाधार ।
सकल सोमों का भली प्रकार आपने सुन्दर किया शृङ्गार ॥
अलंकृत कर सोमों का स्वयं कर रहे रक्षा-पालन आप ।
श्रवण कीजे हे दर्शत ! वायु ! हमारी स्तुति सुन्दर आलाप ॥

(चंचरिक) ब्रह्म-दण्डक छन्द

वायु प्रबल हे परेश ! विश्व के सहारे !
हे अनन्त बल निधान, देव सर्व शक्तिमान ।
वायो प्राणेश प्राण, दर्शनीय प्यारे ॥
रसराशि निखिल सोम, समलंकृत हव्य होम ।
पालक हो देव ओम् सबके रखवारे ॥
तुम से शोभायमान, विश्व सौम्यता महान ।
सर्वश्रेष्ठ वर्त्तमान सुन्दरता धारे ॥
पूज्य पिता के समान, पालक पोषक महान ।
स्वीकारो अल्प दान, सदय हो हमारे ॥
पितः हम अबोध बाल, शरणागत तव कृपाल ।
कीजे हमको निहाल, शरण हम तुम्हारे ॥
तुम्हें त्याग जायें कहाँ, सौख्य लाभ पायें कहाँ ।
वेदना सुनायें कहाँ, आये तव द्वारे ॥
देव करो स्तुति श्रवण, हम सबके दीन वचन ।
यदपि हैं अकिंचन हम, तदपि हैं तुम्हारे ॥
होवो हमपर प्रसन्न, कृपा करो हे शरण्य ।
प्रार्थना वचन वरेण्य, सुनो सब हमारे ॥
वायु प्रबल हे परेश, विश्व के सहारे ॥

गायत्री छन्द :—

हे वायो दर्शनीय ये, सोम अलंकृत इन्हें रक्षा करो हव सुनो ।

त्वं सोमासि सत्पतिस्त्वं राजोत वृत्रहा । त्वं भद्रो असि क्रतुः । ऋ० १।९१।५

अर्थ—हे भगवन् (त्वं) तुम (सोमासि) सोम हो (सत्पतिः त्वं) सत्पुरुषों के पालक हो (राजा उत् वृत्रहा) राजनीय हो और मेघ के रचक, धारक तथा मारक हो (त्वं भद्रोऽसि) तुम भद्रस्वरूप हो (क्रतुः असि) जगत्कर्त्ता हो।

हरिगीतिका

तुम सोम हो सत्पति तुम्हीं राजन् तुम्हीं हो वृत्रहा !
तुम भद्ररूप महान हो औ विश्व के कर्त्ता महा।
तुम सत्वनिष्पादक तथा सत्पुरुष प्रतिपालक प्रभो !
सबके प्रकाशक और शासक सर्वसुखसाधक प्रभो ॥

वसन्ततिलका वृत्त

तू सोम है परम सत्पति तू विधाता,
राजा तथा निखिल भद्र-निधान तू है।
तू प्राप्य है, चरम शोभन, सौम्य प्यारे !
कर्त्ता महान तम अन्तर दस्यु-हन्ता।
[आओ महान् सुषमा-खनि-प्राण आओ।
हे राजनीय हमको मत यों सताओ।
हे भद्रसेन जन के प्रतिपाल कर्त्ता।
हे कर्मशील हमको सुकृती बनाओ।
हे वृत्रहा ! सतत जीवनदस्यु हन्ता—
कीजे प्रकाशमय हे तम को हटाओ।
हों भद्रभाव मय कल्मष दूर कीजे।
लीजे हमें शरण सुन्दर ! शान्त आओ ॥]

गायत्री छन्द :—

तू है सोम सत्पति। तू राजा और वृत्रहा। तू है भद्र औ' क्रतुः।

शं नो देवीरभिष्टये आपो भवन्तु पीतये शंयोरभिस्रवन्तु नः ॥

ऋ० १०-९-४

साम प्र. १,१ द० ३।१४

अर्थ—(नः) हमारे लिए (देवीः) दिव्य गुणों से युक्त (आपः) करुणा-धारायें, जलराशि (अभिष्टये) अभिलषित सुखकार्यों के लिए (शम्) सुखकारी हों (नः पीतये शम्) हमारे पान के लिए सुखदायी हों। (नः) हमारे लिए (शंयः अभिस्रवन्तु) कल्याणकारी होकर ही सब ओर से बहें। सुखों की वर्षा करें।

पद

हमारा सदा करो कल्याण।
दिव्य-शक्ति सम्पन्न करुणा करो महान् ॥
देवी परमेश्वरी आप हे ! हरो सकल सन्ताप ताप हे !
हमें भगवती इष्टपूर्त्तिहित दो मंगल वरदान ॥

हमें अभीष्टानन्द अर्थ तुम,
हर कर सब दुखप्रद अनर्थ तुम,
वृष्टि करो शम् की करुणाघन !
हम सब पर भगवान् !

तुम तृषार्त्त के हित जीवनधर !
तृप्तिपान के लिये निरन्तर,
व्यापक 'आप' करो तुम हमको,
नितसुख शान्ति प्रदान ॥

सभी ओर से अभय बहा दो,
अविरल सुख धारा बरसा दो,
बहे स्रोत आनन्द अखण्डित,
अन्तर-बाह्य समान ॥

पद

हम पर सुख बरसाओ ॥
विश्वप्रकाशक हे जगव्यापक !
अधिक न अब तरसाओ ॥
हे सबके आनन्दविधायक,
ईश्वर हे ऐश्वर्यप्रदायक,
मनवांछित आनन्दसहायक,
करुणा-स्रोत बहाओ ॥
पूर्णानन्द प्राप्ति के द्वारा,
तृप्त करो दो अमृतधारा,
करो करो कल्याण हमारा,
रस में हमें डुबाओ ॥
ऊपर-नीचे दायें-बायें,
अमृत मग्न हों सकल दिशायें,
हे आनन्दकंद करुणाघन !
अविरल सुख बरसाओ ॥

सखी छन्द

परितृप्ति हेतु हो हमको अभिलषित सिद्धि के कारण ।
सब दिव्य शक्ति कल्याणी हमको अतिशय मनभावन ॥
सब ओर हमारे ऊपर वह शान्ति-सुधा बरसायें ।
पीने को इष्ट सिद्धि को जल दिव्य सौख्य सरसायें ॥

गायत्री छन्द :—

हम को देवी आप शं
हो पानार्थ अभीष्ट को,
शं की अभिवर्षा करे ॥

(अ) अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि। साम० १।१।१ ऋ० ६-१६-१०

(आ) त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः। देवेभि मानुषे जने॥ साम० १।१।२

अर्थ—(अ) 'स्वस्ति-वाचन' में देखिये।

(आ) इसे भी स्वस्ति-वाचन में देखिये।

वसन्ततिलका वृत्त

१

(अ) हे अग्निदेव जगनायक अग्रणी हे!
अज्ञान आवरण को हर आइयेगा॥
सम्पूर्ण हव्य सुप्रकाशक अर्थ प्यारे।
अन्तस्थ देव! बन प्रेरक जाइयेगा॥
होता तुम्हीं सकल यज्ञ विराट के हो।
सत्कर्म याग-पथ ऊपर लाइयेगा॥
हो आप उन्नयन उन्नति के विधाता।
उत्कर्ष मार्ग मुझको दिखलाइयेगा॥
आलोक मूल तुम हो स्तुति योग्य स्वामी।
दो ज्ञान दान मुझको अपनाइयेगा॥
दैदीप्यवान सुप्रकाशक ज्योतिवाले।
कीजे कृपा हृदय-आसन पाइयेगा॥ १॥

२

(आ) आराध्य देव पथ-दर्शक आपको ही।
सम्पूर्ण देव जन-मानव मानते हैं॥
होता तुम्हें सकल पावन अध्वरों का।
दाता महान् जग-प्रेरक जानते हैं॥

(इ) अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्। अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्। साम० १-१-३ ऋ० ६-१६-१

अर्थ—(इ) हम (विश्ववेदसं) सर्वधनी, सर्वज्ञ (होतारम्) होता को सर्वप्रद को (अस्य यज्ञस्य) इस सृष्टि यज्ञ के (सुक्रतु) उत्तम कर्त्ता, विधाता, ज्ञाता को (अग्नि) पूर्वोक्त गुण वाले अग्नि को (दूतं) दूत को (वृणीमहे) वरण करते हैं।

हम (अग्निं दूतं होतारं विश्ववेदसम्) अग्नि दूत, होता, सर्वज्ञ, सर्वधनी को (अस्य यज्ञस्य) इस सृष्टि यज्ञ के (सुक्रतु) सुन्दर कर्त्ता विधाता ज्ञाता को (वृणीमहे) वरण करते हैं।

आधार आप, सब ही जग-ज्योतियों के।
हो अग्रणी मनुज, इन्द्रिय, देवतों में॥
सद् ज्ञान कर्म वर की शुभ प्रेरणा दो।
दो आप दिव्य वर प्रेरक मानवों में॥

गायत्री छन्दः—

(अ) अग्ने! आओ प्रकाश को। 'गृणान' हव्य दान को। 'होता' 'बैठो बर्हि पर।

(आ) तू अग्ने! विश्व-यज्ञों का। 'होता' है देवों सहित मनुजों में विराजता।

अरिल्ल छन्द

(इ) जो कि सर्वज्ञानी सर्वेश्वर श्रेष्ठतम!
सर्वप्रद ब्रह्माण्ड यज्ञ होता परम।
उसी दिव्य उत्तम कर्त्ता को यज्ञ में,
वरण करें हम दूत करें आहूत हम॥

तरणिं वो जनानां त्रदं वाजस्य गोमतः। समानमुप्रशं-सितम् ॥
ऋ० ८-४५-२८, साम० ऐन्द्रकाण्ड २।१०।१

अर्थ—हे मनुष्यो (वः) आप सब (जनानां तरणिम्) मनुष्यों को पार उतारने वाले (त्रदं) त्राण देने वाले (गोमतः) इन्द्रियों, पशु-ज्ञानादि से सम्पन्न (वाजस्य) धन अन्न ज्ञान के (समानम् उ) और सबके प्रति समान भाव से देने वाले निष्पक्ष प्रभु की मैं (प्रशंसितम्) प्रशंसा करता हूँ।

वसन्ततिलका छन्द

कर्त्ता महानतम जो इस यज्ञ का है,
ब्रह्माण्ड-पिण्ड युगपत् मख हो रहा है।
वो है वरेण्य हम दूत वरें उसी को,
सर्वज्ञ सर्वप्रद जो जग-देवता है॥
[हो अग्रणी जगतनायक आप ही तो।
संसार में वरण लायक आप ही तो।
सम्पन्न सर्वकर जीवनयज्ञ अग्ने!
हो देव याग सम्पादक आप ही तो॥]

गायत्री छन्द :—

(इ) 'अग्नि' को 'दूत' को वरें। 'होता' को 'विश्व-वेद' को इस यज्ञ के 'सुक्रतु' को।

वसन्ततिलका वृत्त

संसार-अम्बुनिधि-तारक जो जनों का।
सन्ताप-पाश हर बन्धन मुक्तिकर्त्ता॥
त्राता प्रकाशमय रक्षक सौख्यदाता।
मैं मुक्त कण्ठ उसकी करता प्रशंसा॥ १॥
'गो' 'वाज' को वितरता समभावसे जो।
निष्पक्ष सर्व जगव्यापक न्यायकारी॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्। ऋ० १-५०-१, साम० १-३-११

अर्थ—(केतवः) ज्ञान करने कराने वाली किरणें तथा तदनुरूप प्रज्ञाएँ (सूर्यं) सूर्य समान प्रकाशमान, सविता (जातवेदसे) जात मात्र के ज्ञाता (त्यं उ) उस (देवं) परमात्म-देव को ही (उद्वहन्ति) धारण करते हैं कि (विश्वाय) समस्त संसार उसको (दृशे) देख ले। जान जाये।

जो अन्न ज्ञान पशु औ बल का प्रदाता।
मैं मुक्त कण्ठ उसकी करता प्रशंसा ॥ २ ॥
जो वेद, वाक, धरणी, सबका सुस्वामी।
विद्या अशेष पशु, इन्द्रिय, युक्त न्यारा ॥
जो ज्ञान-अन्न-धन जीवन का प्रदाता।
मैं मुक्त कण्ठ उसकी करता प्रशंसा ॥ ३ ॥

गायत्री छन्द :—

मैं जनों के तरणि को,
'त्रद' को, गोमत वाज के
सम कर्त्ता को शंसता ॥

शंकर छन्द

जातवेद उत्पत्तिमान जग का जो देव विधाता है।
सूर्य भुवन-भास्कर जगती का जो प्रकाश का दाता है ॥
निश्चय ही उस ज्योतिर्मय को सबको दिखलाने के हेतु।
दिव्य-शक्तिमय ज्ञान-रश्मियाँ वहन कर रही उन्नत केतु ॥

राजगीत

सकल जगत् को प्रकाश किरणें स्वरूप उसका जता रही हैं।
प्रज्ञान के उत्स की ध्वजा को किए प्रकाशित उठा रही हैं ॥

योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये।

ऋ० १-३०-७, साम० २-५-९

अर्थ—(योगे योगे, प्रत्येक समाधिकाल में (वाजे वाजे) प्रत्येक बल कर्म में, ज्ञान-प्राप्ति में, युद्ध में—जीवन-संग्राम में (तवस्तरम्) अति बलशाली, अति वेगवान् (इन्द्रं) इन्द्रात्मा को (सखायः) सब मित्र के समान प्रेमीजन (हवामहे) बुलाते हैं। (ऊतये) रक्षा के लिए।

मरीचिमाली की रश्मियों से विज्ञान आलोकरश्मिमाला।
उसे सभी को दिखाने को ही उठाये फिरती ही जा रही हैं॥
सभी समुत्पन्न वस्तुओं में प्रकट वही शक्तिपुंज न्यारा।
महान् उस विश्वदृग् की आभा समस्त जगती में छा रही है॥
विज्ञान आलोक रश्मियों से उत्पत्तिमय जग चमक रहा है।
समस्त उत्पन्न जग के कण कण में दिव्यता उसकी छा रही है॥

समानान्तर पद

विज्ञान प्रभा ने जिसकी यह उत्पत्तिमान जग चमकाया।
उस विश्वदृष्टि विज्ञानभानु की छाई है सब पर छाया।
यह दिव्य शक्तियों के समूह ऊँचे विचित्र उठ आये हैं॥

—स्वामी आत्मानन्द सरस्वती

गायत्री छन्द :—

उस ही जातवेद को दिखाती ज्ञानरश्मियाँ देख ले विश्वसूर्य को॥

गायत्री छन्द :—

प्रत्येक योग युद्ध में,
मित्र इन्द्रप्रबल को,
रक्षा-हेतु पुकारते॥

कुन्दलता वृत्त

बल ज्ञान तथा धन अर्जन में, क्षण जीवन के समरांगण में हम।
बन मीत सखा मन प्रीति जगा सब जीत सुयोग तथा क्षण में॥

नमस्ते अग्न ओजसे गृणन्ति देव कृष्टय । अमैरमित्रमर्दय ।

साम० १–२–१

अर्थ—हे अग्ने ! देव ! (कृष्टयः) मनुष्यगण (ते) तुझे (ओजसे) बल के लिए (नमः गृणन्ति) नमस्कार करते हैं तू (अमैः) बलों से (अमित्रं) शत्रु को (अर्दय) पीड़ित कर ।

गुणगान करें रक्षार्थ बली गतिमान महेन्द्र का जीवन में हम ।
कवि रामनिवास पुकार उसे सुविकास करें समुपासन में हम ॥

पद

तुम्हारा हम करते गुण-गान ।
योग-योग में युद्ध-युद्ध में सखा इन्द्र बलवान् ॥
हम विकास के हेतु निरन्तर ॥
हे परमेश्वर इन्द्र तवस्तर, दो तुम हम को नित्य अभयवर ।
लेते हैं तव आश्रय सुख कर आओ कृपानिधान ॥
सकल ज्ञान-बल-प्राप्ति क्षणों में,
सुख-समृद्धि में उत्कर्ष धनों में,
शान्ति-काल में घोर रणों में,
हम रक्षार्थ तुम्हारा करते आवाहन् भगवान् ॥

गायत्री छन्द :—

नमस्ते अग्ने ! ओज को,
करते देव ! भक्त हैं ।
बलों से शत्रु को दबा ॥

मिश्रित छन्द (संकर छंद)

[चपवैया तथा मरहटा छन्द]

अग्ने ज्योतिघन,
दीपित शोभन,
तुमको नमन हमारे ।

अग्न आयूंषि पवस आसुवोर्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनाम्। ऋ० ९-९६-१९

अर्थ—हे अग्ने! तू आयु का रक्षक है। तू हमें (उर्जं इषं) बल और अन्न (आसुव) प्रदान करो (आरे दुच्छुनां) विघातक शत्रुओं को (बाधस्व) दूर रख।

कर देव निवारण,
अप्रिय शत्रुगण
तेज प्रखर से सारे॥

हम कर्मशील जन,
आत्म समर्पण—
करते तव प्रति प्यारे।

परित्राण करो हे!
ताप हरो हे,
जग-जीवन उजियारे॥

बल सम्पादन को,
सुख-साधन को,
करते तुम्हें प्रणाम।

सारे अभ्यन्तर,
शत्रु-निकर हर,
दो सुख हे सुख-धाम॥

गायत्री छन्द :—

अग्ने आयु-रक्षक हे!
हमें दे ऊर्ज अन्न तू,
हर दे शत्रु-व्यूह तू॥

गिर्वणः पाहि नः सुतं मधोर्धाराभिरज्यसे । इन्द्र त्वा-दातमिद्यशः ॥ साम० २-१-२

अर्थ—हे (गिर्वणः) पुण्य गिराओं से अभिनन्दनीय ! तू (नः सुतं पाहि) हमारा सम्पादन किया स्तवन हव्य पान कर । (मधोः) अमृत की (धाराभिः) धाराओं से (अज्यसे) भजन ज्ञान किया जाता है । हे आत्मन् (त्वा दातम् इदं) यह तुम्हारी ही द्योतित (यशः) यश है ।

मालिनी वृत्त

कलुष-तिमिर-हर्त्ता ! अग्नि हे तेजवाले !
जन वय रखवाले ! दिव्य न्यारे उजाले !
तुम हम सबको दीर्घायु औ' अन्न दीजे ।
हर खल-व्यसनों को ऊर्ज्ज सम्पन्न कीजे ॥
मम निकट आने पाँय अग्ने कहीं से
निरसन कर दे तू कालिमा दूर ही से ।
दुरित व्यसन वाले बाह्य-अन्तस्थ सारे—
हर रिपुगण न्यारे, आयुभक्षी हमारे ॥

गायत्री छन्द :—

इन्द्र तू गिर्वण ! सोम पी मधुधारों से, आहूत, ये यश तेरा ॥

गीतिका छन्द (राजगीत)

वाणियों से स्तुत ! सु-कीर्त्तन योग्य हे परमात्मन् !
कर रही माधुर्य धारायें तुम्हारा सुस्तवन ।
बन गई हैं वाणियाँ ज्योतिर्मयी मधु-स्नात सब ।
हो गया तव प्रति हमारा दिव्य सम्बोधन यजन ।
कीजिये स्वीकार सम्पादित हमारा हव्य तुम ।
पान कीजे सोमरस का दिव्य अविरल प्राणधन !

न कि इन्द्र त्वदुत्तरं न ज्यायो अस्ति वृत्रहन्। न क्वेवं यथा त्वम् ॥

अर्थ—हे (इन्द्र) परमेश्वर! (त्वत् उत्तरं) तुझसे श्रेष्ठ (न कि) कोई भी नहीं है। हे (वृत्रहन्) आवरणकारी तम-तोमहन्ता (न ज्यायो अस्ति) कोई अन्य तुझसे अधिक बड़ा, प्रशंसनीय ही है। (यथा त्वं न कि एवं) जैसा तू है ऐसा और नहीं। तू अनुपम है।

कीजिए मज्जन परम आनन्द-अमृत प्रवाह में।
यह सकल सामर्थ्य केवल है तुम्हारा वृत्रहन्!
वाणियों से स्तुत! सुकीर्त्तन योग्य हे परमात्मन्!
कर हमारे हव्य का मधुपान, कर कृतकृत्य जन ॥

गायत्री छन्द :—

न इन्द्र तुझसे बड़ा। न श्रेष्ठ ही वृत्रहन्! न है तुझसा ही कोई ॥

वसन्ततिलका छन्द

कोई न आपसम ईश्वर श्रेष्ठ ही है।
कोई न श्रेष्ठतर उत्तर ज्येष्ठ ही है॥
हे इन्द्र वृत्रहन् हो सबसे निराले।
हो अद्वितीय तुझसा जग में न कोई ॥ १ ॥

हे वृत्रहन् तिमिर-तोमविनाशकारी!
न्यारे महानतम हे परमेश प्यारे!
ऐश्वर्यवान् तुमसे तुम ही महा हो।
हो अद्वितीय तुमसा जग में न कोई ॥ २ ॥

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। ऋ० १-२-७-२०

अर्थः—(तद् विष्णोः) उस, विष्णु सर्वव्यापकेश्वर के (परमं पदं) श्रेष्ठतम पद को (सूरयः) धर्मात्माजन (सदा पश्यन्ति) सदा ही देखते हैं (दिवीव) सूर्यवत् (चक्षुः आततम्) नेत्र की व्याप्तिवत्।

भजन

कोई श्रेष्ठ है न अन्य, कोई ज्येष्ठ है न अन्य, प्रभो आपके समान कोई और नहीं॥
है न उत्तर ही और, है महत्तर ही और, विभो आपके समान कोई और नहीं॥
विघ्नविनाशक तुम सुखकारी, सकल आवरण कल्मषहारी॥
गुण-कर्म और स्वभाव, तू है मुक्त अप्रभाव, अद्वितीय तू महान से महान है॥
कोई है नहीं समान जैसा तू विराजमान, निरुपम अद्वितीय भगवान है॥
फिर कहें क्या हे देव यहीं कहें अतएव देव, आपके समान कोई और नहीं॥
कैसे करें प्रशंसा तेरी, हरो हरो हे विपदा मेरी॥
जाऊँ किसके मैं द्वार, करूँ किसकी गुहार, सर्वाधार आप लीजिए उबार मुझे॥
मैं तो गया अब हार मेरी नैया मझधार, कीजे पार प्राणनाथ दीजे तार मुझे॥
सब जानते शरण्य, दीजे शरण अनन्य, धन्य आपके समान कोई और नहीं॥

गायत्री छन्द :—

विष्णु को परम पद। सदा देखते विबुध।
चक्षुर्व्याप्ति द्युलोकवत्।

चान्द्रायण छन्द

[जहाँ न तम का लेश क्लेश-दुख-द्वन्द्व हैं।
जहाँ न ईर्ष्या द्वेषांकुर अरि-वृन्द हैं॥
जहाँ न दुःख-व्याधियों का लवलेश है।
जहाँ नहीं अणुमात्र त्रिताप प्रवेश है॥

जहाँ पूर्ण आनन्द प्राप्त करते सदा।
पा जाते अमरत्व मरण तजते सदा॥
परम वेद्य सर्वोत्कृष्ट जो सौख्यप्रद।]
विश्वविश्व व्यापक का जो है परम पद॥

सदा निरखते रहते उसको (हो मगन)
योगी, धार्मिक, देव, मनीषी मुक्त जन।
दिव्यचक्षु से उसको लखते सर्वदा।
पा जाते हैं मुक्त परम-पदसम्पदा॥

[ज्यों व्यापक आकाशमध्य दिवलोक है।
दिव्यचक्षुवत् विस्तृत सूर्यालोक है॥
सूर्यप्रभा ज्यों व्यापक स्वतःप्रमाण है।
त्यों ही व्यापक विष्णुदेव भगवान है॥
पर उसका साक्षात्कार कर मुक्त जन।
विष्णु परमपदरूप प्राप्त करते रतन॥]

चौपदा

सूर्य आकाश में ज्यों लखते सभी के लोचन।
इस तरह देखते हैं उसको सदा ज्ञानी जन॥
देखने वाले सदा करते है उसका दर्शन-
जैसे लघु आँख के तारे में सकल गगनांगण॥

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा ।
ऋ० १–२–७–१९

पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम् । इन्द्रं सोमे सचा सुते ।
ऋ० १–५–२

अर्थ—(विष्णोः) व्यापक विष्णु के (कर्माणि पश्यत) कर्मों को देखो (यतो व्रतानि पस्पशे) जिससे व्रतों को करने में समर्थ हैं । (इन्द्रस्य) जीव का (युज्यः सखा) योग्य मित्र है ।

अर्थ—(पुरूणां) प्रजाओं, इन्द्रियों, पुरों में (पुरूतमम्) श्रेष्ठतम (वार्याणाम्) वरणीय ज्ञानों धनों के (ईशानम्) स्वामी (इन्द्रं) इन्द्र की

गायत्री छन्दः—

विष्णु के कर्मों को देखो,
जिससे व्रतसिद्ध हैं ।
जीव का योग्य मित्र वो ॥

समान सवैया

व्यापक ईश्वर विष्णुदेव का
कर्मकलाप विलोको सारा ।
करते जीव इंद्रियों वाले
व्रतसाधन उस ही के द्वारा ॥
वह ही मात्र सखा जीवों का
सम्यक् देता सदा सहारा ।
वह ही तो अन्तर्यामी है
प्राणोपम प्राणों से प्यारा ।
स्थिति उत्पत्ति प्रलय जगती के वह ही कर्मों का कारण है ।
उसकी ही क्षमता से प्राणी करता शरीर को धारण है ॥
होकर तनधारी तब प्राणी करता व्रतसाधन पालन है ।
वह सर्वत्र बन्धु-जीवों का प्रियतम सखा स्नेहभाजन है ॥

आ त्वेतानिषीदतेन्द्रमभि प्रगायत। सखायः स्तोम वाहसः। ऋ० १-५-१

(सुते सोमे) सम्पन्न प्रसूत ज्ञानरस ऐश्वर्य में मग्न सब (सचा) सयुक्त होकर (अभि प्रगायत) समवेत प्रकृष्ट स्तुति-गान करो।

हे (सखायः) मित्रो (आ एत तु) आओ तथा (आनिषीदत) आओ बैठ जाओ, हे (स्तोम वाहसः) स्तुतियों को वहन करने वाले, धारण करने वाले विद्वानों (इन्द्रं अभि प्रगायत) इन्द्र की उत्तम प्रकार से प्रकृष्ट स्तुति-गान करो।

गायत्री छन्दः—

वरणीय श्रेष्ठतम पुरुईश इन्द्र को सम्पन्न सोमयुक्त हो।
आओ बैठो सामने, गाओ इन्द्राभिवादना सखाओ सोमवाह को॥

स्तोमवाहक हे सखाओ! तुम विराजो मित्र आओ।
मुक्त कण्ठ विशेष बन्धो! इन्द्र के गुण-गान गाओ॥
जो नाना वरेण्य पुरुओं ऐश्वर्यों का है ईश महान्।
इन्द्र श्रेष्ठतम के इस भूपर ऊपर करो साथ गुण-गान॥

भजन

गाओ मुक्त कण्ठ गुणगान परमेश्वर का बंधु-सखाओ।
स्तुति-मन्त्रों के वाहक मीत, आओ बैठो गाओ गीत,
कर अन्तरमन परम पुनीत परमानंद-स्रोत में न्हाओ॥
पृथिवी से द्यावापर्यन्त, जो वरणीय पदार्थ अनंत,
इन सबके स्वामी श्रीमन्त, उर-मन्दिर में उसे बिठाओ॥
जो पुरुतम सर्वोत्तम ओम्, जिससे समुत्पन्न है सोम,
उस ही प्रभु के प्रति गा भौम निज रसना को सफल बनाओ॥
बहुविधि जगदुत्पादक देव, बहुविधि दुष्टविनाशक देव!
परमानंदप्रदायक देव! हम पर कृपा करो अपनाओ॥

इन्द्रा नु पूषणा वयं सख्याय स्वस्तये। हुवेम वाजसातये।

ऋ० ६-५७-१

अर्थ—(इन्द्रा पूषणा नु) ऐश्वर्य युक्त और सब निर्बलों के पोषक दोनों पुरुषों को हम बुलायें (सख्याय) सख्य के लिए (स्वस्तये) कल्याण के लिए (वाजसातये) बलैश्वर्य अन्नादि प्राप्ति के लिए (वयं हुवेम) हम प्राप्त करें।

गायत्री छन्द :—

हम पूषा इन्द्र हित,
सख्य को, वाजप्राप्ति को,
बुलाये स्वस्ति के लिए॥

सुमेरु छन्द

(सोनेट) चतुर्दशपदी

जगत् पोषक प्रभो पूषा तुम्हीं हो।
तुम्हीं बलवान् इन्द्रेश्वर धनी हो॥
तुम्हीं हो शक्तिमन् ऐश्वर्यशाली।
तुम्हारी दीप्ति का कण अंशुमाली॥
तुम्हारी सख्यता के हेतु प्यारे।
तथा निज स्वस्तिहित जीवन सहारे॥
प्रचुर अन्नादि धन विज्ञान-बल को।
खिलाने के लिए जीवन-कमल को॥
तुम्हारी प्रार्थनाएँ हम करे जन!
तुम्हीं से याचनाएँ हम करें जन॥
हमें निजसख्यता भगवान् दे दो।
हमें कल्याण वैभवदान दे दो॥
हमें कर दीजिये सम्पत्तिशाली।
हमें दो स्वस्ति सुख प्रज्ञा निराली॥

ऋचाओं की छाया में

द्वितीय-विराम

अनुष्टुप्-विटपवृन्द

(६९ ऋचाएँ)

निर्देश

इस भाग के मंत्रों का क्रम पृष्ठ १३२ तक प्रायः
वैदिक विनय भाग २ के अनुसार
कारावास-स्थित बंधुओं के अनु-
रोध से रखा गया है।
जेल में उक्त-ग्रन्थ
का दैनिक पाठ
होता था।

उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यं अगन्म ज्योतिरुत्तमम् ।। ऋ. १-५०-१०, अ० ७-९-१३,

अर्थ—(वयं) हम (तमसः परि) अधंकार से परे (उत्) उच्च स्थिति प्राप्त कर, ऊपर उठकर (उत्तरं ज्योतिः) उत्तरोत्तर प्रकाश को ।

(पश्यन्तं) साक्षात्कर करते हुए (देवत्रा देवं) देवों के भी त्राणकारी परमदेव, सर्व प्रकाशों के प्रकाशक (सूर्ये) सूर्य को, सर्वप्रेरक महासूर्य को (उत्तमं ज्योतिः) सर्वोत्तम उच्चतम प्रकाश को (अगन्म) प्राप्त करें ।

अनुष्टुप्

हम तिमिर से परे । उत्तर ज्योति देखते ।
देवत्र-देव सूर्य की उत्तम ज्योति को गहें ।।

चतुष्पदी

हम अन्धकार से ऊपर उठते जायें ।
यों क्रमिक उच्चतर ज्योति निरखते जायें ।
देवों के त्राता सूर्यदेव उत्तम की–
परमात्म-उच्चतम ज्योति प्राप्त कर पायें ।।

प्रगति

हम तम से जाएँ ऊपर ।।
तम से रज को, रज से सत्व ज्योति कर हम पायें उत्तर ।।
उत्तरोत्तर ज्योति निरन्तर ।
क्रमिक देखते हम उज्ज्वलतर ।
सतत ऊर्ध्वगामी हों हम तम के काटे सब बंधन रत्तर ।।
तमस् लोक से हम जायें ।
ज्योति लोक हम अविरल पायें ।
सर्वप्रकाशक ज्योति-पुंज दे हमको ज्योति-किरण भास्वर ।।

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धो परावतः । दक्षं ते अन्य आवातु परान्यो वातु यद्रपः ॥ ऋ. १०-१३७-२, अथर्व०

अर्थ—(इमौ द्वौ) यह दो (वातौ) वायुएँ (वातः) बहती हैं उनमें से एक (आसिन्धो) हृदय-सिन्धु से चलती है दूसरी (आपरावत) बाह्य वायु-मण्डल से चलती है। (अन्य) उनमें एक (ते) तेरे लिए (दक्षं) बल जीवनोत्साह (आ वातु) अन्दर बहा लाये। और (अन्य) दूसरा वात (यद् रपः) जो देह-देश में पाप मलादि हैं उन्हें (परावातु) बाहर बहा ले जाये।

टिप्पणी—आचार्य विनोबा भावे ने इस मंत्र का राष्ट्रीय-पक्ष में अर्थ किया है सिन्धु से अरबसागर और परावत से हिमालय-भूदान यज्ञ १९-९-५८

देव गणों के त्राता शोभन।
देव-सूर्य की ज्योति चिरन्तन।
हम उत्तम आलोक सूर्य को प्राप्त करें हे जगदीश्वर॥
उठें तिमिर से हम ऊपर॥

अनुष्टुप्

ये दो वायु बह रही। सिन्धु से बाह्य देशसे।
लाये जीवन दक्षता। बहायें अन्य मल-व्यथा।

पीयूषवर्ष छन्द

चल रही हैं दो दिशा में दो हवा।
चल रहा इस भाँति जीवन जगत् का॥
एक उर को सद्यता है दे रही।
हृदय को स्पन्दन निरन्तर दे रही॥
दूसरी लेती हृदय के ताप को।
है बहा देती मालिनता-पाप को॥

हृदय-धड़कन में समाती एक है।
नया ही उत्साह लाती एक है॥
स्वच्छ करती मलिनता दूजी हवा।
चल रहा इस भाँति जीवन जगत् का॥
श्वास और निश्वास की हे वायु दो।
चेतना मुझमें भरो दीर्घायु दो॥
ला वहा भर दें रगों में चेतना।
प्राण! कर दे दूर सारी वेदना॥
प्राण मुझ में नव्य जीवन शक्ति दो।
सद्यता दो दिव्यता-अनुरक्ति दो॥
पुण्य जीवन का नया उत्साह दो।
वात दोनों शुद्ध रक्त-प्रवाह दो॥
प्राण जीवन-यंत्र में भर तान दो।
दिव्य जीवन-गीत का वरदान दो॥

विजया दण्डक

दो दिशा में यहाँ वात दो चल रही।
बन गया जिनके कारण है जीवन मधुर॥
श्वास-निश्वास के समचरण चल रहे।
बढ़ रहा पांथ यों बज रहा वाद्य-उर॥
एक तो सद्यता चेतना-स्फूर्ति दे।
दिल की धड़कन में जाके समाती है जो॥
दूसरी स्वच्छ वातावरण कर रही।
ताप जड़ता मलिनता हटाती है जो॥
प्राण! जीवनसखा! हे हृदयधन महा।
प्रार्थना मेरी सुन तो जरा प्राणधन॥
दोष-मल जो यहाँ उनको तू ले वहाँ!
भर दो जीवन सुरभि से प्रेतन प्राण मन॥

आ वात वाहि भेषजं विवात वाहि यद्रपः ।
त्वं हि विश्व भेषजो देवानां दूत ईयसे ।।

अथर्ववेद, ऋग्वेद १०–१३७–१

अर्थ—(वात) प्राण ! (भेषजं आवाहि) व्याधि निरसन करनेवाला, बल, औषधि को वहन कर लाओ, वहाकर मुझे प्राप्त कराओ । (यद् रपः) जो रोगकारी मल दोष मुझमें हो, उन्हें (विवाहि) विरुद्ध वहा ले जा, मुझसे दूर विशेष रूप से वहा ले जाओ (त्वं हि) तू ही (विश्व भेषजं) सर्व-रोगनिवारक औषधरूप है । (देवानां दूत ईयसे) देवताओं के दूत हो रहे हो । दिव्यता का सन्देश ला रहे हो ।

अनुष्टुप्

प्राण ! ला भेषजों को तू, वहा जो हो मलिनता ।
तू ही है विश्व औषधि, देवों का दूत वाहक ।।

× × ×

हे प्राणवायु ! हे हृदय हृदय के प्यारे ।
तुम लाओ हमको वहा ओज बल न्यारे ।।
तुम रोगविनाशक भेषज प्राण बहाओ ।
मेरे तन-मन में जीवन-ज्योति जगाओ ।।
जो भी है मुझमें दोष-मलिनता ले जा ।
जो भी है मुझमें रोग-निर्बलता ले जा ।।
ले जाओ जड़ता बहा दिव्यता लाओ ।
तुम हो देवों के दूत दिव्य तुम आओ ।।

उद्गादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह। द्विषन्तं मह्यं रन्धयन् मो अहं द्विषते रधम् ॥ ऋ० १-५०-१३

अर्थ—(अयं) यह (आदित्य) परमसूर्य आत्मसूर्य (मह्यं) मेरे लिए (द्विषन्तं) आन्तरिक कामादि शत्रुओं को (रन्धयन्) नाश करता हुआ विश्वेन सहसा सह) अपने सम्पूर्ण तेजबल के साथ (उत् अगात्) उदित हुआ है अतः मैं (द्विषते) शत्रु की (मो) नहीं (रन्ध) हिंसा करूँ (द्विषते मो रधम्) शत्रु के अर्थ किसी को न पीड़ित करूँ।

मिटाता द्वेषि-वृन्द को, आदित्य पूर्ण तेज से।
उगायै जो ममार्थतो, मैं ना शत्रु वध करूँ ॥
यह परम देव आदित्य हैं आप मेरे लिए जब उदय।
अपने सम्पूर्ण बल-तेज से शत्रु का कर रहा आप क्षय ॥
इसलिए द्वेषियों के लिए लेश राखूँ न दुर्भावना।
मैं न हिंसा किसी की करूँ द्वेष-मत्सर करूँ ना घृणा ॥

राजगीत

परमात्म-सूर्य ज्योतिर्मय, जीवन करने वाला हो।
आदित्य अखण्डित करसे, त्रिभुवन भरने वाला हो ॥
मेरे विद्वेषी जन को, करता हुआ विनष्ट वशी।
हो रहा विश्व में उदित हमें, शुभ वह उजियाला हो ॥
सम्पूर्ण विश्व की कलुष कालिमा, मत्सर-द्वेष-घृणा—
हो जायें भस्मीभूत मांगलिक, वह उजियाला हो ॥
मेरे अन्तर के शत्रु मिटा लिये, चंद्र-प्रभा।
अध्यात्म सूर्य-विज्ञानभानु का, उदय निराला हो ॥
मैं करूँ न हिंसा, द्वेष शत्रु का वशवर्त्ती न बनूँ।
पा जाऊँ जो आलोक, स्वस्तिमय अमित उजाला हो ॥
हो जाय अहिंसक जीवन, निरसन तम का मन से हो।
आदित्यदेव का हृदय अजिर में उदित उजाला हो ॥

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् । ममेदहक्रता वसो मम चित्तमुपायसि ॥ अथर्व १-३४-२

अर्थ—(मे) मेरी (जिह्वाया अग्रे) जिह्वा के अग्रभाग में (मधु) माधुर्य, ब्रह्मरस (जिह्वामूले) जिह्वा के मूल में, हृदय में (मधूलकम्) और भी मधुरस होवे, हे मधु वाले तू (इत अह) अवश्य (मम क्रतो मम चितं) मेरी क्रियाओं तथा मेरे चित्त में (उपायसि) पास पहुँचो, व्याप्त हो जाओ ।

अनुष्टुप्

मधु मेरे जिह्वाग्र में, मधु ही जिह्वा-मूल में ।
मेरे क्रतु में चित्त में, माधुर्यवन् ! तुम रमो ॥

चतुष्पदी

माधुरी वाले ! मधुरता रसना में भर दो ।
अग्र में मूल में जिह्वा के, प्रचुर मधुवर दो ॥
मेरे कामों में बसो चित्त में तुम रम जाओ ।
मन वचन कर्म से जीवन को मधुरतम कर दो ॥

पद

मधुमय प्यारे प्रभो हमारे ॥

मम जिह्वा के अग्रभाग में मधु भर हो सुखदारे ।
एवं मम रसना सुमूल में मधुरस अधिक वसारे ॥
हो माधुर्य समन्वित मम माधुर्य कार्यक्रम सारे ।
मधु ! वस जाओ अन्तराल में चित्त में रमो सदारे ॥
जीवन के क्षण-क्षण में मधु हे ! अविरल स्रोत बहारे ।
हे मधुमय भगवान् ! हृदय धन मनमंदिर उजियारे ।
तन मन वचन कर्म जीवन में अमर मधुरता लारे ॥

यन्मन्यसे वरेण्यं इन्द्र द्युक्षं तदाभर। विद्याम तस्य ते वयं अकूपारस्य दावने। ऋ० ५-३९-२

अर्थ—(इन्द्रं) हे ऐश्वर्यवन्! तू (यत्) जिस (वरेण्यं द्युक्षं) वरणीय तेजोमय अन्न-धन (मन्यसे) मानते हो (तत् आभर) उसे ले आओ। (वयं) हम (ते अकूपारस्य तस्य) तेरे अकुत्सित ऐसे धन को (दावने) तुझ प्रदाता का (विद्याम) हम जानते हैं।

अनुष्टुप्

जिसे मानो वरेण्य वो, ऐश्वर्य इन्द्र दो हमें।
हम उस श्रेष्ठसत्व का, तुझको दाता जानते॥

चतुष्पदी

तेजोमय जो वरणीय आपने माना।
दो हमें वही वैभवधन द्रव खजाना!
जिससे हम तव औदार्य दानको जानें-
हे इन्द्र अकुत्सित धन दो सुखद सुहाना॥

अन्न-धन-ऐश्वर्य जो वरणीय।
मानते हैं आप संग्रहणीय॥
इन्द्र हे ऐश्वर्य के भण्डार!
दीजिये आध्यत्म विभव अपार॥

लाइये जनहेतु वैभव नाथ।
दान दीजे दिव्य पावन साथ॥
हो अकुत्सित पूर्ण जो धन-वित्त।
वह विभव हो दान-तेज निमित्त॥

ये नदीनां संस्रवन्ति उत्सासः सदमक्षिता तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनः संस्रावयामसि ॥ ऋ० १-१५-३

अर्थ—(ये) जो सदं अक्षिता) सतत चलते, बहने वाले (नदीनां उत्सासः) नदियों के स्रोत (सं स्रवन्ति) निरन्तर बहते हैं। (तेभिः सर्वैः संस्रावैः) उन्हीं सब प्रवाहों के साथ (में धनं) मैं अपने धन को (संस्रावयामसि) सम्यक् रूप से प्रवाहित करता हूँ। व्यापार दान द्वारा धन का स्रोत अक्षीण रखें।

हो धनागम धर्म संचित नित्य।
तेजमय वरणीय ज्यों आदित्य॥
आप हैं निर्भ्रान्त प्रज्ञावान।
कीजिये हमको विवेक प्रदान॥
सब प्रलोभन रूप कीजे दूर।
देव दो वरणीय धन भरपूर॥
जानते हैं हम तुम्हारा दान।
शुचि-सुखद-कल्याणप्रद मुदखान॥

अनुष्टुप्

ये नदियों के उत्स जो, बहते मुक्त हैं सदा।
उन उत्सों के संग ही, मेरा धन बहे सदा॥
जो नदियों के उत्स निरन्तर बहते रहते रुकें नहीं।
उन्हीं स्रोत-धाराओं के संग मम धन बहे न रुके कहीं॥
ये नदियों के उद्गम ये झरनों के पानी।
कि जिनकी सदा है युवा ही खानी।
ये कहते चले आ रहे हैं कहानी। जिन्हें गर्व धन का रहा वे कहाँ है?॥
ये नदियों की धारा नहीं रुकने वाली।
ये झरनों की धारा नहीं रुकने वाली।
य' वैभवकी धारा नहीं रुकने वाली, जिन्हें गर्व धन का रहा वह कहाँ है?॥

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमकिरणः । ब्रह्माणस्त्वा शतक्रतो उद्वंशमिव येमिरे ॥ ऋ० १-१०-१

अर्थ—हे (शतक्रतो) हे असंख्य कर्म करने वाले, अनन्त ज्ञान-भण्डार भगवन् (त्वा) तेरी (गायत्रिणः) गायत्र, स्तोत्र-गान के ज्ञाता सामगा (गायन्ति) स्तुति-गान से उपासना करते हैं। (अकिरणः) ऋचाओं के अर्थज्ञानी (अर्कं) पूज्य आप की। (अर्चन्ति) अर्चना करते हैं (ब्रह्माणः) ब्रह्मा लोग, ब्रह्मविद्यासम्पन्न जन तेरी उपासना कर (वंशं) १. ब्रह्मविद्या के कुल की। २. ध्वजदंड को) (उधेमिरे इव) उठा रहे हैं। अर्थात् तेरी महिमा की ध्वजा ऊँची उठा रहे हैं।

सदा ही रहेगी मगर हम न होंगे।
जो स्वामी हैं धन के वे हरदम न होंगे।
ये वैभव के झरने कभी कम न होंगे, जिन्हें गर्व धन का रहा वह कहाँ है ?॥
मैं क्या हूँ प्रवाहों को बल देने वाला।
इधर लेने वाला उधर देने वाला।
तेरे धन को आगे बढा देने वाला, जिन्हें गर्व धन का रहा वह कहाँ है ? ॥
बहा देने वाले औ वैभव की धारा।
मिले मुझको धन धार का नव किनारा।
मुझे तो सहारा है केवल तुम्हारा, जिन्हें धनपै अभिमान था वह कहाँ है ? ॥
जो चलता रहेगा तो जीवन रहेगा।
सदा सद्य धन जल का उद्गम रहेगा।
पुराना नहीं नित्य नूतन रहेगा, जिन्हें धनपै अभिमान था वह कहाँ है ? ॥
न तृष्णा में धन की कभी धार रोको।
सडाओ न 'जीवन' कदाचार रोको।
अरे धन के अंधो रुको और सोचो, जिन्हें मान धन का रहा वह कहाँ है ?॥

अनुष्टुप्

गायत्र तुझे गारहे। अर्की करते अर्चना।
ब्रह्मा तुझे शतक्रतो ! वंश तुल्य उठा रहे॥

गीत

शतक्रतु है तू वरणीय प्रभो ! तेरे काम अनेक तू एक ही है ।
[तू है इन्द्र वरुण ब्रह्मा विष्णु तेरे नाम अनेक तू एक ही है ॥
तुही साम के स्वर्गिक गान में है ।
तुही वीणा की मृदु तान में है ॥
तुही योग में है तुही ध्यान में है ।
तुही तन में है मन में है प्राण में है ॥
द्यावा में है तू पृथ्वी में है तू तेरे धाम अनेक तू एक ही है ॥]
करते कीर्त्तन तेरा भगवन्,
यह सामगान गायक कविजन ।
करते ऋषि गण तेरा चिन्तन,
कर दिव्य ऋचाओं से स्तवन ॥
करते शतधा अर्चन-पूजन अभिराम अनेक तू एक ही है ॥
नदियाँ धाराएँ अगणित पर,
तू है सबका संगम सागर ।
है मार्ग बहुत राही अगणित,
पर प्राप्य लक्ष्य तू जगदीश्वर ॥
अनुभव अगणित मंजिल अगणित विश्राम अनेक तू एक ही है ॥
तेरी महिमा का यह कीर्त्तन,
जन-जन द्वारा जप-तप साधन ।
तेरी महिमा को ध्वजसमान,
ये विविध रूप करते धारण ॥
अगणित गायक अगणित वीणा गुणग्राम अनेक तू एक ही है ॥

श्रद्धयाग्नि समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः । श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥ ऋ० १०-१५१-१

अर्थ—(श्रद्धया) श्रद्धा से ही (अग्नि समिध्यते) ज्ञान-अग्नि प्रदीप्त होती है (श्रद्धया) सत्य धारण से ही (हविः हूयते) हवि दी जाती है, आत्म-समर्पण होता है (भगस्य मूर्धनि) ऐश्वर्य की मूर्धास्थाना श्रद्धा (वचसा) वाणी से (वेदयामसि) प्रगट करते हैं ।

तेरी महिमा गाने वाले,
चिन्तन करके ध्याने वाले।
गायन चिन्तन कर जीवन की,
कृतियों में अपनाने वाले ॥
उन्नत करते तेरा केतन ब्रह्माण अनेक तू एक ही है ॥

अनुष्टुप्

श्रद्धा से अग्नि दीप्ति है। श्रद्धा से ही हवि पड़े।
श्रद्धा धन से श्रेष्ठ है। वाणी से घोषित करें ॥

× × ×

श्रद्धा से ही समिधायें यज्ञाग्नि प्रज्वलित होती।
श्रद्धा से डाली हवि ही अध्वर में सुरभित होती ॥
मूर्धन्य करें हम भग के सैन्यों के श्रद्धा देवी।
हो वेदवाणियों से हम जीवन में श्रद्धा-सेवी ॥

गीत

श्रद्धा दो जगदाधार, सत् को धारण करें,
श्रद्धा से जलती हैं अन्तर की अग्नि ऽ
जीवन की, आत्मा की, अध्वर की अग्नि, ऽ
ज्ञानाग्नि का कर प्रसार सत् को धारण करें ॥
दी जाती हवि कर श्रद्धा को धारण,
आत्मोत्सर्ग का श्रद्धा है कारण,
श्रद्धा की महिमा अपार सत् को धारण करें ॥

दृष्ट्वा रूपे प्रजापति व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृते दधात् श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः। यजु०

अर्थ—(प्रजापतिः) प्रजापति ने (दृष्ट्वा) देख कर, विमर्श कर (रूपे) दो रूपों में (सत्यानृते) सत्य और अनृत इन दो विभागों (व्याकरोत्) स्पष्ट जुदा-जुदा कर दिया है। (प्रजापतिः) उस प्रजापति ने (अनृते) झूट में (अश्रद्धां) अश्रद्धां को (दधात्) रक्खा है और (सत्ये) सत्य में (श्रद्धां) श्रद्धा को रखा है।

मूर्धा है वैभव द्रविण धन की श्रद्धा,
कर्त्तव्य की धर्म शोभन की श्रद्धा,
वाणी से सत् का प्रसार, हम उच्चारण करें॥

जीवन में आस्था हो श्रद्धा अटल हो,
सत्यार्थ बलिदान होने का बल हो,
सर्वस्व कर दें निसार सत् को धारण करें॥

अनुष्टुप्

दो रूपों में प्रजापति ने रक्खा विश्वरूपों को।
अश्रद्धा में असत्य को श्रद्धा को सत्य में तथा॥

छप्पय छन्द

इस संसृति में विविध रूप अवलोक प्रजापति।
सत् में श्रद्धा तथा अश्रद्धा मिथ्या के प्रति॥
अन्तर में उपजाई व्यापक क्रिया उजाला।
सत्यासत्य मिले रूपों को खोज निकाला॥
हम भी श्रद्धा के सहित सत्य मार्ग पहचान लें।
त्याग अनृत के मार्ग को श्रद्धा से सद् ज्ञान लें॥

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर। कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह। अ० ३-२४-५

अर्थ—हे (शतहस्त) सौ हाथों वाले! (समाहर) तू इकट्ठा कर और (सहस्रहस्त) हे हजार हाथ वाले तू (संकिर) बखेर दे। इस तरह (कृतस्य कार्यस्य) कृत कर्मों की (स्फातिं) फसल को (इह) इस जग में (समावह) ठीक प्रकार से प्राप्त कर।

गीत

श्रद्धा दो जगदाधार सत् को धारण करें॥

इस संसृति में प्रजापति ने सत् और असत् को,
ऐसा मिलाया सँग ही लगाया ज्यों दुग्धघृत को।
यह दूध पानी की धार हम निर्द्धारण करें॥ १॥

जगरूप सारे लखकर विचारे, किये न्यारे-न्यारे,
श्रद्धा को सत्य अश्रद्धा अनृत में रखा है प्यारे।
ऋत औ अनृत का विचार धारण निवारण करें॥ २॥

सत् को विचारे श्रद्धा संहारे हम जग के अन्दर,
त्यागे अनृत को कलुषित दुरित को सत्वर असुन्दर।
श्रद्धा तुला पर विचार सत् को धारण करें॥ ३॥

अनुष्टुप्

शतहस्त! जमाकर, सहस्रहस्त बखेर।
कृत-कार्य की फसल बढ़ा यहाँ भली कमा॥

तोटक छन्द

धन को जन तू शतहस्त कमा।
पर त्याग न सूत्र सुजीवन का।
कर दान, सहस्रहस्त! जग में।

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः । उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीव यथा पुनः ॥ ऋ० १०-१३७-१ । अ० ४-१३-१

अर्थ—(देवाः) हे देवो ! (देवाः) तुम देव लोग, तुम दिव्य गुणों, दिव्यताओं (अवहितं) अवस्थित को, पतित को (उत्) भी (पुनः) फिर (उन्नयथाः) ऊपर उठा लेते हो और तुम (आगः चक्रुषं) पाप करने वाले को (उत्) भी (पुनः) फिर (जीव यथाः) जीवन देते हो ।

बिखरा कृत-कर्म बीज बिखरा।
बिखरा यश बीज सुपुण्य भू धरा !
बढ़ती यश की करसम्यकजा ॥

राजगीत

न धन कमाने में है बुराई न धन का संग्रह ही पाप रे नर !
किये जो पौरुष दो हाथ वाले सौ हाथ वाला मनुष्य बनकर ॥
तू सौ गुनी शक्ति चाव से नर ! सुकृत्य के बीज कर इकट्ठे ।
बखेर फिर पुण्य की धरापर हजार हाथों की शक्ति धर कर ॥
सौ हाथ वाले तू कर इकट्ठा हजार हाथों से धन लुटा दे ।
फलेगी फूलेगी बेल तेरी यथा समय इस जगत के अन्दर ॥
सुकृत्य के कार्य की फसल तू उगा के बढ़ती किए चला जा ।
सफल इसी में है जिन्दगानी इस हाथ लेकर उस हाथ देकर ॥
सुपात्ररूपी सुक्षेत्र में वपन किये पुण्य बीज तूने ।
तुझे मिलेंगे वह बीज तेरे हरेक दाने अनेक होकर ॥
कृपण बनेगा जो धन को रख तू न काम तेरे ही आयेगा वह ।
उदारता दान से मिलेगा तुझे सुयश सौख्य जग के अन्दर ॥

अनुष्टुप्

देवो, पतित को पुनः उठाते दिव्यताओं से ।
पापकर्मा को भी तुम, देते हो जीवन पुनः ॥

विग्राम्याः पशव आरण्यैः र्व्यापस्तृष्णया सरन्। व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥

अर्थ—(ग्राम्याः पशवः) ग्राम्य पशुगण (आरण्यैः) जंगली पशुओं से (वि असरन्) विरुद्ध दिशा में जाते हैं (आपः) जल (तृष्णया) प्यास से (वि) वियुक्त हैं ऐसे ही (अहं) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पापों से (वि) वियुक्त अथवा विरुद्ध हूँ (यक्ष्मेण) रोग से (वि) वियुक्त हूँ। (आयुषा) आयु-जीवन प्राण से संयुक्त हूँ।

अनुष्टुप्

वन्य, ग्राम्य पशुओं से विरत आप तृष्णा से।
मुक्त पाप रोग सर्व युक्त मैं हूँ जीवन से ॥

गीत

विनती है बारम्बार करो स्वीकार हमें नव-जीवन दे दो।
हे विश्व देव-परिवार दयालु उदार हमें अमृत-कण दे दो ॥
तुम मृतकों को जिलाने वाले,
तुम पतितों को उठाने वाले,
पापी जन को पुण्यवान् कर,
पुण्य मार्ग पर चलाने वाले,
पतितों का कर उद्धार, करो उपकार ज्ञान जीवन-धन दे दो ॥
उन्नत कर दो जीवन भगवन्!
हम निराश क्यों हों विद्वत् जन!
तुम जड़ता हर कर जीवन को,
दे दो नवोत्साह नव-जीवन,
पापों का रोक प्रसार पुण्य विस्तार करो मन पावन दे दो ॥
नैया जीवन डगमग डोले,
भरण सिन्धु में खा हिचकोले,
आज कौन पतवार संभाले,
तुम्ही खे चलो हौले हौले,

डूबों को देव उबार, लगा दो पार, हमें आश्वासन दे दो।
हमको है रामनिवास तुम्हारी आस हमें नव-जीवन दे दो ॥

गीत

मरण हूँ मैं न, जीवन हूँ, मैं आत्मा हूँ, नहीं तन हूँ न तम हूँ, ज्ञान हूँ।
कि तन तो है सदन मेरा, किया कुछ काल को डेरा बना मेहमान हूँ ॥

जैसे वन्य हिंस्रपशु सारे,
एवं ग्राम्य अहिंसक न्यारे,
साथ नहीं रह सकें परस्पर,
चलते हैं प्रतिकूल-दिशा रे,

पाप से मुक्त हूँ मैं यों, कि तृष्णा मुक्त है जल ज्यों, विशुद्ध महान् हूँ।
कि तन तो है सदन मेरा, किया कुछ काल को डेरा बना मेहमान हूँ ॥

सकल पाप से हूँ वियुक्त मैं,
मैं निर्लेप विशुद्ध अनागस,
आयु प्राण जीवन का सम्यक्,
पीता हूँ सर्वदा सोम-रस ॥

न जड़ हूँ मैं चेतन सत हूँ न क्षण-भंगुर मैं शाश्वत हूँ अमर वरदान हूँ।
कि तन तो है सदन मेरा किया कुछ काल को डेरा बना मेहमान हूँ ॥

असद् भूम्या समभवत् तद् द्यामेति महत् व्यचः । तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्तारमृच्छतु ॥ अथर्ववेद ४–१९–६

अर्थ—(असद्) अधर्म पाप (भूम्या) भूमि से, हृदय से (समभवत्) उत्पन्न होते हैं और (तत्) वह (महत् व्यचः) बड़े भारी रूप में अन्तरिक्ष में फैलकर (द्यां) द्युलोक तक अथवा वाणी द्वारा होकर, क्रियावान् हो जाते हैं। (ततः) वहाँ से बढ़कर भी (तत्) वह (वै) निश्चयरूपेण (विधूपायत्) कर्त्ता को सन्तप्त करके (प्रत्यक्) उसके प्रति उलट कर (कर्त्तारं) कर्त्ता को (ऋच्छतु) आ पड़ता है।

अधर्मेणैते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ मनु०

अनुष्टुप्

भूमि से उगता असत्, 'द्यौ' लो बढ़ता महत् हो।
निश्चय ही सन्ताप दे, फिर कर्त्ता को लौटता ॥

गीत

अरे पापियो सुनो पाप की कभी न जय होगी ॥
सत्य की सदा विजय होगी।
विजय होगी निश्चय होगी ॥

असत् अनृत अघ का अधियाला।
भू से उन्नत होने वाला ॥
उर्ध्व लोक तक छाजाता है।
बादल रवि का रोक उजाला ॥
किन्तु अन्त में बादल सेना, भूमि विलय होगी ॥
तिमिर की कभी न जय होगी।
ज्योति-किरणों की जय होगी ॥

यश्चकार न शशाक कर्त्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् । चकार भद्र-मस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः ॥ अ० ४-१८-६

अर्थ—(यः) जो (चकार) हिंसा करता है वह (कर्त्तुं न शशाक) कर नहीं सकता है (पादं अंगुरिं) अपने पैर की अंगुली को अपने अंगों को (शश्रे) तोड़ लेता है । हमारा बुरा करने वाला (अस्मभ्यं) हमारा तो (भद्रं) सदा भला ही (चकार) करता है । (तु) किन्तु (सः आत्मने) वह अपना (तपनं) तपाना करता है । स्वयं दुःखी होता है ।

पापांकुर बढ़ उर से चलते ।
वाणी तक बढ़ आते पलते ॥
कर्म लोक दूषित हो जाता ।
कर्त्ता अघी ताप में जलते ॥
पाप-विटप की इस बढ़ती की, परिणति क्षय होगी,
अन्त में निश्चित क्षय होगी, पुण्य की सदा विजय होगी ।
स्वयं पापकर्त्ता को यह संताप विषय होगी ॥
डरो न व्यापक रूप निरखकर,
अशिव अनय अघ का प्रलयंकर ।
डरो न चलता है जो जगमें,
अनाचार व्यापार भयंकर ॥
यह पापों का भार हटेगा भूमि अभय होगी,
अनय की कभी न जय होगी ।
सुकृति की सदा विजय होगी ॥
एक ओर है स्वार्थ पीन तन,
अपर ओर परमार्थ क्षीण तन,
किन्तु निराअन हो रे मानव, होता चल परमार्थ जीवन जन ।
अभय बढ़ा चल सत्य पथिक तू जीवन जय होगी,
अमृत ऋत की ही जय होगी ॥

अनुष्टुप्

बुरा कर नहीं सके, कर्त्ता बुरा यदि करे ।
हमारा करता भला, तपता आप ताप में ॥

चतुष्पदी

बुरा करता हमारा जो बुरा वह कर नहीं पाता।
सताना चाहता जो वह स्वयं को हानि पहुँचाता॥
तपाता आप अपने को नहीं वह शान्त ही पाता।
हमारा तो भला करता हमारे दुःख का दाता॥

पद

भलाई कर जग में प्यारे।
भला चाहता है तो सबका भला किए जा रे॥
पर-पीड़ा सम अघ नहीं भाई।
कर ले जग में नेक कमाई॥
जग में सबसे बड़ी समाई।
सत्पुरुषों ने है बतलाई॥
सहनशक्ति को धार न हिंसा-पथ को अपना रे॥
खल हमको क्या मार सकेगा।
हाथ-पैर निज तोड़ धरेगा॥
हमको तो वह क्या दुःख देगा।
दुःखानल में स्वयं जलेगा॥
जब अपना ईश्वर रखवाला तो भय किसका रे॥
जो हिंसा मग अपनायेगा।
पर अनिष्ट क्या कर पायेगा॥
क्रोधानल में दग्ध रहेगा।
दुःख आग में जल जायेगा॥
चेतेगा जो बुरा उसी का भला न होगा रे॥

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आद्यां रोहन्ति रोदसी। यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वान्सो वितेनिरे ॥ अ० ४–१४–४ यजु० १७–६८

अर्थ—(ये) जो (सुविद्वान्सः) उत्तम ज्ञानी महापुरुष-जन (विश्वतो धारं यज्ञं) विश्वतोधार यज्ञ को, सब ओर से सर्व प्रकार धारण में समर्थ यज्ञ को (वितनिरे) विस्तृत करते हैं वे (स्वः यन्तः) आनन्दमय स्थिति को जाते हुए (न अपेक्षन्त) [लौकिकसुखों की] अपेक्षा नहीं करते। वे (रोदसी) द्यावापृथ्वी के उभय लोकों को पारकर (द्यां) दिव्यलोक में (आरोहन्ति) प्रकाशमान लोक पर आरूढ हो जाते हैं।

मानव सब हैं भाई-भाई।
भाई ने पीड़ा यदि पाई॥
मारा भाई ने यदि भाई।
तो भी अपनी हुई बड़ाई॥
हिंसा किसकी करे अरे सारा जग अपना रे॥

अनुष्टुप्

स्वर जाते, करें न स्पृहा चढ़ जाते 'द्यु'लोक लों।
सु विद्वान् जो विस्तारते विश्वतोधार यज्ञ को॥

पद

[हमारा कर दो हृदय उदार।
करें निरन्तर कर्म श्रेष्ठतम यज्ञ विश्वतोधार॥]
जो उत्तम मुमुक्षु ज्ञानी जन।
करते विशाद यज्ञ-संपादन॥
करें विश्वतोधार यज्ञ शुभ कर्मों का विस्तार।
अन्य सभी की त्याग अपेक्षा पा जाते सुख-सार॥
[बनें हम भी उनके अनुसार।]

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥ ऋ० ७-५९-४

अर्थ—हम (त्र्यम्बकं) त्रिलोक मातेश्वरी का (यजामहे) यजन करते हैं सुगन्धि, पुष्टिवर्धक पालिके का। अर्थात् हम त्रिवेद त्रिवर्ण, द्विपद, चतुष्पद, सरीसृप तीनों प्रकार के जीवों के पालक प्रभु का यजन करते हैं जिससे (उर्वारुकम् इव) खरबूजे के समान (मृत्योः बन्धनात्) मृत्यु के बन्धन से मैं (मुक्षीय) मुक्त हो जाऊँ (मा अमृतात्) अमृत से नहीं।

अन्न मनोमय लाँघ लोक वे।
आत्मलोक पाते अशोक वे॥
ज्योतिर्मय-चिन्मय द्युलोक तक करते आत्मप्रसार।
द्यावा पृथिवी के सीमित बन्धन से जाते पार॥
[हमें भी हों वे कृत स्वीकार।]
[हम भी बन सज्जन अनुगामी।
करे विश्व हितकर कृत नामी॥
सर्वभूत हितकारी हों हम करें लोक उपकार।
यही विनय है देव आपसे कर लीजे स्वीकार॥
हमारा करो आत्म-विस्तार।
खोलदो स्वर्ग-लोक के द्वार॥]

अनुष्टुप्

उपासें त्र्यम्बक को, सुगन्धि पुष्टिवर्धक को।
उर्वारुकवत् मुक्त हों, मृत्यु से न अमृत से॥

चतुष्पदी

मेरे जीवन की कली फूले-फलें पक जायें।
अन्त में वृन्त से स्वयमेव जुदा हो जाये॥
हे त्रि-अम्बक! तव करते हैं यजन हम सारे।
अमृत को पायें मरण-पाश से हम छुट जायें॥

सुमन जीवन में सुरभि छवि को बसाने वाली।
पुष्टिदात्री हे सकल पुष्टि बढ़ाने वाली॥
मेरे जीवन को मरण-भय से बचा दो अम्बे!
अपने अंचल में अमृत रस को बसाने वाली॥

× × ×

त्रि-अम्बक देव का हम यजन करते हैं।
सुगन्धिक पुष्टिवर्धक को सुमरते हैं॥
लता-बंधन से डाली के पके फल से,
अलग हो जायँ हम भी मृत्यु दल-दल से॥

बने जीवन हमारा पक्व-फल जैसा।
सुगन्धित पूर्णतः परिपुष्ट फल जैसा॥
कि पा पूर्णायु हम जग से अलग होवें।
मरण बंधन छुटे ना अमृत को खोवें॥

गीत

हे त्रिभुवन की माता! हमको लो निज प्रेमांचल में।
हे सुगन्धिमय सौरभदातृ पोषक अम्बे विश्वविधातृ।
दो हमको सौरभ-परिमल-बल माँ जीवन के जल में॥
पूर्णतया परिपक्व सुफल सम, बंधन से हो जायँ अलग हम।
मृत्युमुक्त हो जायँ मुक्त हो जायँ अमृत-संबल में॥
यजन आपका करते हैं हम, करसुरभित परिपक्व सुजीवन।
अबुध बाल हम को ले लो माँ अमृत अंक कोमल में॥

सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् । देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ ऋ० १०-१९-१-२

अर्थ—हे मनुष्यो ! (संगच्छध्वं) मिल कर चलो, समान आचरण करो। (संवदध्वं) मिल कर बोलो। (वः) तुम्हारे (मनांसि) मन (संजानतां) सम्यक् ज्ञान प्राप्त करें। समान ज्ञान वाले हों (यथा) जैसे कि (पूर्वे देवाः) पहले के देव लोग (संजानानाः) एक से ज्ञानवान होते हुए (भागं) भजनीय की (उपासते) उपासना करते रहे हैं।

अनुष्टुप्

संग-संग चलो बोलो, मनों में सम ज्ञान हो।
संज्ञानी पूर्व देवोवत् तुम भी सेवो भाग को ॥

गीत

य' समय की माँग है मिल के चलो, मिल के बोलो मिल के रहो।
य' प्रभो का ज्ञान है—मिल के चलो, मिल के कहो, मिल के रहो ॥

उठे तुम्हारे हे मनुष्य साथ-साथ ही चरण।
विचार एक ही समान एक से सदा चरण ॥
अनैक्य भावना तजो बनो भले बनो भले।
अप्रिय प्रसंग त्याग प्रीतिभाव से मिलो गले ॥

य' जिन्दगी का राज है मिल के चलो, मिल के कहो, मिल के रहो ॥

तुम्हारे मन वचन व कर्म मध्य ऐक्य-तान हो।
समान सब मनों में श्रेयकर समान ज्ञान हो ॥
कि पूर्व देवगण समान सर्व ज्ञानवान हो।
समान कार्यभाग की उपासना समान हो ॥

य' जिन्दगी का भाग है मिल के चलो, मिल के कहो, मिल के रहो ॥

ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापराम् । अग्निं हृदय्यं शोकं तं ते निर्वापयामसि । अ० ६-१८-१

अर्थ—(ईर्ष्यायाः) ईर्ष्या की (प्रथमाम्) पहली ही (ध्राजिं) वेग को, गति को (निः वापयामसि) हम शान्त करते हैं (उत्) और फिर (प्रथमस्या) पहले वेग से उत्पन्न (अपराम्) दूसरी ज्वाला को भी (निर्वापयामसि) हम बुझाते हैं, शान्त करते हैं । इस भाँति (ते) तेरे (तं) उस वेग-ज्वाला को, हृदय-अग्नि को (शोकं) तज्जनित शोक को (निर्वापयामसि) हम निर्मूल करते हैं । पूर्णतः शान्त करते हैं ।

सभी के ताल स्वर चरण समान रूप एक हों ।
समान राग रागिनी हो अन्तरा हो टेक हो ।।
समान लय से मस्त हो के ऐक्य गान गाँय हम ।
मिटा विषम विभिन्नता सुसाम्ययोग लाँय हम ।।
यह जिन्दगी का राग है मिल के चलो, मिल के कहो, मिल के रहो ॥
अरे मरण कुमार्ग है जो चल रहे अलग-अलग ।
वचन व मन व कर्म सब मचल रहे अलग-अलग ।।
अरे मनुष्य हो कि तुम मनुष्यता प' ध्यान दो ।
समान प्रेम-रस पिओ समान प्रीति-दान दो ।।
यह जिंदगी की राह है मिल के चलो, मिल के कहो, मिल के रहो ।
ये जिंदगी की माँग हैं मिल के चलो, मिल के कहो, मिल के रहो ॥

अनुष्टुप्

ईर्ष्या के पूर्व वेग को, प्रथमापर को तथा ।
हृदयाग्नि को शोक को, तज्जन्य तव, दें बुझा ।।
ईर्ष्या के पूर्व वेग को, पूर्व से अन्य को तथा ।
हृदयाग्नि को शोक को, तेरी हम बुझा रहे ।।

पद

उर में बहे प्रेम की धारा।
हे करुणामय सदय! प्रेममय कर दो हृदय हमारा॥
पूर्व इतर सब द्वेषमाल को,
ईर्ष्या की सब प्रबल ज्वाल को,
क्रोधानल को हृदय-जलन को मिले शान्तितर प्यारा॥
मेरे सब हृदयाग्नि-शोक को,
ईर्ष्या-मत्सर द्वेष-लोक को,
शान्त करो परिताप हरो हे दो शीतल जलधारा॥

गीत

दिल में ईर्ष्या का विचार पहला पहला उग्र ज्वार हरें,
अन्तर की ज्वाला को शान्त करें हम॥

उर की तपन को, मन के दहँन को,
हर देवें सारी तुम्हारी जलन को,
बरसा प्रेमरसधार करें जीवन सुधार,
मेरे अन्तर की ज्वाला को शान्त करें हम॥

ईर्ष्या से झुलसे न अन्तर की क्यारी,
जीवन की बगिया मन-फुलवारी,
बरसे शीतल फुहार, चमन होवे गुलजार,
तेरे अन्तर की ज्वाला को शान्त करे हम॥

रोक-शोक के वेग प्रखर को,
द्वेष-घृणा-ईर्ष्या-मत्सर को,
करें क्षार परिहार, भर के अन्तर में प्यार,
तेरे अन्तर की ज्वाला को शान्त करें हम॥

ऋतस्यर्तेनादित्या यजत्रा मुंचतेह नः। यज्ञं यद् यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोप शेकिम् ॥ अ० ६-११४-२

अर्थ—(यजत्राः) यज्ञत्राताओ ! (आदित्याः) प्रकाशमान ज्ञानस्वरूप देवगणो (इह) यहाँ, इस लोक में (नः) हमें (ऋतस्य ऋतेन) सत्यस्वरूप परमात्म देव के सत्य ज्ञान से (मुंचत्) बंधनमुक्त करो। (यद्) जिन बंधनों के कारण हम (यज्ञवाहसः) हे यज्ञवाहक देवो हम (यज्ञं) यज्ञ को (शिक्षन्तः) करना चाहते हुए भी (न उप शेकिम्) नहीं कर पाते।

अनुष्टुप्

(सत्य)

आदित्यो ऋत-ऋत से, यजत्रो छुड़ा दो हमें।
जिनसे यज्ञवाहको ! यज्ञ कर नहीं पाते।
(हम चाहते हुए भी)

गीत

यज्ञ-सुरक्षा करने वालो ! हे देवो वरणीय उजालो, तम के,
बंधन खोल दो, जीवन-बंधन खोल दो ॥
हे देवो तुम को ही तो आदित्य पुकारा है।
मुक्तिहेतु इसलिए आपका लिया सहारा है।
करो प्रशस्त यज्ञमय जीवन, शुभ कर्मों में रह हो मनमन,
जीवन में मधु घोल दो ॥
करना चाहें शुभ कर्मों को कर ना पाते हैं।
स्वार्थ अनेक रूप धर कर पथ-भ्रष्ट बनाते हैं।
तोड़ो परवशताकारायें स्वार्थजन ओछी धारायें,
हटा द्विधा का दोल दो ॥

यद् विद्वांसो यदविद्वान्स एनांसि चक्रमा वयम् । यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वे देवाः सजोषसः ॥ १ ॥ अथर्व ६.११५.१

अर्थ—(वयं) हम (यद्) जब-जब (विद्वांसः) ज्ञानी होकर (अविद्वान्स) अनजान होकर (एनांसि) कुटिलताएँ, पापों को (चक्रम) करें हे (विश्वेदेवा) समस्त देवो आप (सजोषसः) एकमत सप्रेम होकर (तस्मात्) उससे (नः) हमें (मुञ्चत) छुड़ाओ ।

अन्दर का पट खोल जगा दो देव हृदय वाला ।
जो सत्यों का सत्य उजालों का भी उजियाला ।
जो देवों का देव है पूजनीय अतएव है
ज्योति जगा अनमोल दो ॥

यज्ञवाहको ! देवो ! यज्ञ निरोधक सब बन्धन ।
खोलो खोलो आज यज्ञमय कर दो मम जीवन ।
शमन करो चंचलता मन की, अस्थिरता हर दो जीवन की,
सुस्थिर सुमति अडौल दो ॥

अनुष्टुप्

जाने या अनजाने ही हम पापों को जो करें ।
विश्वदेवो सप्रेमतो । उनसे छुड़ाओ हमें ॥

लावनी

हे विश्वदेवगण रक्षा करो हमारी ।
तुम करो पाप से मुक्त हमें अघहारी ॥
हम करें कुटिल अघ जो जाने-अनजाने,
हम चलें अवांछित चाल अगर मनमाने ।
तुम सभी सुझाओ हमें सुपंथ सुहाने,
तुम हमे पाप-पथ दो न कभी अपनाने ॥
सर्वदा रखो तुम दया-दृष्टि हितकारी ।
तुम करो पाप से मुक्त हमें अघहारी ॥ १ ॥

यदि जाग्रद् यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम्। भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुंचताम् ॥ अ० ६.११५.२

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव। पूतं पवित्रेण वाज्यं विश्वे शुम्भन्तुमैनसः ॥ अ० ६.११५.३

अर्थ—(यदि) यदि मैं (एनस्य) पापी बनकर (जाग्रद्) जागते हुए (यदि) या (स्वपन्) सोते हुए (एनः) पाप (अकरम्) करता हूँ तो (मा) मुझे (भूतं भव्यं च) भूत और भव्य का चिन्तन (द्रुपदात् इव) खूँटे के समान (मुंचताम्) छुड़ा देवें। या खूँटे के समान मुझसे बद्धभूत भविष्य के बन्धन छुड़ावें।

(द्रुपदात् मुमुचानः इव) खूँटे से छूटे पशु के समान (स्विन्नः) स्वेदयुक्त मनुष्य (स्नात्वा मलात् इव) स्नान करके मल से दूर होने के समान (पवित्रेण पूतं आज्यं) Filter-cloth क्षारण-वस्त्र से शुद्ध किये गये घृत समान (विश्वे देवाः) विश्वदेवो (मा) मुझे (एनसः) कुटिल पाप से (शुम्भन्तु) शुद्ध करें।

अनुष्टुप्

जागृत या सोते हुए मैं यदि पाप को करूँ।
तो भूतभव्य खूँटेवत् उससे छुड़ा दे मुझे ॥
खूँटे से छूटे पशुवत् स्नात, अमला स्वेदवत्।
छाने पवित्र आज्यवत् पाप-शुद्ध करो मुझे ॥

लावनी

हे विश्वदेवगण रक्षा करो हमारी।
तुम करो पाप से मुक्त हमें अघहारी ॥
सोते जागते पाप से मुझे बचाना,
तुम भूत-भव्य से बंधनमुक्त बनाना।
खूँटे से छूटे पशुवत् मुझे छुड़ाओ,
मम भूत-भव्य पापों की रज्जु हटाओ।

मैं संतापित आया हूँ शरण तुम्हारी।
तुम करो पाप से मुक्त मुझे अघहारी॥
जिस भाँति द्रुपद से खुलकर पशु सुख पाते,
जिस भाँति स्वेद से डूबे मनुज नहाते।
वे नहा देह को निर्मल स्वच्छ बनाते,
क्षारण से ज्यों जल घृत पवित्र हो जाते॥
इत्यो मुझे पाप से शुद्ध करो उपकारी।
हे विश्वदेवगण रक्षा करो हमारी॥

× × ×

मैं रहूँ ग्राम में या अरण्य निर्जन में।
पर पाप न आये भगवन् मेरे मन में॥
आगे-पीछे जीवन में दायें-बायें,
ऊपर-नीचे जीवन की सकल दिशायें।
ऊषा में ब्रह्ममुहूर्त्त प्रात के पल में,
दिन में संध्या में रजनी के अंचल में॥
जागृत में अथवा स्वप्नलोक के क्षणों में।
प्रभु पाप न आये कभी हमारे मन में॥
हे शुद्धबुद्ध भगवान् अनागस स्वामी,
सम्पूर्ण मिटा दो पाप विगत आगामी।
अभिशाप पाप का ताप शमन हो जाये,
तन-मन का कलुष-कलाप शमन हो जाये॥
मैं रहूँ सदा ही भद्रभाव चिन्तन में।
प्रभु पाप न आये कभी हमारे मन में॥
मेरे जीवन के भूत! करो अघ-निरसन,
मेरे जीवन के भव्य! अनघ कर जीवन।
मम भूत-भविष्यत का निर्दोष निरीक्षण,
कर दे विमुक्त बंधन त्रय-ताप-विमोचन॥

पर्यावर्ते दुःष्वप्न्यात् पापात् स्वप्न्यादभूत्याः। ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखा शुचः॥ अथर्व ७-१००-१

अर्थ—मैं (दुःष्वप्न्यात्) दुःस्वप्नजनित (पापात्) पाप से (परि आवर्ते) परे रहता हूँ, लौटता हूँ। तथा (स्वप्न्यात् अभूत्याः) स्वप्न के अनिष्ट अघ से भी (पर्यावर्ते) अलग रहता हूँ। मैं (अहं) (ब्रह्म) महान् ज्ञान को, ब्रह्म को, (अन्तर) अपने अन्दर (कृण्वे) करता हूँ तथा (स्वप्नमुखाः) स्वप्न से आनेवाले इन (शुचः) शोकों को, दुखों को (पराकृण्वे) परे करता हूँ।

जकड़े न प्रगति के चरण द्रुपद बंधन में।
प्रभु पाप न आये कभी हमारे मन में॥

अनुष्टुप्

मुक्त दुःस्वप्न पाप से, मुक्त स्वप्न अभूति से।
ब्रह्म मन में धार मैं भगाता दुःखस्वप्नमुख्॥

गीत

जाग उठा पुण्य-प्रात महाभाग।
विकस रहा जीवन सौरभ पराग॥
दुखदायी स्वप्न हो गये विलीन,
पाप-स्वप्न हो गये प्रभाविहीन।
हो गयी अज्ञान-प्रदोषा समाप्त,
जागृति में जागा हूँ मैं अदीन॥
स्वप्न अनिष्ट से हुआ विराग।
जाग उठा पुण्य-प्रात महाभाग॥
प्रियतम तव ज्योति का हुआ विकास,
अन्तर में धरता मैं तव प्रकाश।
स्वप्न शोक-लोक हो रहे विलीन,
अन्त में ब्रह्म का हुआ निवास॥

अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः। प्रणीतिरभ्यो वर्त्तस्व विश्वेभि सखिभिः सह ॥

अर्थ—हे मनुष्य! (पौरुषेयात्) मनुष्य कृत बातों से, सामान्य जनों की निंदा-स्तुति की कथा-वार्ताओं से (अपक्रामन्) दूर हटता हुआ। (दैव्यं) देवप्रणीत, ईश्वरीय (वचः) वाणी को (वृणानः) वरण करता हुआ तू (प्रणीतिः) सद् शिक्षाओं, सुनीतियों का (विश्वेभिः सखिभिः सह) समस्त बंधुबांधवों के साथ (अभि आवर्त्तस्व) समुचित आचरण कर।

देख, नैश अंधकार गया भाग।
जाग उठा पुण्य-प्रात महाभाग॥
पाप ताप शाप के प्रसंग भ्रान्त,
स्वप्न की अभूति मात्र थी नितान्त।
स्वप्न मुखर बिखर गयी तन्द्रा तो
ज्ञान-अर्क का उदय हुआ प्रशान्त॥
उठा मैं समस्त स्वप्न-भ्रान्ति त्याग।
जाग उठा पुण्य-प्रात महाभाग॥

अनुष्टुप्

पौरुषेय त्याग के दैव्य वाणी को वर के—
विश्व-सखाओं के संग प्रणीतियों को वर्त्त॥

हरिगीतिका छन्द

पौरुषेय विचार तज नर! दिव्य वाणी कर वरण।
सब सखाओं सहित कर तू दिव्य कृति पर आचरण॥
दिव्य वाणी की सुशिक्षा परमथोचित ध्यान दे।
वर्त्त दैवी नीतियों को, दिव्य-पथ को मान दे॥
[वेदवाणी दिव्य कल्याणी सुपथ दिखलायगी।
यह तुझे धर्मार्थ कामद, मुक्ति तक पहुँचायगी॥

सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते। त्वामभि-प्रणोनुमा जेतारमपराजितम् ॥

अर्थ—हे (इन्द्र) परमेश्वर! (शवसस्पते) समस्त ज्ञान और बल के स्वामी! (ते) तेरी (सख्ये) मित्रता प्राप्त कर (वाजिनः) बल-ज्ञान से युक्त होकर हम (मा भेम) भीत न होंवे, निर्भय हो जायें। (जेतारं) हे विजेता! (अपराजितं) सदा अविजेय! हम (त्वा) तुझे ही, तेरे प्रति (अभिप्रणोनुमः) सर्वप्रकारेण प्रणति करते हैं।

मानवीय प्रवृत्तियों से सतत ऊर्ध्व उठायगी।
मनुजता से दिव्यता की ओर यह ले जायगी॥
जगत् पारावार तरने का यही आधार है।
दिव्य-नौका है अखण्डित अस्रवन्त अपार है॥
वेद-नौका ले अनागस ज्योति-जीवन सार ले।
पार कर भव-सिन्धु को कर वेद की पतवार ले॥
हे प्रभो हमको कृपा कर दिव्यता का दान दो।
वेद के प्रति अमित श्रद्धा-भक्ति दो सम्मान दो॥
दिव्य वाणी का पठन पाठन मनन चिन्तन करें।
वेद पथ पर आचरण कर सफल निज जीवन करें॥]

अनुष्टुप्

इन्द्र हे शवसस्पते! हम 'वाजी' तव सखा।
जेता! भीत हों न हम्—अपराजेय को नमन्॥

चौपाई

इन्द्रेश्वर बल के आधार,
शवसस्पति हे ज्ञानागार!
करो हमें बल-बुद्धि प्रदान,
प्राणसखे सन्मित्र महान्॥

एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिता इव । रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम् ॥ अथर्व० ७–११५–४

अर्थ—(एताः) इन (एनाः) उन [एकत्र अनेकशः] लक्ष्मियों का (वि आकरं) मैं विवेकपूर्वक पृथक्करण करता हूँ। (खिले) व्रज में (विष्ठिता) बैठी हुई (गा इव) गायों के समान; जैसे गोपाल व्रज में स्थित गायों को पृथक् २ जानता है। अब (याः) जो (पुण्याः लक्ष्मीः) पुण्यवती लक्ष्मी है, पवित्र कमाई के ऐश्वर्य हैं, पवित्र प्रवृत्ति है (रमन्तां) वह मेरे यहाँ रमण करें, पर (याः पापीः) जो पापपूर्ण कमाई हैं (ताः) उन्हें मैं आज (अनीनशम्) विनष्ट करता हूँ।

वाजी हम होकर हे नाथ,
बल साहस धृति लेकर साथ।
करते हैं तव कीर्ति-कलाप,
अपराजित जेता हो आप॥

सख्य आपका पाय पुनीत,
हम न कभी भी हों भयभीत।
निर्भय तव गायें गुण-गान!
हे शवसस्पति इन्द्र महान्॥

तुमसा महाबली जब मीत,
फिर होंगे हम क्यों भयभीत।
प्राणसखे! जेता गुण-ग्राम!
तुमको सादर विनत प्रणाम॥

प्रभो! अभयपद के दातार,
दो हम को बल-बुद्धि उदार!
तुम हो जग-जीवन आधार,
तुम्हें नमन है बारम्बार॥

अनुष्टुप्

इन्हें उन्हें पृथक् पृथक्, जानता व्रजगोवत् मैं।
जो पुण्या लक्ष्मियाँ रमें, यहाँ पापी विनाशता॥

द्रुतविलम्बित छन्द

पृथक् गोप यथा निज गोष्ठ में,
सकल गोधन को पहचानता।
अलग मैं कर दूँ सविवेक,
शिववती अपवित्र कमाइयाँ॥ १॥

सकल पुण्यवती रमणीय श्री,
रमण नित्य करे मम गेह में।
मगर जो अघपूर्ण कमाइयाँ,
सकल को करता अब नष्ट मैं॥ २॥

लावनी

घर में मेरे बाहर-भीतर जीवन में।
पापी लक्ष्मी का वास न होवे क्षण में॥

मैं दैवी और आसुरी सभी सम्पद को,
कर दूँ विवेक से पृथक् सुखद दुखप्रद को।
जैसे ग्वाला निज व्रज के सब गोधन को,
समुचित पहचाने यों मैं जानूँ धन को॥ १॥

शुभ गहूँ अशुभ त्यागूँ मैं सब धन में,
बस रमण करे जीवन में पुण्य कमाई।
शुभ भद्र भावना सद्गुण औ' अच्छाई,
छल-छद्म-द्वेष-पाखण्ड-लोभ प्रभुताई।
कर दूँ विनष्ट हट जाये सकल बुराई,
श्री रहे श्रेयकर मेरे हृदय-सदन में॥ २॥

मन-मन्दिर पर हो स्वर्ण-कलश शुभ श्री का,
केतन लहराये पुण्या लक्ष्मी ही का।
आए समस्त धन दैवी खिंच अवनी का,
हो मनोराज्य-निष्कासन दुर्लक्ष्मी का।
फूले मनोज्ञ हितकर प्रसून उपवन में॥ ३॥

हिरण्यगर्भं परमं अनत्युद्यं जना विदुः । स्कम्भस्तदग्रे प्रासिंचत् हिरण्यं लोके अन्तरा ॥ अथर्ववेद १०–७–२८

अर्थ—(जनाः) लोग (हिरण्यगर्भं) हिरण्यगर्भ को (परमं) परम (अन्-अति-उद्यं विदुः) जिससे परे कोई तत्त्व न हो ऐसा जानते हैं। पर (तत् हिरण्यं) उस हिरण्य तेजोमय वीर्य को (अग्रे)सर्गारम्भ से पूर्व (लोके अन्तरा) इस लोक मध्य में (स्कम्भः) उस जगदाधार ने ही (प्रासिंचत्) प्रकृति में सब से पहले जगदुत्पादक परमवीर्य सिंचन किया है।

अनुष्टुप्

हिरण्यगर्भ को परम अनत्युद्य लोक जानें।
अग्र ने स्कम्भ ने सींचा हिरण्य-लोक गर्भ में ॥

पीयूषवर्ष छन्द

तेज ज्योतिर्मय महाद्युतिमान जो,
हिरण्यगर्भ हिरण्यमय जो तत्त्व है।
जन समझते हैं उसे अन्तिम परम,
अतिक्रमण उन्मुक्त संसृति सत्व है ॥

अग्र में प्रारम्भ में पर सर्ग के,
किन्तु तेजोमय महाद्युतिमान को।
स्कम्भ ने धारण किया है सर्वशः,
पूर्णतः सिंचन किया द्युतिमान को ॥

वीर्य भी जिससे हुआ द्युतिमान है,
जिन्दगी में चेतना है प्राण है।
यह उसी स्कम्भ की ही देन है,
यह उसी के तेज का परिणाम है ॥

इस सकल ब्रह्माण्ड का जीवन वही,
बस उसी से सृष्टि का विस्तार है।
सूक्ष्म तैजस लोक सर्गारम्भ में,
प्रगटकर्त्ता है वही आधार है ॥

तमस् रज से सत्व है संसार में,
इन त्रिगुण के मेल से संसार है।
वह मगर इन तीन गुण से है परे,
सत्व द्युति का मात्र वह आधार है ॥

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः। किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीः नेलयन्ति कदाचन ॥
अथर्व १०-७-३७

अर्थ—(कथं) क्यों (वातः) वायु प्राण (न ईलयति) नहीं ठहरता, चैन पाता। (मनः कथं न रमते) मन क्यों नहीं रमता। (किं) क्या (सत्यं प्रेप्सन्ती) सत्य को सत्य स्वरूप तत्त्व को ही प्राप्त करने की अभिलाषार्थ समातुर (आपः) जल-प्रवाह, सृष्टि-प्रवाह (कदाचन) कभी भी (न ईलयति) नहीं ठहरते, विश्राम नहीं पाते।

विश्व जीवन और तन ब्रह्माण्ड का,
पार हो उससे निरन्तर चेतना।
है उसी की दीखती रमणीयता,
है उसी से स्वर्णमय सविता बना ॥

इसलिए संसार के जन जान लो,
ज्योति की वह ज्योति मूलाधार है।
दिव्यताएँ सब उसी से जन्य है,
वह परे पर दिव्यता से पार है ॥

सब जगत् के तेज निधि भण्डार हैं,
तेजमय जीवन हमारा कीजिये।
हम निरन्तर दिव्यता धारण करें,
स्कम्भ हममें प्राण ! सिंचन कीजिये ॥

जान लें हम तेज के भी मूल को,
अमृत जीवनसार को हम जान लें।
कीजिये ऐसी कृपा हम पर प्रभो,
आपको हम पूर्णतः पहचान लें ॥

अनुष्टुप्

क्यों वायु न ठहरता, क्यों रमता मन नहीं।
'आप' किस सत्य के लिए न लेते विश्राम हैं कभी ॥

अन्ति सन्तं न जहाति अन्ति सन्तं न पश्यति । देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥ अ० १०–८–३२

अर्थ—(अन्ति सन्तम्) सदा समीप ही विद्यमान [परमात्म देव] को (न जहाति) न त्यागता (अन्ति सन्तं) समीप ही मौजूद उसे (न पश्यति) तू देखता नहीं । हे मनुष्य तू (देवस्य काव्यं पश्य) परमात्म की रचना को देख जो काव्य (न ममार) कभी मरता नहीं (न जीर्यति) जीर्ण जराग्रस्त नहीं होता, पुराना नहीं होता ।

पीयूषवर्ष छन्द

मन भटकता क्यों किसी की खोज में ।
खोजती नदियाँ किसे हैं मौज में ॥
क्यों ठहर पाती नहीं पल भर हवा ।
चल रहा किस लक्ष्य जीवन-कारवाँ ॥
मन भटकता जिस लिए वह कौन है ?
बह रहा किसके लिए वह पौन है ॥
क्यों नहीं संसार में विश्राम है ।
किसलिए सब चल रहे अविराम हैं ॥
कौन है वह "सत्य" जिसकी चाह है ।
क्यों ठहरता हीन जगत् प्रवाह है ॥
बह रहा किसके लिए यह आप है ।
चल रहे रवि-शशि-नखत चुपचाप हैं ॥
सत्य मुझको सत्य का आलोक दो ।
बेकली मेरे हृदय की रोक दो ॥
प्रगति-पथ चलता हुआ अविराम मैं ।
लक्ष्य पा जाये तुम्हारे धाम में ॥

अनुष्टुप्

है पास वो न त्यागता, तू पास स्थित न देखता ।
देव के काव्य को देख मरे न जीर्ण हो कभी ॥

गीत

जीर्ण नहीं होता जो गीत है पुनीत।
देख देवकाव्य अमर शाश्वत संगीत॥
त्यागता तुझे न कभी देव वह महान्,
सदा ही समीप तेरे पास विद्यमान॥
उसे देखता भी तू नहीं रे अजान!
गूँज रहा आदि से अनन्त अमर गान॥
[सद्य नवल कोमल वह जैसे नवनीत।
देख देवकाव्य अमर शाश्वत संगीत॥
निर्झर के कल-कल में मुखरित है कौन,
सागर के गर्जन में मुखरित है कौन।
तारों की छाहों में गाता है कौन,
झिलमिल रजनी के नीलांचल में मौन॥
कण-कण में गूँज रहा पावन उद्गीथ।
देख देवकाव्य अमर शाश्वत संगीत॥
उषा अरुणाभा में उसका आलोक,
पुलकित हैं जिससे पंकज मनगत शोक।
गुंजित रसधारा से शाश्वत दिव् लोक,
केवल सुन पाते हैं पर पुण्यश्लोक॥
देशकालयुक्त सोम गाता सप्रीत॥
इसमें चिर शान्ति मधुर युक्ति का विधान।
धारा स्वच्छन्द युक्त सतत प्रवहमान॥
बहता रसस्रोत निकट तू न सका जान।
देख मूढ दिव्य काव्य कर ले रसपान॥
युग अनेक बीत गये कल्प गये बीत।
जीर्ण नहीं होता पर गीत वह पुनीत॥

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् । वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः ॥ अ० १-३४-३

अर्थ—(मे) मेरा (निक्रमणं) निकट जाना, मेरी कार्यप्रवृत्ति । (मधुमत्) मधुपूर्ण होवे (मे परायणं) मेरी निवृति, परे होना भी (मधुमत्) माधुर्यमय होवे । मैं (वाचा) वाणी से (मधुमत्) माधुर्यपूर्ण ही बोलता हूँ । इसलिए मैं (मधुसंदृशं) मधुरूप, सर्वत्र सुन्दर सम्यक् मधु का द्रष्टा (भूयासं) हो जाऊँ ।

अनुष्टुप्

हो निक्रमण मधुमत् हो मधुमत् परायण ।
वाणी से मधुमत् बोलूँ हो जाऊँ मधुसंदृश ॥

दिग्पाल छन्द (राजगीत)

माधुर्यवान भगवन् ! जीवन सुमन मधुर हो ।
मेरा गमन मधुर हो मम सम्मिलन मधुर हो ॥
मधुमय वियोग होवे मम सम्मिलन मधुर हो ।
मधुमय बने परायण मम निक्रमण मधुर हो ॥
परदेश भी मधुर हो मुझको वतन मधुर हो ।
कानन अरण्य उपवन आँगन सदन मधुर हो ॥

मेरे वचन में मधुरमय ! माधुर्य रस बसा दो ।
प्रत्येक कार्य मधुमय हो आचरण मधुर हो ॥
माधुर्य-स्रोत ऐसा बस जाय मन नयन में ।
मेरे लिए जगत् सब आनन्दमय मधुर हो ॥
मधुरूप ! माधुरी का द्रष्टा मुझे बना दो ।
दर्शन मुझे जगत् का प्रभु आमरण मधुर हो ॥

मन-वचन-कर्म मेरे माधुर्य में पगे हो ।
जीवन की सब दिशायें मधुसंचरण मधुर हो ॥

केतुं कृण्वन्न केतवे पेशो मर्या अपेशसे। समुषद्भिरजायथाः ॥

ऋ० १–६–३, सा० १३।४–१२–३।

अर्थ—हे (मर्या) मरणशील जनो, यथा (उषद्भिः) उषाओं के साथ (अकेतवे) अचेतन के लिए (केतुं) चेतना करता हुआ और (अपेशसे) कुरूप को (पेशः) सुन्दर दृश्यमान करता हुआ, उदित सूर्यवत् आत्मा भी जड़ देह के लिए ज्ञान चेतना, रूपहीन अपने लिए रूप (कृणवन्) करता हुआ (समुषद्भिः) संताप देने वाले कर्मों द्वारा पुनः (अजायथाः) उत्पन्न होता है।

मधुसंदृशः बनूँ मैं माधुर्यवान वर दो।
उर-पुर मधुर तथा मम अन्तःकरण मधुर हो॥
माधुर्य प्रेम वर्षा से भव्य सुमन विकसे।
सर्वाङ्ग पूर्ण सुन्दर जीवन चमन मधुर हो॥

गायन्त्री छन्द :—

मर्त्यो! जड़ को स्फूर्ति दे सौन्दर्य दे कुरूप को।
उषाओं संग है हुआ॥
केतु करते अपेश औ' उषाओं संग है उगे।
कर रूपहीन को रूपवान, कर अशुभ अपावन को पावन॥
तम जाड्य दैन्यमय जग-जीवन में भर सौवर्ण प्रभा चेतन।
अनुप्राणित हो उठता सजीव जिससे अगजग त्रिभुवन आँगन॥
मानव! तू भी बन शुचिसुन्दर सत्क्षण लाभ कर उन्नतजन।
ज्यों कान्तिमती उषाओं संग होते अरुणोदय कान्त उदय।
मर्त्यो! देवों के साथ-साथ त्यों प्राप्त अभ्युदय करो अक्षय॥

× × ×

मृण्मय जड़ यह चेतनाहीन, सौन्दर्यरहित अपदार्थ दीन।
पाकर किसका शुचि पुण्यस्पर्श हो गया दिव्य चेतना वान।
स्वर्णिम वैभव से हो समृद्ध मृण्मय हो उठा सुरूपवान॥

× × ×

पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते। उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते ॥ अथर्व १०-८-२९

अर्थ—(पूर्णात्) पूर्णपुरुष से (पूर्णं) पूर्ण जगत् (उदचति) निष्पन्न होता है और (पूर्णं) यह पूर्ण जगत् (पूर्णेन) उस पूर्णपुरुष द्वारा (सिच्यते) सींचा जाता है। (उतो) तो (अद्य) आज हम (तद्) उस पूर्ण को (विद्याम) जानें, प्राप्त करें। (यत्) जिससे (तत्) वह पूर्ण जगत् (परिषिच्यते) पूर्णतया सींचा जा रहा है।

कर कुरूप को सुन्दर शोभन अशुभ अपावन को पावन।
दैन्य तिमिरमय जड़-जीवन में भर सौवर्ण प्रभा चेतन ॥
ऊषाओं से समलंकृत यह प्रकट हुआ आदित्य महान्।
अनुप्राणित कर मृण्मय अगजग नवजीवन का दे वरदान ॥

सवैया

तमतोमभरे तन जीवनहीन में जीवनज्योति जगा करके।
अपदार्थ मलीन अशोभन मृण्मय को शुचिस्वर्ण बना करके ॥
निस्पंद अचेतन औ' निश्चेष्ट में जागृति चेतना भर के।
प्रकटी अरुणाभ उषा विमला सह लो अमिताभ दिवाकर के ॥

अनुष्टुप्

पूर्ण से पूर्ण होता है पूर्ण को पूर्ण सींचता।
जान लें आज पूर्ण को जिससे ये सिंच रहा ॥

दुर्मिल छन्द

तुम पूर्ण प्रभो रचना करता परिपूर्ण तथा रचना तव सारी।
जग-जीवन पूर्ण बना तुमसे अभिसिंचित है जग की फुलवारी ॥
हम जान सकें पहिचान सकें बन जायें महापद के अधिकारी।
कवि रामनिवास निराश न हों प्रभु पूर्ण करें सब आस तुम्हारी ॥

इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे। यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः।

अथर्व १०-८-२६

अर्थ—(इयं) यह (कल्याणी) कल्याणकारिणी देवी (अजरा) कभी वृद्धा न होने वाली, अन्तरात्मा चितिशक्ति (मर्त्यस्य) मरणशील मनुष्य के (गृहे) सदन में, गृहवत् शरीर में है (अमृता) अमरणशील है पर (यस्मै) जिसके लिए (कृता) यह धारण की गई है (सः) वह (शये) सोया पड़ा है। इसे (यः) जिसने (चकार) धारण किया है (सः) वह भी जीर्ण हो जाता है।

निराला-मिलिन्द पाद

पूर्ण से पूर्ण का विलय सृजन,
पूर्ण से पूर्ण का अभिसिंचन,
रस पाती उससे जग-जीवन, फुलवारी॥
हम उसको प्राप्त करें जाने,
पूर्ण से पूर्ण को पहिचाने,
हम पूर्ण लक्ष्य के बने पूर्ण अधिकारी॥

अनुष्टुप्

कल्याण्यजरा अमृता, ये आई मर्त्य-गेह में।
सोया वो जिसको आई वह भी जीर्ण हो गया॥

गीत

ये देखो कल्याणी देवी मर्त्यसदन में आई है रे, पर सोया है अभी अभागा॥
जीर्ण न होने वाली माता।
अमृता प्यारी जीवनदाता।
कब से ये कर रही प्रतीक्षा, कर अमृत घट लाई है रे, पर न जीव सोते से जागा॥

मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः । विदुष्टे तस्य मेधिराः तेषां श्रवांस्युत्तिर । ऋ० १-११-७

अर्थ—हे (इन्द्र) परमेश्वर (त्वं) तुम (मायिनम्) मायावी दुष्ट कुटिल बुद्धिवाले (शुष्णम्) प्रजाओं के शोषक को (मायाभिः) मायाओं से, बुद्धि-कौशल से (अवातिर) नीचे गिराओ, नष्ट करो (ते) तुम्हारे (तस्य) उस रहस्य को (मेधिराः) मेधवान ही (विदुः) जानते हैं (तेषां) उनको तू (श्रवांसि) अन्नों को, ऐश्वर्य सत्वयशों को (उत्तिर) प्रदान करो, उद्धार कर दो ।

आज सकारे बैठी द्वारे ।
मंगलमय जीवन आशा रे ।
निर्विकार यह अमृता माता स्नेह लुटाने आई है रे पर न पुरुष ने सपना त्यागा ॥
होगा जीर्ण सदन मनभावन ।
धूलि-धूसरित होगा शोभन ।
उजड़ेगी जीवन-फुलवारी, छवि सुन्दर मन आई है रे खण्डहर में बोलेंगे कागा ॥
कब जागेगा सोने वाला ।
पाकर मंगलमय उजियाला ।
जाग-जाग जड़-जीव अन्तरात्मा ने टेर लगाई है रे जाग जाग अब तो जग जागा ॥

अनुष्टुप्

मायावी शोषकों को तू गिरा इन्द्र मायाओं से ।
जानते विज्ञ ही उसे उनके श्रवों को उठा ॥

हे परमेश्वर ! दीनबन्धु हे ! दीनों के रखवाले सुन ।
तेरी रचना में कितने हैं खून चूसनेवाले सुन ॥

छल कौशल बल कपट जाल से डाल रहे जो मोहनी ।
जन अधिकार दबा बैठे ज्यों मणिरक्षक विषधर फणी ॥

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत। इन्द्रोह ब्रह्मचर्येण देवेभ्य स्वराभरत् ॥

अथ० ११-५-१९

अर्थ—(देवाः) देव, ज्ञानीजन (ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्य के तपोबल से (मृत्युं) मृत्यु को (अपाघ्नत) मार देते हैं, मृत्युंजय हो जाते हैं। (इन्द्रोह) इन्द्र भी (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य से (देवेभ्य) देवों के लिए (स्वः) सुख-तेज को (आभरत्) प्राप्त करता है।

अरे इन्द्र! इन्द्रत्व तुम्हारा है किस वेला के लिए।
नष्ट करो सब कपटजाल को अग्नि तेजमय अग्रणी ॥
ओ माया द्वारा मायावी असुर मिटाने वाले सुन।
तेरी रचना में कितने हैं शोषण करनेवाले सुन ॥
पीड़ित-शोषित-दलितवर्ग सब पाता कष्ट महान् है।
कहाँ गया भगवान तुम्हारा व्यापक न्याय विधान है ॥
पूछ रहे जन कहाँ गया करुणानिधान भगवान है।
क्यों बढ़ता जा रहा निरन्तर असुरों का जयगान है ॥
हे न्यायी हे तेजःशाली हे अनुपम बलवाले सुन।
तेरी रचना में कितने हैं शोषण करनेवाले सुन ॥
शोषकगण से देव! हमारी रक्षा का तुम भार लो।
भक्त जनों के अन्नसत्त्व जीवन यशको विस्तार दो ॥
मेधावी पीड़ित शोषित हैं जो तुमको पहचानते।
हरे! हरो शोषण-कलंक कर शोषण उद्धार दो ॥
[मुहँ के ग्रासछिनर हे देखो जुल्मसितम के नाले सुन।
तेरी रचना में कितने हैं शोषण करनेवाले सुन ॥ ३ ॥]

अनुष्टुप्

ब्रह्मचर्य-तप से ही मृत्यु को देव मारते।
ब्रह्मचर्य से इन्द्र भी, देवों को स्वर दिलाता है ॥

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति । आचार्यो ब्रह्म-चर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते । अथर्ववेद ११.५.१७

अर्थ—(ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्य तपोबल से (राजा राष्ट्रं विरक्षति) राजा राष्ट्र की विशेष रक्षा करता है । और आचार्य ब्रह्मचर्य द्वारा (ब्रह्मचारिणं इच्छते) ब्रह्मचारी की इच्छा करता है ।

भजन

ब्रह्मचर्य से निराली वस्तु दिव्य तेजवाली कोई और नहीं ।
प्राणदान देनेवाली, वस्तु दिव्य तेजवाली कोई और नहीं ॥
देवजनों ने ब्रह्मचर्य के पावनतप बलद्वारा ।
मृत्युभीति को ललकार बन अभय मृत्यु को मारा ।
मृत्युजंयी यशवाली भवसर की मराली कोई और नहीं ॥
परमेश्वर बलवान इन्द्र ने ब्रह्मचर्य के द्वारा ।
देव-जनों के लिए तेज सुख संसृति में विस्तारा ।
इन्द्र जैसा बलशाली गुण ग्राम कीर्तिशाली कोई और नहीं ॥
ब्रह्मचर्य का सोमपान कर मानव बन जाता बल आकर ।
मन करता धरती को राखूँ आज यहाँ से वहाँ उठाकर ।
ऐसी दिव्य बलशाली, जैसे दीप्त अंशुमाली कोई और नहीं ॥
राजा करता राज सुरक्षण, ब्रह्मचर्य कर धारण ।
शारीरिक आत्मिक सामाजिक उन्नति का यह कारण ।
क्षमता बढ़ानेवाली सद्यस्फूर्ति लानेवाली कोई और नहीं ।
ब्रह्मचर्य से निराली वस्तुदिक तेजवाली कोई और नहीं ॥

अनुष्टुप्

ब्रह्मचर्य तप से ही राजा राष्ट्र संभालता ।
आचार्य ब्रह्मचर्य से, चाहता ब्रह्मचारी को ॥

मत्तगयन्द छन्द

संयमसाध अबाध विलास तजे नर नाथ बनें ब्रह्मचारी।
राष्ट्र-सुरक्षण पालन-वर्द्धन सम्यक् है तब ही सुखकारी॥
शिक्षण सम्भव है तब ही जब हों गुरु संयम के व्रतधारी।
रामनिवास बिना ब्रह्मचर्य न शासक शासन के अधिकारी॥

मिलिन्द पाद

न कोई व्यवस्था कभी चल सकेगी।
न संभव है ये कि प्रजा पल सकेगी।
न पोषण न रंजन न पालन ही होगा।
न ऊँचा प्रजाओं का जीवन ही होगा।

जो राजा तो है ब्रह्मचारी नहीं है।
विलासी है पर तेजधारी नहीं है॥

प्रशासक, विधायक अरे राष्ट्रनेता।
बनो संयमी इन्द्रियों के विजेता।
सदाचार धारोगे कल्याण होगा।
तभी राष्ट्र का भव्य निर्माण होगा।

अगर राष्ट्रनेता बनेंगे कुचाली।
बिगड़ जायगी तब प्रजा की प्रणाली॥

सुशिक्षा-व्यवस्था पढाई-लिखाई।
सदाचार बिन जान सकती निभाई।
जो आचार्य इंद्रिय विजेता रहेगा।
वही ब्रह्मचारी की इच्छा करेगा।

सफल ब्रह्म शासन व राजन्य शासन।
कदाचार से है न संभव कदाचन॥

तस्माद् वै विद्वान् पुरुषं इदं ब्रह्मेति मन्यते । सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ।। अ० ११-८-३२

अर्थ—(तस्मात्) इसी कारण (वै) निश्चय ही (विद्वान्) ज्ञानी लोग (पुरुषं) इस पुरुष को (इदं ब्रह्म) "यह ब्रह्म है" (इति मन्यते) ऐसा मानते हैं । (अस्मिन्) इस पुरुषदेह में (सर्वा हि देवता) सब ही दिव्य शक्तियाँ (गावः गोष्ठ इव) जैसे बाड़े में गायें एकत्र होती हैं वैसे ही (आसते) बैठी हैं, विराजमान हैं ।

अरे शिक्षको निज दशा को निहारो ।
बनो राष्ट्र आचार्य आचार धारो ।
संभालों कुमारों की य' राष्ट्र थाती ।
न होकर विलासी बनो राष्ट्रघाती ।
जो आचार्य होगा सदाचार वाला ।
तो फैलेगा कल्याणकारी उजाला ।।
कि जिसने न अपने को ही है सँभाला ।
सँभालेगा क्या राष्ट्र क्या पाठशाला ।।

अनुष्टुप्

विद्वान पुरुष को ही तो, 'ये ब्रह्म है' यों मानते ।
इसी में सर्व देवता बैठे हैं गोष्ठ-गायों वत ।।

दिग्पाल छन्द

गोधन हो गोष्ठ में सब शोभायमान जैसे ।
इस देह में विराजें सब देववृंद जैसे ।।
इस ही से इस पुरुष को विद्वान् मानते यों ।
"यह ब्रह्म है" महत्तम परब्रह्म जानते यों ।।

पद

"यह है ब्रह्म" कहें यों ज्ञानी ॥
तन-ब्रह्माण्डपुरी का स्वामी परम-पुरुष विज्ञानी ।
गौशाला में गौए जैसे, यथा स्थान बैठी हैं तैसे ॥
पुरुष ब्रह्म में विश्वदेवगण समासीन शोभित हैं वैसे ।
अन्तरिक्ष द्युलोक आदि सब इसमें सब जग प्राणी ॥
सकल भुवन ज्यों लोक देव हैं ।
वह इसमें बसते सदैव हैं ।
इसमें ही बसता परमेश्वर ।
जो देवों का महादेव है ।
अन्तर्वासी प्रभु अविनाशी इसकी अकथ कहानी । यह है ब्रह्म कहें यों ज्ञानी ॥

राजगीत

सूरज भी इसी में है चन्दा भी इसी में है ।
स्वामी भी इसी में है बन्दा भी इसी में है ॥
सब लोक सब भुवन भी सम्पूर्ण देवता भी ।
मुक्ति भी इसी में है फंदा भी इसी में है ॥
इस ही से मानते हैं विद्वान् धीर ज्ञानी ।
"यह ब्रह्म है" जगत का धन्धा भी इसी में है ॥
ब्रह्माण्ड सब अरे इस लघु पिण्ड में निहित है ।
अच्छा भी इसी में है गंदा भी इसी में है ॥
बाहर जगत में तेरे भीतर की ही झलक है ।
जूही सरोज रजनीगंधा भी इसी में है ॥
गौशाला में गौएँ ज्यौं त्यौं देव सब इसी में ।
ज्ञानी भी इसी में है अंधा भी इसी में है ॥
यह 'ब्रह्म है पुरुष' तन पुर में विराजता जो ।
अनमोल इसी में है मंदा भी इसी में है ॥
दुख-सुख इसी में प्यारे बाहर क्या खोजता रे ।
इसमें ही ध्येय ध्यानी संध्या भी इसी में है ॥

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्। अभीषाडस्मि विश्वाषाड् आशामाशां विषासहि ॥ अथर्ववेद १२-१-५४

अर्थ—(अहं) मैं (सहमान) सहमान करने वाला (अस्मि) हूँ। (भूम्यां) भूमि पर (उत्तरः नाम) श्रेष्ठतर सर्वजयशील, (अभीषाड) चारों ओर विजयी तथा सहन करने वाला (विश्वाषाड) सब कुछ सहने वाला हूँ (आशां आशां) दिशा दिशा में अभीष्ट कामनार्थ आशा में (विषासहि) विशेष रूप से सहने वाला तथा बार-बार सहने वाला हूँ।

अनुष्टुप्

मैं हूँ सहमान, भू में, उत्तर श्रेष्ठतर् तथा।
अभीषाड् विश्वाषाड्, हूँ आशा-आशा विषासहि।

प्रगीत

भूमाता का अमृत पुत्र हूँ, दिव्य उजाला हूँ, धैर्य का धरने वाला हूँ॥

विश्व आपदायें बाधायें।
सकल कंटकाकीर्ण दिशायें।
मुझे न पथ से विचलित करतीं।
विघ्न व्यूह-चट्टान शिलाएँ।

निर्झर बन गन्तव्य मार्ग पर पर बढ़ने वाला हूँ।
शिला से अड़ने वाला हूँ।
शिला पर चढ़ने वाला हूँ॥

अभीषाड् हूँ उत्तर हूँ मैं।
प्रतिद्वन्द्वी से ऊपर हूँ।
सहनशक्ति से अदम्य दुख का।
मैं सहमान गुणाकर हूँ मैं।

इयं या परमेष्ठिनी वाक्देवी ब्रह्मसंशिता । ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तुनः ॥ अथर्व १९-१-३

अर्थ—(इयं) यह (या) जो (परमेष्ठिनी) परम देव प्रभु में स्थित होने वाली (वाक्देवी) वाणी रूपी देवी (ब्रह्मसंशिता) ज्ञानशाण से तीक्ष्ण की गई है। (यया एव) जिसके द्वारा कि अवश्यमेव (घोरं) बड़े ही घोर कृत्य (ससृजे) किये जाते हैं। (तया एव) उसी ही वाणी से (नः) हमारे लिए (शान्तिः अस्तु) शान्ति होवे।

मैं जीवन-संग्राम सदा सर करने वाला हूँ।
न भय से डरने वाला हूँ।
धैर्य-ध्रुव धरने वाला हूँ॥

विश्व असह्य कुटिलतम दुर्धर।
आओ विघ्न-जाल प्रलयंकर।
विश्वाषाड् विषासहि हूँ मैं।
गरलपानकर्त्ता शिवशंकर॥

बार-बार मैं विश्व आपका सहने वाला हूँ।
सभी कुछ सहने वाला हूँ।
नहीं कुछ कहने वाला हूँ॥

अनुष्टुप्

वाक्देवी परिमेष्ठिनी, यह जो ब्रह्मसंशिता।
जिससे घोर होते हैं, उसीसे शान्ति हो हमें॥

छप्पय छन्द

यह जो परम देव ईश्वर में रहने वाली।
ब्रह्मतेज से तीक्ष्ण कि जिसकी शाण निराली॥

शान्ति क्रान्ति होती पा जिसका एक इशारा।
होते घोर कृत्य सम्पादित जिसके द्वारा॥
वह ब्रह्मसंशिता वाक् जो है देवी परिमेष्ठिनी।
होवे हमको चिर शान्तिमय वाणी कल्याणी घनी॥

दिग्पाल छन्द

परमेश में रहती है परिमेष्ठिनी देवी है।
जिसके समान कोई बल-शक्ति ही नहीं है।
जो ज्ञान-शाण द्वारा पैनी सुतीक्ष्ण की है।
संसार में कि जिसकी महिमा गरीयसी है।
वह वाक् देवी ही है वह वाक् देवी ही है॥ १॥

जो चाहे अगर जगत् में वह आग लगा देवे।
सोये हुए जनों के सौभाग्य जगा देवे।
जादू अनेक जिससे नित चमत्कार होते।
संसार में करिश्मे कौतुक हज़ार होते॥
जो क्रान्तिवाहिनी है जो शान्तिवाहिनी है॥ २॥

[इसमें न विष बसाओ, संसार को मिटाओ।
वैषम्य ज्वाल में मत मनुजो जलो जलाओ।
तुम वाक् अमृत रस का ऊँचा कलश उठाओ।
इसकी सुमाधुरी का अनुभव करो कराओ।
जो तुम प्यार दो जगत् को यह प्यार हेतु ही है॥ ३॥

वाणी कृपाण द्वारा उर में न घाव करना।
मरहम बना गिरा को अन्तर की पीर हरना।
वाणी, कि जिसके द्वारा सम्भव य' हो सकेगा।
बल वाक् का घृणा का अभिशाप खो सकेगा।
कल्याणकारणी यह सन्ताप को नहीं है॥ ४॥]

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् । तेन त्यक्तेन भुंजीथा मागृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ यजु० ४०–१

अर्थ—(ईशा) ईश से (आवास्यम्) आच्छादित, आवासित, बसा हुआ (इदं सर्वं) यह सब जगत् (यत्) जो (किंच) कुछ भी (जगत्यां) जगत् में (जगत्) चंचल सृष्टि है (तेन त्यक्तेन) उसके छोड़ने से, त्यक्त या दिये से ही (भुंजीथा) अपना भोग प्राप्त कर (मा गृधः) लालच मत कर (कस्य स्वित् धनं) किसी के धन को, अथवा (धन किसका है, सब प्रजापति का है ।)

भगवान मेरी वाणी में माधुरी बसा दो ।
वैषम्य द्वेषमत्सर कटुता प्रखर हटा दो ।
भगवान् मेरी वाणी यह शक्तिदायिनी हो ।
यह स्वस्तिदायिनी हो सुख की विधायिनी हो ।
कर दो पवित्र वाणी बस प्रार्थना यही है ॥ ५ ॥

अनुष्टुप्

ईशावास्य यह सारा, जो भी जीवन जगत् में ।
उससे त्यक्त को भोगो चाहो ना किसी का धन ॥

बरवै छन्द

जो कुछ जग-जीवन है ईशा वास ।
भोगो पर परधन की करो न आस ॥

दोहा

ईश्वर का आवास यह, सब जग में, चैतन्य ।
अनासक्ति से भोग सब लुब्ध न हो धन अन्य ॥

पद

ईश्वर व्यापक है कन-कन में—
परिवर्तनमय इस संसृति के जग-जीवन चेतन में ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

अर्थ—हे मनुष्य (इह) इस संसार में (कर्माणि) कर्मों को (कुर्वन्) करता हुआ (एव) ही (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे (शतं समाः) सौ वर्षों की। (एवं) इस तरह पूर्व मन्त्र के अनुसार त्यागपूर्वक, कर्म करते हुए (त्वयि) तुझ (नरे) मनुष्य में (कर्म न लिप्यते) कर्म लिप्त न होगा। (इतः अन्यथा) इसके अतिरिक्त (न अस्ति) अन्य मार्ग नहीं।

जो कुछ भी है जग में प्यारे,
है उसकी ही देन सखारे,
रिक्त न कोई भी उससे है वस्तु काल त्रिभुवन में ॥

अनासक्ति से भोग प्राप्य जन,
मत आसक्त कभी कर निज मन,
गृद्धदृष्टि से कभी न पर धन, पर लोलुप हो मन में ॥

मानव रे यह धन किसका है,
यह वैभव जीवन किसका है,
है सम्पूर्ण प्रजापति का ही, भोग प्राप्य जीवन में ॥

अनुष्टुप्

करते हुए कर्मों को, यहाँ शतायु चाह तू।
यही इससे अन्य ना, न होगा लिप्त कर्म में ॥

बरवै छन्द

कर्मों को करते कर, शतायु चाह।
कर्म नहीं लिपटेगा यह है राह ॥

बह्विदं राजन् वरुण अनृतमाह पूरुषः । तस्माद् सहस्र-वीर्य मुंच न पर्यंहसः । अथर्व० १९-४४-८

अर्थ—(वरुण) वरणीय, पापनिवारक, (राजन्) हे राजा (पूरुषः) मनुष्य (इदं) यह (बहु) बहुत (अनृत) झूठ को (आह) बोलता है (तस्मात्) उस (अंहसः) पाप से (सहस्रवीर्यं) अमित बल वाले ! तू (नः) हमें (परिमुंच) सब तरफ से छुड़ा दे ।

पुच्छल दोहा

कर्मों को करते हुए कर शतायु अभिलाष ।
इससे भिन्न न मार्ग जो छुटे कर्म का पाश
—मनुज संसार में ॥

पद

रे नर कर्म कर निष्काम,
इस संसृति के पंक मध्य तू बन पंकज अभिराम ॥
कर्मों को करते-करते नर,
शतायु जीवन की इच्छा कर,
इस प्रकार तुझको न ग्रसेगा जगबंधन अविराम ॥
इससे अन्य उपाय नहीं है,
मुक्तिमार्ग बस एक यही है,
निज कर्त्तव्य मार्ग पर बढ़ दृढ़ देख नहीं परिणाम ॥

अनुष्टुप्

नर ये राजन् वरुण ! जो बहु झूठ बोलता ।
सहस्रवीर्य तू हमें छुड़ा दे उस पाप से ॥

विहारी छन्द

हे वरुण वरणयोग्य हे संतापनिवारक ।
राजन् महान् सर्व प्रजा पापनिवारक ॥

ये ग्रामा यदरण्यं या सभा अधिभूम्याम् । ये संग्रामा समितयः तेषु चारु वदेम ते ॥ अ० १२-१-५६

अर्थ—(अधिभूम्यां) इस भूमि पर (ये ग्रामाः) जो ग्राम हैं (यद् अरण्यं) जो जंगल हैं (या सभाः) जो सभाएँ हैं (ये संग्रामाः) जो संग्राम हैं । (समितयः) समितियाँ हैं (तेषु) उन सब में हम हे भूमिमातः (ते) तेरे लिए हम (चारु) उत्तम ही वाणी (वदेम) बोलें, तेरा यशोगान करें ।

तुम शक्तिमान हो अनंत वीर्यमान हो ।
हमको सु सत्यवादिनी शुभशक्तिदान दो ॥
जो बोलता मनुज असत्य बात-बात में ।
हर तुच्छ बात में अनेक दिवस-रात में ॥
सब ओर से उसी असत्य पाप से बचा ।
राजन् ! हमें सदैव सत्य मार्ग पर चला ॥
दौर्बल्य अनृत का हटे सुशक्ति दो हमें ।
हे नाथ सत्य के लिए सुभक्ति दो हमें ॥
वह शक्ति दो कि सत्य सुनिष्ठा न हिल सके ।
जीवन सरोज सत्य-सूर्य-प्रभा खिल सके ॥
सब भाँति छुड़ा दो अनृत कलाप से हमें ।
करते रहो विमुक्त सदा पाप से हमें ॥
निर्भीक चलें देव सदा सत्य मार्ग हम ।
राजन् ! अनन्तवीर्य ! डगमगाँय ना कदम ॥

अनुष्टुप्

जो ग्राम जो अरण्य हैं जो सभा इस भू पर ।
जो संग्राम समितियाँ उनमें तुझे चारु कहें ॥

रूपमाला छन्द

भूमि पर जो हैं अवस्थित विजनवन अभिराम ।
जो धरा के क्रोड़ में शोभित नगर पुर ग्राम ।।
जो सभाएँ जो समितियाँ संगठन के काम ।
क्षेत्र हैं विस्तीर्ण एवं जो अमित संग्राम ।।
इन सभी के बीच हम शुभ लें तुम्हारा नाम ।
चारु वचनों से तुम्हें करते विनीत प्रणाम ।।

× × ×

हम धरा के ग्राम नगरों काननों में रम्य ।
चारुवचनों से तुम्हारा करें स्तवन अनन्य ।।
हम सभाओं समितियों में संगठन में नित्य ।
चारुवचनों से तुम्हारा करें वन्दन कृत्य ।।

शान्ति अवसर पर्व में हम करें तुमको याद ।
घोर हम संग्राम में हम करें तव जयनाद ।।
हम कहीं हों, सब दशाओं में सदा उन्मुक्त ।
करें हम तव हेतु पावन चारु वचन प्रयुक्त ।।
चारुवचनों का दयामयि ! दीजिये वरदान ।
कीजिये हम पर कृपा गायें तेरा जय-गान ।।

मत्तगयन्द छन्द

ग्राम अरण्य तथा पुर में हम भूमि अवस्थित सांझ-सकारे ।
शान्ति समाज सभा समिति रण में जन-क्रान्ति अशान्ति किनारे ।।
भू पर ऊपर होय कहीं दुख में सुख में तुम को न विसारे ।
रामनिवास विनीत पुनीत सदा तुम को हम चारु उचारें ।।

यथा प्राण बलिहृतः तुभ्यं सर्वा प्रजा इमाः । एव तस्मै बलिं हरान् यस्त्वा श्रुणवत् सुश्रवः ।।

अर्थ—हे प्राण ! (यथा) जैसे (इमाः सर्वाः प्रजाः) यह सब प्रजायें (तुभ्यं) तेरे लिए (बलिं हृतः) बलि का अन्न, भेंट से उपासना करती हैं । (एवा) इसी भाँति (तस्मै) उस पुरुष के लिए भी सब ये प्रजाएँ (बलिं) भेंट को (हरान्) लाती हैं । (यः सुश्रवः) जो कि सुन्दर सुनने वाले पुरुष (त्वां) तुझे (श्रुणवत्) सुनता है ।

अनुष्टुप्

जैसे प्राण बलि लातीं तुझको सर्व ये प्रजा ।
वैसे उन्हें भेंट लातीं, जो सुश्रव सुनें तुझे ।।

चौपाई छन्द

तना तुम्हारा सुयश वितान ।
सुन्दर सुनने वाले प्राण ।।
सकल प्रजायें तव हित तात ।
बलि हृत् हैं हे जीवननाथ ।।

लाती नित्य नये उपहार ।
अन्न-भेंट जीवन आधार ।।
तुमजग पूजित वंद्य महान् ।
सुघर सुनाने वाले प्राण ! ।।

प्राण तुम्हारे जो अनुरक्त ।
जगती उनकी भी है भक्त ।।
जो सुनते तेरा संदेश ।
वह पाते आदर सविशेष ।।

बलि करती सब प्रजा प्रदान।
यशी-सुनाने वाले प्राण॥
हम भी सुनें तुम्हारा गान।
हम भी करें तुम्हारा मान॥
हम भी रखें तुम्हारा ध्यान।
प्राण, परमपूजित भगवान्॥
भक्ति-शक्ति दो दान महान्।
सुश्रव प्राण! परमप्रिय प्राण!॥

वीर छन्द (मिलिन्द पाद)

लाती हैं बहुभाँति प्रजायें तुम्हें भेंट नव-नव उपहार।
प्राण तुम्हारे अभिनंदन को खुले हृदय-मंदिर के द्वार॥
हे सुन्दर सुश्रव यशवाले, सुघर सुनाने वाले प्राण।
जो सुनते हैं तुम्हें प्रजाओं से पाते वह बलि सम्मान॥
प्राण तुम्हारे भक्तों के हित हृदय-हृदय के खुले कपाट।
तेरे सुनने वाले जगमें पाते बलि जीवन-सम्राट॥

गीत

प्यारे हमारे प्यारे जीवन-धन प्राण रे।
सुन्दर सुनाने वाले जीवन का गान रे॥
ताना है तुमने जग में यश का वितान न्यारा।
करती उपासनाएँ नानाविध भेंट द्वारा॥
करती प्रजायें तुम्हें बलि का विधान रे।
सुन्दर सुनाने वाले जीवन सुगान रे॥
और प्राण जो भी तेरी साधनानुरक्त है।
करता उपासना जो जो कि प्राणभक्त है॥
वह महाप्राण! पाता मान-सम्मान रे।
करें प्रजायें उसे भेंट का विधान रे॥

नमस्ते अस्तु आयते नमो अस्तु परायते। नमस्ते प्राण तिष्ठते आसीनायोत ते नमः। अ० ११-४-७, ११-२-१५

अर्थ—हे प्राण! (आयते ते नमः) आते हुए तुम्हें नमन हो (परायते नमः) तुझे जाते को नमन (तिष्ठते) बैठे हुए (उत्) और (आसीनाय) स्थिर हुए (ते नमः) तुम्हें नमस्कार हो।

अनुष्टुप्

नमस्ते हो आते हुए नमस्ते हो जाते हुए।
नमस्ते प्राण ठहरते, बैठे हुए तुझे नमः॥

दिग्पाल चतुष्पदी

आते हुए नमस्ते जाते हुए नमन हो।
ठहरे हुए नमस्ते बैठे हुए नमन हो॥
हे प्राण! मेरे जीवन-आधार प्राणप्यारे।
सब काल सब दशा में मेरा तुझे नमन हो॥

पद

नमन हो तुमको बारम्बार।
जीवनवल्लभ प्राण हमारे हे जीवन आधार॥
आगम पर भी तुम्हें नमन हो।
और गमन पर तुम्हें नमन हो।
ठहरे बैठे हुए हमारे नमन करो स्वीकार॥
सभी दशाओं में जीवन-धन।
तुमको मेरा नत अभिनंदन।
करते रहो सदा हममें नव जीवन का संचार॥
जीवन के संचालक प्यारे।
सतत हृदय में रमो हमारे।
प्राण हमारे जीवन में तुम करो प्रगति-विस्तार॥

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः। अहोरात्रे प्रजायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः। अथर्व० १०-८-२३

अर्थ—(सनातनम्) सनातन, शाश्वत (एनं आहुः) इस देव को कहते हैं (उत्) और [फिर भी यह देव] (अद्य) आज, प्रतिदिन (पुनः नवः) फिर नया (स्यात्) होता है। जैसे (अहोरात्रे) ये दिन-रात (अन्य अन्यस्य) एक दूसरे के (रूपयोः) रूपों में, समान रूपों में ही (प्रजायेते) पैदा होते हैं।

अनुष्टुप्

इसे सनातन कहा, होता नित्य पुनः नया।
दिन-रात ज्यों हो रहे अन्य अन्य के रूपों में॥

राधिका चतुष्पदी

उसको कहते हैं यद्यपि देव सनातन।
पर वह पुनरपि हो रहा आज नव-नूतन॥
दिन-रात एक से नित्य रूप धर कर ज्यों।
आ रहे निरन्तर हैं लाते नव-जीवन॥

धीर चतुष्पदी

वह सनातन देव है प्राचीन, किन्तु पुनरपि दिव्य नित्य-नवीन।
यथा निज-निज रूप धर दिन-रात, हैं पुरातन और अर्वाचीन॥

घनाक्षरी

कहते हैं मनीषी सब देव सनातन उसे,
ब्रह्म व' पुरातन अनादि कहलाता है।
फिर भी व' पुरुष पुरातन नवीनतम—
अद्य सद्यः नित्य नव-नव सरसाता है॥

वालादेकमणीयस्कं उतैकं नैव दृश्यते । ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥ अथर्व० १०–८–२५

अर्थ—(एकं) एक [प्रकृति] (वालात्) वाल से भी (अणीयस्कं) सूक्ष्म अणु है (उत्) और (एकं) एक अन्य (नैव दृश्यते) दीखता सा नहीं (ततः) उससे परे (परिष्वजीयसी) उसे आवेष्टित किए (देवता) देवी है (सा) वह (मम प्रिया) मुझे प्यारी है ।

पुरुष पुरातन विधाता सुखदाता प्रभु,
जीर्णता का भय उसे कभी न सताता है ।
जैसे दिन-रात का प्रपात है सनातन से,
पर वह नित्य नव रूप धर आता है ॥

आती है उषा सदैव प्राची पथ द्वार खोले,
कुंकुम का थाल लिए आरती उतारती ।
सविता का आता है प्रभात में अरुण रथ,
रश्मियाँ उसी की नित्य दिव्यता प्रसारती ॥

व्योम-सोम-कौमुदी से पुलकित रोम-रोम,
सुधापान करन अघाती कभी भारती ।
पुरुष पुरातन सनातन से यों नवीन–
शर्वरी उसी की छवि धारती पधारती ॥

अनुष्टुप्

बाल से एक सूक्ष्म है, एक दीखता नहीं वत् ।
परे जो व्यापे उसको वह देवी है मम-प्रिया ॥

सार छन्द

एक बाल से भी अतिशय अणु सूक्ष्म रूप है सारी ।
और सूक्ष्मतर अपर अलक्षित अतिशय प्रेम-पुजारी ॥

उससे परे समालिंगित जो व्याप्त सूक्ष्मतम न्यारी।
वही सुखारी देवी एकमात्र है मेरी प्यारी॥

एक प्रकृति जड़ रूप सूक्ष्म अणुओं की संगठन है।
निरानन्द है जो भी दिखलाई पड़ती रचना है॥
एक स्वयं मैं प्रेमी तन्मय अतिशय प्रेम-पुजारी।
रोम रोम में रमी वही दिव्या है मेरी प्यारी॥

मेरी आत्मा की आत्मा है ज्ञानमयी मनहारी।
मेरी जीवन की जीवनधन ज्योतिरूपिणी सारी॥
एकमात्र आनन्द रूप- वह पूर्ण प्रेम अधिकारी।
ओतप्रोत कण-कण में वह सुख-स्रोत हमारी प्यारी॥

मेरे अन्तर में प्रकाश उस ही जीवन-धन का है।
प्रकृति नटी में यह सुन्दरपन उस सुन्दरतम का है॥
स्वर्णमयी चमकीली दिखने वाली वस्तु घनी है।
उसके ही आलोक रूप से ये रमणीक बनी है॥

इस द्यावा-पृथ्वी की जो भी है शाश्वत सुन्दरता।
इसमें जो भी जागृति जीवन का है स्रोत उमड़ता॥
इस सुन्दरता, चेतनता, सुख की जो स्रोत बनी है।
देवी प्यारी वही मुझे जिससे प्यारी अवनी है॥

मेरी प्रेमशक्ति नौका का है वह मात्र किनारा।
मेरे अभ्यन्तर में उसका बसा प्रेम उजियारा॥
उसके प्रेम-प्रकाश दिव्य से जगमग जीवन सारा।
मेरी प्रिया वही है जिसने जग में प्रेम पसारा॥

हे मेरी जीवनधनिके! अब कृपा करो अपनाओ।
मुझे सच्चिदानन्दरूपिणी निज अनुरूप बनाओ॥
मत संसृति की मृगतृष्णा में मुझे और भटकाओ।
हे प्राणों की प्राण मुझे निज प्रीतिदान दे जाओ॥

अव मा पाप्मन्सृज वशी सन् मृडयासि नः । आ मा भद्रस्य लोके पाप्मन् धेहि अविह्रुतम् ।। अ० ६-२६-१

अर्थ—(पाप्मन्) हे पाप तू (मा) मुझे (अवसृज) छोड़ दे (वशी सन् वशीभूत, मेरे वश में होता हुआ (नः मृडयासि) हमें तू सुखी कर (पाप्मन्) हे पाप तू अब (अविह्रुत) सरल बने (मा) मुझे (भद्रस्य लोके) कल्याण के लोक में (आधेहि) स्थापित कर दे ।

अनुष्टुप्

तू पाप मुझे छोड़ दे, वशी हो सुखद हमें ।
पाप, ऋजु बने मुझे, भद्र के लोक में बसा ।।

पाप त्याग दे मुझे वशीकृत हो, मुझको सुख दे जा ।
मुझ अकुटिल जीवन को भद्रलोक में पहुँचा, ले जा ।।

गीत

पाप ! मत ताप दे घोर सन्ताप दे और अभिशाप दे, छोड़ दे अब मुझे ।।
तेरे वश में रहा दुःख पाता ।
तू रहा मुझको निशिदिन सताता ।।
तेरे वश में रहा, नित भटकता अहा !
जिंदगी भर सदा दुःख पाता रहा ।।
अब वशीभूत हो मन मेरा पूत हो ।
शुद्ध आकूता हो मान मेरा कहा ।।
मेरे मन की तपन, आज कर दे शमन, पाप तू भाग, सुख छोड़ दे अब मुझे ।।
अब कुटिलता की मैं राह त्यागी ।
बन सरल, मैं बना पुण्य-भागी ।।
विश्व के दाह को, सब कुटिल राह को, दुष्ट सब चाह को, मैंने त्यागा अरे ।।

उत्तिष्ठत अवपश्यत इन्द्रस्य भागमृत्वियम्। यदि श्रान्तं जुहोतन यद्यश्रांत ममत्तन ॥ ऋ० १०-१७९-१, अथर्व ७-७२-१

अर्थ—हे मनुष्यो (उत्तिष्ठत) उठो (अवपश्यत) और सावधानी से देखो (इन्द्रस्य) इन्द्र के (ऋत्वियं) ऋतु अनुकूल (भागं) भाग को, हवि भाग को देखो (यदि) यदि (श्रान्तं) हवि पकी है तो (जुहोतन) इसका हवन कर दो और यदि (अश्रान्त) अपरिपक्व है तो (ममत्तन) प्रसन्न होकर और पकाओ।

मैं बुराई तजी और सरलता गही, झूठ पाखण्ड से दूर भागा अरे ॥
दूर कर शोक से, भद्र के लोक से, पुण्य आलोक से जोड़ दे अब मुझे।
पाप मत ताप दे घोर सन्ताप दे और मत शाप दे छोड़ दे अब मुझे ॥

अनुष्टुप्

उठो अवलोको जनो ! इन्द्र के ऋत्वियभाग को।
जो पक्व तो होम दो अश्रांत को पक्व करो ॥

सार छन्द

उठो सजग हो सम्यक वैभव बलि का भाग विलोको,
यदि पक गई शस्य हवि तो तुम होम करो मत रोको।
यदि अपूर्ण है अपरिपक्व है तो भी मस्त रहो तुम,
पुनः पका अवसर आने पर बलिहित व्यस्त रहो तुम ॥

शक्ति छन्द

[तुम्हें इन्द्र ने फिर पुकारा उठो।
समय का बजा फिर नकारा उठो ॥]
अरे मानवो सावधानी करो,
उठो, जागकर प्राप्य वर को वरो।
उठो इन्द्र की सम्पदा को लखो,
व्यवस्थित सुजीवन सफल भाग को ॥

प्रभो ने दिया जो तुम्हें भाग रे,
फसल जिन्दगी की पकी जाग रे।
पकी जो फसल तो उसे होम दो,
बना हव्य-जीवन, पका सोम दो।
समय इन्द्र को आज बलिदान की,
हुई कामना त्याग की दान की।
भलीभाँति से तुम लखो काल को,
लखो ध्यान से काल की चाल को।

अगर हव्य में है अपरिपक्वता,
कहीं लेश भी पूर्णता हीनता।
तो इससे न तुम मन को भारी करो,
दुखी होके मत आहो जारी करो।
सजग हो समय को निरखते चलो,
फसल को पकाते परखते चलो।
पके जब कभी पूर्णता प्राप्त हो,
तुम्हें पूर्ण सम्पन्नता प्राप्त हो।
पकी का न रखने का अधिकार है,
भजन होम करना यही सार है।
कि हो पूर्ण यौवन सुजीवन फसल,
तभी जिंदगी का हवन है सफल।

कि जब भी समय की कभी माँग हो,
तो अक्सर नखो हव्य दो भाग दो।
अगर है सही पक्वता पौढ़ता,
तभी हव्य की दान की पूर्णता।
अगर पूर्णता में कमी है अभी,
तो आयेगी परिपूर्णता भी कभी।

यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विषन् शपाति नः । देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रम्ह वर्म ममान्तरम् ।। अ० १-१९-१

अर्थ—(यः) जो (सपत्नः) प्रतियोगी, प्रतिद्वन्द्वी (यः) जो (असपत्नः) असमान, क्षेत्र में शत्रु हैं (यः च) और जो (द्विषन्) द्वेष करता हुआ (नः) मुझे (शपाति) शाप देता है, कोसता है (तं) उसे (सर्वे देवाः) सब देवगण (धूर्वन्तु) ताड़ना करें । (मम) मेरा (अन्तरं) भीतरी (वर्म) कवच (ब्रह्म) ब्रह्म है, ज्ञान है ।

न आशा तजो नित सजग हो रहो,
सदा मस्त होकर सफलता गहो ।
उठो और जागो अभीप्सित लहो,
बनो श्रेष्ठ उद्बुद्ध होकर रहो ।
समय का समझ के इशारा उठो,
तुम्हें इन्द्र ने फिर पुकारा उठो ।
उत्तिष्ठत् जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत-कठोपनिषद्

अनुष्टुप्

जो सपत्नासपत्न हैं, द्वेषी शापते मुझको ।
सर्व देव उन्हें ताड़ें, मेरा तो वर्म ब्रह्म है ।।

पद

ब्रह्म मम अन्तर् वर्म बना ।
दिव्य हुआ जीवन यह मेरा दिव्य ज्ञान अपना ।।
[द्वेष मुझे अब है न किसी से,
क्लेश मुझे अब है न किसी से ।।
लेश मुझे अब है न किसी से—
मत्सर मोह घृणा ।।
बन्धु हो गई सर्व-रचना, मुझे तो है तप में तपना ।]

इन्द्र शुद्धो हि नो रयिं शुद्धो रत्नानि दाशुषे । शुद्धो वृत्राणि जिघ्नसे शुद्धो वाजं सिषाससि ॥ ऋ० ८-९५-९

अर्थ—हे ऐश्वर्यवन्! (शुद्धो हि) सदा शुद्ध रूप ही तुम (नः) हमको (रयिं) ऐश्वर्य को देते हो (शुद्धः) सर्वदा शुद्ध रूप ही तुम (दाशुषे) दानशीलों के लिए (रत्नानि) रत्नों को, रमणीय धनों को देते हो। (शुद्धः) शुद्ध हुए तुम (वृत्राणि) वृत्रों को, पापों को, बाधाओं को (जिघ्नसे) हनन करते हो। और शुद्ध ही तुम (वाजं) ज्ञान-बल को (सिषाससि) देते हो, प्रदान करते हो।

फिर भी जो ईर्ष्या से प्रेरे,
हैं सपत्न असपत्न घनेरे।
जो विद्वेषी मुझे निरन्तर देते शाप घना ॥
लखे मेरा अनिष्ट सपना,
सदा विष बरसाये रसना।
उनका करें देवगण ताड़न,
करें ज्ञान मेरा संरक्षण ॥
सर्व देवगण द्वेषी जन को वर्जन करें मना, नहीं मैं उनसे करूँ घृणा।
मुझे तो प्रेममंत्र जपना ॥
अन्तरधार विवेक वर्म मैं,
करूं सतत कर्त्तव्य कर्म मैं।
विचलित करें न द्वेषीजन की मुझ को विषरसना ॥
ध्येय पथ तजूं न मैं अपना।
ज्ञान को रक्षा-कवच बना ॥

अनुष्टुप्

शुद्धेन्द्र देते हमें रयि, शुद्ध ही रत्नदाता को।
शुद्ध! वृत्र हनते हो शुद्ध ही वाज को देते ॥

बिहारी छन्द

हे इन्द्र तुम महान हो ऐश्वर्यवान हो।
अन्तर में हमारे सदा विराजमान हो॥
देते हो तुम हमें रयि द्रविण विशुद्ध धन।
देते हो तुम विशुद्ध दानशील को रतन॥
करते हो तुम विशुद्ध विघ्न वृत्र का हनन।
देते हो तुम विशुद्ध ज्ञान आत्मशक्ति धन॥
तुम शुद्ध हो समर्थ दिव्य शक्तिमान हो।
अन्तर में हमारे सदैव विद्यमान हो॥

मेरे विशुद्ध इन्द्र मेरे शुद्ध आत्मधन।
व्यवधान विघ्न कंटकों का कीजिये हरण॥
कर दो अनिष्ट पाप ताप जाल दुर्व्यसन।
जीवन-समस्त वृत्र असुर सैन्य का हनन॥
जीवन हमारा शुद्ध हो दैदीप्यमान हो।
अन्तर में हमारे सदा विराजमान हो॥

जीवन से अनैश्वर्य मलिनता हटाइये।
दारिद्रय दैन्यभाव रूप सब मिटाइये॥
सर्वोच्च ज्ञान वाज की गंगा में नहा दो।
मेरे महान् इन्द्र कृपास्रोत बहा दो॥
जीवन हमारा दिव्य जनों के समान हो।
हे इन्द्र तुम महान् हो ऐश्वर्यवान् हो॥

अवयत्स्वे सधस्थे देवानां दुर्मतीरीक्षे । राजन्नप द्विषः सेध मीढ्वो अप स्रिधः सेध ॥ ऋ० ८–७९–९

अर्थ—(राजन्) हे राजन् ! हे राजनीय ! सुन्दर ! (यत्) जब (स्वे) अपने (सधस्थे) इस सहस्थान में (देवानां दुर्मतीः) देवों की दुर्मतियों को अव (ईक्षे) देख (मीढ्वः) हे सिंचन करने वाले तुम (द्विषः) द्वेषों को (अपसेध) दूर कर दो और (स्रिधः) हिंसा-वृत्तियों को (अवसेध) दूर कर दो ।

अनुष्टुप्

देख स्व सहधाम में ! राजन् ! देवों की दुर्मति ।
हटा सिंचक द्वेषों को, हिंसा भावों को हटा ॥

वीर छन्द

हे विराजने वाले राजन् ! सोम हृदय स्थित सौम्य स्वभाव ।
जब अपने सहस्थान हृदय में देखो देव कुमति दुर्भाव ॥
तब हे सिंचन करने वाले ! द्वेष करो, दुर्गुण परिहार—
देव जन्य दुर्मति हिंसादिक हरो करो मम हृदय उदार ॥

गीत

सोम हे हे राजन् चितचोर !
करो करुणाकर करुणा कोर ।
हृदय-मन्दिर में हे राजन् ।
तुम्हीं हो सौम्य सुमति के धन ।
तुम्हीं से शासित जग जीवन ।
सोम देखो निज जन की ओर ।
करो करुणामय करुणा कोर ॥

देवगण मुझे सताते हैं ।
द्विण्यता तज भटकाते हैं ।

द्वेष में मुझे तपाते हैं।
ज्वाल हिंसा उकसाते हैं।
हृदय जल रहा अनल है घोर।
करो करुणाकर करुणा कोर॥

तुम्हारा राजभवन प्यारा।
बना है दुर्मति की कारा।
हृदय में कर दो उजियारा।
बहा दो अमर-प्रेम धारा।
उठा दो अन्तर प्रेम हिलोर।
करो करुणाकर करुणा कोर॥

देवगण जब जब जीवन में।
लगे दुर्मति के चिन्तन में।
तभी सिंचन करने वाले!
हरो दुर्मति, हरने वाले।
हृदय दो सुमति सुधा में बोर॥

प्रेम-रस का सिंचन कर दो।
हृदय से द्वेष घृणा हर दो।
दूर दुर्मति दुर्गुण कर दो।
सुमति सद्गुण जीवन वर दो।
मुझे कर दो आनन्दविभोर॥

सुधा की धारा बरसा दो।
हृदय-मंदिर को नहला दो।
हृदय की कलिका विकसा दो।
सुमन जीवन का सरसा दो।
नचा दो करुणाघन मनमोर।
करो करुणा के करुणा कोर॥

यद् वर्चो हिरण्यस्य यद्वा वर्चो गवामुत । सत्यस्य ब्रह्मणो वर्चः तेन मा संसृजामसि ॥ सा० ६-१३-१०

अर्थ—(यत्) जो (हिरण्यस्य वर्चः) वीर्य का तेज है (य त्वा गवाम्) जो कुछ भी किरणों का अथवा इन्द्रियों का वर्च है । (उत् वा) और (सत्यस्य ब्रह्मणः वर्चः) सत्य का, ब्रह्म का, ज्ञान का वर्च है (तेन) उनके सहित (मा) मुझे अपने को (संसृजामसि) सम्यक् संयुक्त करें ।

अनुष्टुप्

जो हिरण्य का वर्च है एवं जो वर्चस् गौ का है ।
सत्य-ब्रह्म वर्च हो हमें सम्यक् संयुक्त हों ।
जो हिरण्य का तेज है औ' जो गो-वृंद का तेज है ।
सत्य-ब्रह्म तेजोबल सबसे ही संयुक्त हों ॥

छप्पय

जो हिरण्य का तेज-वीर्य का जो वर्चस् है ।
रश्मि-राशि इन्द्रियसमूह का जो वर्चस् है ।
ब्रह्म-ज्ञान सत्यस्वरूप का तेज सुयश है ।
जो शारीरिक आत्मिक द्युति है तैजस रस है ।
मैं सम्यक् इन सब तेज को धारूँ तेजस्वी बनूँ ।
सर्वतोमुखी सब रूपसे पूरा वर्चस्वी बनूँ ॥

महाशक्ति छन्द

मैं बनूँ पर्णतः ज्योतिमय तेजमय ॥
मैं अमित वीर्य का तेज धारण करूँ ।
शक्ति-बल को वरूँ विघ्नदारण करूँ ॥
शारीरिक शक्ति से विश्व-रक्षण करूँ ।
दर्प मैं ना करूँ पर न पीड़न करूँ ॥
वीर्य के तेज से मृत्यु से हूँ अभय ॥ १ ॥

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह । वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ अ० १-१-२

अर्थ—(वाचःपते) हे वाणी के पालक देव ! तुम (पुनः) फिर (एहि) आओ (देवेन) देव (मनसा सह) मननक्रिया के साथ आओ। (वसोष्पते) हे वसु के स्वामी ! तुम (निरमय) रमण कराओ, आनन्द दिलाओ (मयि श्रुतं) मुझमें सुना हुआ (मयि एव अस्तु) मुझमें ही हो—मुझमें स्थिर रहे ।

इन्द्रियाँ सर्व मम शक्ति का स्रोत हों ।
तेजोबल से सदा ओत हों प्रोत हों ॥
विश्व-अर्णव उतरने को ये पोत हों ।
ये न भटकाँय तम में सबल जोत हों ॥
धार संयम करूँ तेज संचय अक्षय ॥ २ ॥

सत्य की दीप्ति, वर्चस् से दीपित रहूँ ।
ब्रह्म के तेज से मैं समावृत्त रहूँ ॥
ज्ञान से मानसिक शक्ति को मैं गहूँ ।
आत्मिक तेज, वर्चस् से ज्योतितर हूँ ॥
तेजोमय तेज दीजे यही है विनय ॥ ३ ॥

अनुष्टुप्

पुनः आओ वाचस्पते, मनदेव के संग में ।
वसोष्पते ! रस दिला, मुझमें हो मेरा सुना ॥

चतुष्पदी

ज्ञान-वाणी पति हे ! मुझमें पुनः आ जाओ ।
मनन के साथ ही द्युतिमान रमो अपनाओ ॥
विश्ववसुओं के पति ! श्रुतिगत ज्यो हों मेरा—
मुझमें ठहरे स्थिर हो वर दो मुझमें आओ ॥

काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितं । कालोह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत प्रजापतेः ॥ अथर्व ११-५३-८

अर्थ—(काले) काल में, (तपः) तप (काले ज्येष्ठं) काल में ज्येष्ठत्व और (काले ब्रह्म) काल में ही ब्रह्म, ज्ञान (समाहितं) रखा है। (ह) निश्चय ही (कालः सर्वस्य ईश्वरः) काल ही सबका ईश्वर है। (यः) जो कि (प्रजापतेः) सब प्रजा के उत्पादक हिरण्यगर्भ का भी (पिता आसीत्) पिता था या पिता होता है।

भजन

वाणी कल्याणी के स्वामी वाचस्पति मुझमें आओ।
संग मनन चिन्तन के आओ अन्तरतम में रम जाओ ॥
वस्तु मात्र के तुम पालक हे !
हे वसुपति जग-संचालक हे !
द्योतमान कर दो मन-मन्दिर ज्योति जग जीवन लाओ।
वाणी कल्याणी के स्वामी वाचस्पति मुझमें आओ ॥
मेरा सुना ज्ञान अपना हो।
मुझमें ठहरे अटल घना हो ॥
तजो नहीं तुम देह मनोमय मुझे प्राणधन अपनाओ।
वाणी कल्याणी के स्वामी पुनरपि मुझमें आ जाओ ॥
जो कुछ सुनूँ करूँ वह धारण।
रहे मनोमय तन अवयव बन ॥
मुर्झाई जीवन-कलिका को विकसित कर दो सरसाओ।
ज्ञानविभवसम्पन्न वसोष्पति अमृतरस बरसाओ ॥
प्रभो! ज्ञान अनुरक्ति अमर दो।
मननशक्ति दो दिव्य अमर दो ॥
अचल धारणाशक्ति प्रभो दो मन में स्थिरता लाओ।
वाणी कल्याणी के नायक वाचस्पति मुझमें आओ ॥

अनुष्टुप्

काल में तप ज्येष्ठ भी रखा ज्ञान काल में।
ईश सबका काल ही जो प्रजापति का पिता ॥

छप्पय छन्द

कालदेव भगवान् काल की महिमा न्यारी।
निहित काल में तप ज्येष्ठत्व ब्रह्ममति सारी ॥
निश्चय जानो कालदेव ही सर्वेश्वर है।
हिरण्यगर्भ प्रजापति का भी पिता अमर है ॥
कालरूप भगवान की हम नित भक्ति किया करें।
यथासमय जप-तप तथा ज्ञान ज्येष्ठता को वरें ॥

रागनी (हरियाणा लोकगीत शैली)

सब विधि सब प्रकार से जग में काल बड़ा बलवान्।
सबसे बड़ा महान् यही है कालरूप भगवान् ॥
काल गर्भ तप सुनिहित है शोभा पाता है।
उचित समय में मिले ज्येष्ठता बड़ा कहाता है ॥
काल मनुज के अन्तर से अज्ञान मिटाता है।
समयोचित सद्ज्ञान प्राप्ति से नर तर जाता है ॥
समय समय की भली रागनी समय-समय का गान ॥
प्रजापति भी जो सारे जग को उपजाता है।
भाँति-भाँति की करता रचना सृष्टि बनाता है ॥
पिता प्रजापति का भी कालेश्वर कहलाता है।
कालरूप परमेश्वर को जग शीश नवाता है ॥
काल सभी का सर्वेश्वर है उसका ना उपमान ॥
पहिचानो इसलिए काल की महिमा को नरनार।
समयोचित ही करो साधना जप-तप-व्रत-आचार ॥
चूक गये यदि समय सभी कुछ है तो फिर बेकार।
हाथ मलो चाहे सर पटको कोशिश करो हजार ॥
चलो काल की चालें देखकर जो चाहो कल्याण ॥

अव्यसश्च व्यचसश्च बिलं विष्यामि मायया । ताभ्यां उद्धृत्य वेदं अथ कर्माणि कृण्महे ॥ अ० १९-६८-१

अर्थ—(अव्यसः) सान्त (व्यचसः) व्यापक, अनन्त त्वं के (च) भी (बिलं) रहस्य को (मायया) अपनी प्रज्ञा से (विष्यामि) खोलता हूँ । (ताभ्यां) उन दोनों द्वारा (वेदं) वेदज्ञान को (उद्धृत्य) उद्धृत करके (अथ) अब हम (कर्माणि) कर्मों को (कृण्महे) करें ।

अनुष्टुप्

अव्यस् और व्यचस् का खोलता भेद माया से ।
इन दोनों से वेद को उद्धृत करें कर्मों को ॥

चतुष्पदी

सान्त मैं परिच्छिन्न विभु, अनन्त के हित डोलता हूँ ।
भेद मैं त्वं अहं का प्रज्ञा प्रखर से खोलता हूँ ॥
सान्त और अनन्तद्वारा ज्ञान का लेकर सहारा ।
ज्ञान तदनन्तर सुकृत मैं सन्तुलन कर तौलता हूँ ॥

प्रगीत

लिया मैं सब भेदों को जान ।
सान्त अनन्त, एकदेशी-व्यापक की कर पहचान ॥
आज अहं त्वं के सकल मैंने भेद टटोल ।
अपनी माया से जटिल भेदगाँठ दी खोल ॥
रहा मैं अब न बना अनजान ।
चला मैं सब भेदों को जान ॥
सकल आत्म परमात्म के खोल रहस्य-कपाट ।
अपनी प्रज्ञा-बुद्धि कौशल करूँ विराट् ॥
मुझे है समुचित आत्मज्ञान ।
चला मैं सब भेदों को जान ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु। प्रियं सर्वस्य पश्यतः उत शूद्रे उतार्ये ॥ अ० १९-६२-१

अर्थ—हे प्रभो! (मा) मुझे (देवेषु प्रियं कृणु) देवों में प्रिय करो। (राजसु मा प्रियं कृणु) राजाओं में मुझे प्रिय करो। (सर्वस्य पश्यतः) सब देखने वालों का (प्रियं) प्यारा करो (उत शूद्रे, उत आर्ये) शूद्रों और आर्यों में भी सबमें मुझे प्यारा बनाओ।

अन्तर की घुण्डी खुली पाकर वैदिक ज्ञान।
ज्ञान समन्वित कर्म के करने की ली ठान॥
इसीमें है जीवन-कल्याण।
लिया मैं सब भेदों को जान॥

अनुष्टुप्

देवो में प्रिय मुझको, राजाओं में प्रिय करो।
सब देखने वालों में, शूद्रार्यों में प्रिय करो॥

महाशक्ति चतुर्दशी

प्रभो मुझको देवों का प्यारा बना दो।
मुझेराज-कुल में समादर घना दो॥
बनूँ शूद्र-आर्यों का मैं प्रेमभाजन।
मुझे सबकी आखों का तारा बना दो॥

विहारी छन्द

हे प्रेममय परम पिता प्यारा बना मुझे।
हर दिल अजीज आँख का तारा बना मुझे॥
ब्राह्मणजनों में देवजनों में सुप्रिय रहूँ।
गुरुओं में प्रेमरस पियूँ शिष्यों में प्रिय रहूँ॥
विद्वत् समाज प्रेम की वर्षा सदा करें।
मुझ पर मनीषिवृन्द प्रेममय दया करें।

त्वं वलस्य गोमतो अपावोऽद्रिवो विलम् । त्वां देवा
अविभ्युषः तुज्यमानास आविशुः ॥ ऋ० १-११

अर्थ—(अद्रिवः) हे वज्रवाले इन्द्र ! (त्वं) तुम (गोमतः) गौओं को रोक रखने वाले (वलस्य) वल के (विलं) विल को (अपावः) खोल देते हो तब (देवाः) सब देव (तुज्यमानासः) हिंसित होते हुए, कम्पायमान भी (अविभ्युषः) निर्भीक हुए (त्वां) तुझमें फिर (आविशुः) प्रविष्ट होते हैं—हे अमोघ शक्तिसम्पन्न आत्मेन्द्र ! तुम इन्द्रिय गोसमूह निरोधक अज्ञान-असुर के विवरावरण को मुक्त कर देते हो । इन्द्रियाँ प्रपीड़ित हुईं तुझे पाकर अभय हो जाती हैं ।

मिलता रहे सुप्रेम सहारा घना मुझे ।
हर दिल अजीज आँख का तारा बना मुझे ॥ १ ॥
राजन्य क्षत्रियों का प्रेमपात्र मैं रहूँ ।
शासन में समादृत रहूँ प्रियता सदा लहूँ ॥
अधिकारियों की प्रीत का भाजन बना रहूँ ।
सामान्य प्रजावर्ग में प्यारा बना रहूँ ॥
अनुकूल वैश्य-वर्ण दो सारा बना मुझे ।
प्यारा वणिक् द्विजों का दुलारा बना मुझे ॥ २ ॥
हर दर्शकों, जनों में मुझे प्रिय बनाइये ।
आर्यादि शूद्रा में मुझे प्रिय कर दिखाइये ॥
इस विश्व में कोई नहीं मुझसे करे घृणा—
भगवान् मुझे सर्व लोक-प्रिय बनाइये ॥
हरदिल अजीज आँख-सितारा बना मुझे ।
हे प्रेममय परमपिता प्यारा बना मुझे ॥ ३ ॥

अनुष्टुप्

ग़ोमत बल का विवर अद्रिव आप खोलते ।
कंपित देव भय त्यागे तुझ में प्रविष्ट हो जाते ॥

वीर छन्द

आत्मेन्द्र बलवान् इन्द्र तू! करता तम 'बल' का संहार।
इन्द्रिय-वर्ग-निरोधक 'बल' के खोल समस्त रहस्य अपार॥
हिंसित-पीड़ित-कंपित सारे देव तुम्हारा पा आधार।
तुझसे हो संयुक्त अभय हो जाते हैं वे भली प्रकार॥

राधिका छन्द

हे इन्द्र वज्रधर रक्षा करो हमारी।
देवों की सुनो पुकार देव! बलधारी॥
चढ़ आया बल का असुर तमोमय भारी।
उसके द्वारा अपहृत हैं गौवें सारी॥
हैं डाले उसने देव तिमिर बंधन में।
वे काँप रहे हिंसित हैं असुर-सदन में॥
तुम खोलो बल के सब बंधन, हितकारी।
देवों की सुनो पुकार इन्द्र बलधारी॥ १॥

बलवान् इन्द्र संहार करो खल-बल का।
अज्ञान-तिमिर परिहार करो खल-बल का॥
हो जायें आत्मिक बल की जागृत गाएँ।
तुम इन्द्रदेव विस्तार हरो छल-बल का॥
तुम खोलो बल का विवर हरो अंधियारी।
देवों की सुनो पुकार इन्द्र बलधारी॥ २॥

हे इन्द्र तुम्हारे प्रबल पराक्रम द्वारा।
टूटेंगी बिल की सकल तमोमय कारा॥
तुम से ही होगी निर्भय जीवन-धारा।
तुम फैलाओ आलोक करो निस्तारा॥
तुम से होंवे निर्भय सब देव सुखारी।
देवों की सुनो पुकार इन्द्र बलधारी॥ ३॥

अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे। स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदाः प्रयच्छतु ॥ अथर्व १९–६४–१

अर्थ—(बृहते) परम (जातवेदसे) जातमात्र के ज्ञाता (अग्नये) अग्नि के लिए मैं (समिधं) समिधा, प्रदीपनीय प्रसाधन को (आहार्षं) लाता हूँ, आहरण करता हूँ। (सः) वह (जातवेदाः) ज्ञानमय अग्नि (मे) मुझे (श्रद्धां च मेधां च) श्रद्धा और मेधा का भी (प्रयच्छतु) प्रदान करे।

वे सकल देव जो हिंसित हैं पीड़ित हैं।
जो तुमसे हुए विमुक्त व्यथित कंपित हैं॥
वे तुमसे हो संयुक्त तुम्हारे द्वारा।
हो जायँ अभय जड़ता से करें किनारा॥
दो देवों को ऐश्वर्य विपुल धनधारी।
देवों की सुनो पुकार इन्द्र बलधारी॥ ४॥

अनुष्टुप्

लाता अग्नि को समिधा, बृहत जातवेद को।
वह श्रद्धा तथा मेधा, जातवेद मुझे देवे॥

वीर छन्द

बृहद् जातवेदाग्नि हेतु मैं करता हूँ समिधा आधान।
जातवेद सर्वज्ञ करे वह श्रद्धा मेधा मुझे प्रदान॥
मम तन मन आत्मिक समिधा की कीजे अग्नि प्रदीप्त-प्रबुद्ध।
बृहद् जातवेदाग्नि करो श्रद्धा-मेधा से जीवन-शुद्ध॥

महाशक्ति छन्द (मुखम्मस)

जगा दो छिपी अग्नि मेरी जगा दो।
है समिधा में आगी मगर सुप्त है वह॥

न दीपित न ज्योतित मगर गुप्त है।
मेरी दिव्यता प्रेरणा लुप्त है वह।
जगा दो छिपी अग्नि मेरी जगा दो॥ १॥
समित् पाणि मैं आज द्वारे तुम्हारे।
जगा दो मेरा ज्ञान जड़ता भगा रे॥
मुझे अग्नि-आचार्य का आसरा रे।
जगा दो छिपी अग्नि मेरी जगा दो॥ २॥
नहीं काम सामान्य है दीप्ति पाना।
बड़ी साधना है स्वयं को मिटाना॥
अतः ध्येय-निष्ठ अटल तुम बनाना।
जगा दो छिपी अग्नि मेरी जगा दो॥ ३॥
कि तुम जातवेदाग्नि हो उच्चतर हो।
कि तुम ज्ञानमेधा का श्रद्धा-निकर हो॥
बृहत् जातवेदाग्नि सर्वज्ञवर हो।
जगा दो छिपी अग्नि मेरी जगा दो॥ ४॥
मुझे सत्य श्रद्धा मिले जग उजाले।
सुमेधा का दो दान ओ ज्ञान वाले॥
मुझे बुद्धि का दान दोहे निराले।
जगा दो छिपी अग्नि मेरी जगा दो॥ ५॥
करो मेरे तन-मन व आत्मा का दीपन।
बृहद् जातवेदा जगा अग्नि जीवन॥
अतः तुमको है तीन समिधा समर्पण।
जगा दो छिपी अग्नि मेरी जगा दो॥ ६॥

अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती। यथा वर्च-स्वतीं वाचं आवदानि जनां अनु ॥ अ० ९-१-१९, ६-१९-२

अर्थ—हे (अश्विना) युगल देवो (शुभस्पती) दोनों दीप्तिपाल को तुम अपने (सारघेन मधुना) सारघ मधुज्ञान से (मा) मुझे (अङ्क्तं) आज दो (यथा) जिससे कि मैं (जनां अनु) जनों के प्रति, मनुष्यों के प्रति (वर्चस्वतीं वाचं) तेजस्वी वाणी (आवदानि) बोलूँ।

अनुष्टुप्

अश्विना हे शुभस्पती, सारघ मधु से मुझे।
ओजों जिससे वाक् मैं जनों से वर्चस्वी बोलूँ॥

तोमर छन्द

तुम दीप्तिमय स्वयमेव हे युगल, अश्विनदेव !
तुम हो शुभस्पति नित्य हे चन्द्र हे आदित्य !
माता तथा हे तात ! गुरुदेव प्रभु विख्यात।
हे प्राण और अपान ! दो मधुर मधु का दान !
मधुप्रोत अंजित रोम मम आज कर दो सोम !
वर्चस्वती हो वाक् अमृत मधुर मधु चाख।
बोलूँ सदा मधु बोल जन-हेतु मैं मधु घोल।
संकलित सारघसार दो अश्विनो उपहार॥

कजरी गीत

अश्विन देवो ! दिव्य शुभस्पति ! जीवन कर दो मधुर महान्।
सूर्य-शक्ति हे-चन्द्र शक्ति हे, हे तुम प्राण-अपान॥

मधुर सार से रोम-रोम को।
आज आँज दो मज्जित कर दो॥

देवान् यन्नाथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूषिम। अक्षान् यद् बभ्रून आलभे तेनो मृडन्त्वीदृशे ॥ अ० ७-१०९-७

अर्थ—(यत्) जो (नाथितः) नाथा हुआ मैं (देवान्) देवों को (हुवे) पुकारता हूँ। (यत् ब्रह्मचर्यं) जो ब्रह्मचर्य को (ऊषिम) पाला है और (यत्) जो (बभ्रून) हरने वाली (अक्षान्) इन्द्रियों को (आलभे) सब तरफ से वश में किया है (ते) ये सब मेरे कर्म (ईदृशे) ऐसे समय में (नः) मुझे (मृडन्तु) सुखी करें।

हे जीवनधन! हे ज्योतिर्घन!
मेरे जीवन में मधु भर दो॥
दे दो मुझको नव-जीवन कर दो जन का कल्याण॥
लेकर मधु माधुरी तुम्हारी।
तेज-दीप्ति ले ले उजियारी॥
वाणी में मेरे बल आये।
बोलूँ वाणी जन-हितकारी॥
वर्चस्वती वाक हो मेरी कर सारघ मधुपान॥

अनुष्टुप्

दुर्दम इन्द्रियाँ साधीं, पाला मैं ब्रह्मचर्य को।
पुकारूँ तप्त देवों को, ये अब सुख दें मुझे॥

मिश्रित छन्द

मैं सन्तापित उपतप्त हृदय हूँ आज शरण में आया।
दो मुझे शांति की छाया।
जय देकर करो सुखी जीवन हों सुखी प्राण मन काया॥

की वश में इन्द्रिय दुर्दम।
की दमन निरंकुश हरणशील इन्द्रियगण व्रत न किए कम।
मैंने सब साधा संयम॥
मैं ब्रह्मचर्य व्रत धारा।
सम्यक् कठोर व्रत को पाला मैं प्रबल मार को मारा।
तपमय कर जीवन-धारा॥
मम सकल कर्म यह पावन।
यह सदाचार यह देवाराधन दुर्दम इन्द्रिय साधन।
करदे मंगलमय जीवन॥
वर दो सुख का जीवन-धन।
सन्ताप हरो जय-लाभ करो दो उड़ा विमल यश के तन।
हों छिन्न-भिन्न दुख के घन॥
जीवन न रहे मुर्झाया।
विकसित हो जीवन का प्रसून उत्फुल्ल हृदय मन काया।
विकसे सौरभ मधुमाया॥
अति विकट समय है आया।
मेरे संयम व्रत सकल सुकृत पर संकट का ठठ छाया।
क्षण आज परीक्षण आया॥
मेरी प्रभु हरो निराशा।
हो जाय न मेरे स्वप्न विफल टूटे न विजय की आशा।
देदो वरदान दिलासा॥
तप हो न जाय निष्फल हे!
हे शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म दो जयानन्द निर्मल हे।
दो धृति साहस संबल हे॥
मैं चरण शरण में आया।
हे दीनबन्धु हे कृपासिन्धु दो सुखद शान्ति की छाया।
दो सुखद शान्ति की छाया॥

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥ यजु॰

अर्थ—(यस्मिन्) जिस ज्ञान में, ज्ञानमयी स्थिति में (सर्वाणि भूतानि) सब भूत, सब जातमात्र, (आत्मा एव) आत्मा ही, अपने ही (अभूत्) हो जाते हैं (तत्र) वहाँ (एकत्वं अनुपश्यतः) एकत्व का साक्षात् करने वाले (विजानतः) उस विशेष ज्ञानी के लिए (कः मोहः) कौन सा मोह और (कः शोकः) कौन शोक रह जाता है।

अनुष्टुप् छन्द

विजानिन् हेतु जिसमें, आत्मा ही सर्वभूत हो।
वहाँ क्यामोह शोकक्या, एकत्व द्रष्टा के लिए ॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

आत्मज्ञानी जिस समय में योग औ' ध्यान द्वारा।
आत्मावत् ही सकल जग के जानता प्राणियों को ॥
सारे प्राणी जब सुजन के हेतु आत्मीय होते।
क्या होवेगा पुनरपि उसे मोह या शोक कोई ॥

पद

ज्ञानमयी वह स्थिति है पावन ॥
निज पर भेद न रहता जिसमें रहे न भेदक बंधन।
आत्मावत् सब भूत मात्र जब हो जाते जगजीवन।
लेते बाँध सकल भूतों से आत्मावत् अपनापन।
कर लेते विस्तार अहं का विज्ञानी सबका बन।
कैसे मोह-शोक से कैसे फिर पंकिल होगा मन।
रामनिवास वहाँ अलोकित ज्ञान-प्रभा से जीवन।
ज्ञानमयी वह स्थिति है पावन ॥

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षामाप्नोति दक्षिणाम् । दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ य० १९-३०

शब्दार्थ—(व्रतेन) व्रत से, सत्य नियम पालन से मनुष्य (दीक्षां) दीक्षा को, प्रवेश अधिकार को मनुष्य (आप्नोति) प्राप्त होता है (दीक्षया) दीक्षा से (दक्षिणां) दक्षिणा को, वृद्धि को (आप्नोति) प्राप्त करता है । (दक्षिणा) दक्षिणा से (श्रद्धां) श्रद्धा को (आप्नोति) और सदा (श्रद्धया) श्रद्धा द्वारा (सत्यं) सत्य लक्ष्य को (आप्यते) प्राप्त किया जाता है ।

अनुष्टुप् छन्द

व्रत से दीक्षा प्राप्त हो दीक्षा से दक्षिणा मिले ।
दक्षिणा से मिले श्रद्धा, मिलता सत्य श्रद्धा से ॥

पुच्छल दोहा

व्रत द्वारा दीक्षा मिले, दीक्षा से दाक्षिण्य ।
निष्ठा श्रद्धा दक्षिणा द्वारा मिले अनन्द ।
सत्य मिलता श्रद्धा से ॥

भजन

[राही अपना पथ पहचान रे जो तुझे सत्य पाना है ॥
सत्य लक्ष्य की मंजिल प्यारे ।
तय करता चल धीरज धारे ।
करता चल पथ का संधान रे जो तुझे सत्य पाना है ॥
पहली सिढ़ी है व्रतधारण ।
सत्य नियम सम्यक् कर पालन ।
व्रतधारण से कल्याण रे मिले दीक्षा परवाना है ॥
व्रत से दीक्षित हो नरनारी ।
होते हैं विधिवत् अधिकारी ।
दीक्षा से मिलता सम्मान रे दक्षिणा वृद्धि नाना है ॥

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः। अयं मे विश्व भेषजोऽयं शिवाभिमर्शन ॥ ऋ०१०-६०-१२

अर्थ—(अयं) यह (मे) मेरा (हस्त) हाथ (भगवान्) ऐश्वर्य-सम्पन्न है। (अयं) यह [दूसरा] (में भगवत्तरः) और भी अधिक भाग्यवान् है, ऐश्वर्यवान् है (अयं मे विश्वभेषजः) यह हाथ मेरा सर्व रोग-निवारक है (अयं शिवाभिमर्शन) यह मंगलमय सुखद स्पर्श वाला है।

दीक्षा से होती बढ़ती है।
पा जाता पाथेय व्रती है।
मिलता सानुकूल यजमान रे सुख मिलता मनमाना है॥
पा पाथेय दक्षिणा राही।
होताश्रद्धामय उत्साही।
नर तू हो निष्ठावान रे सत्यतत्त्व पाना है॥
निष्ठा द्वारा सत्य मिलेगा।
जीवन आशा सुमन खिलेगा।
सब मुश्किल होंगी आसान रे अतएव न घबराना है॥

अनुष्टुप्

ये हाथ मेरा भगवान् ये मेरा भगवत्तर।
ये मेरा विश्व ओषधि, ये मंगल स्पर्शमय॥

गीत

यह वाम कर मम भगवान है।
और यह भगवान् से महान है॥
[आपदायें रोक पायँगी क्या मार्ग मम।
पथ रोक सकेंगी न समस्या विषम॥
मेरे कर में सकल समाधान है।
यह वाम कर मेरा भगवान है॥]

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः। गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनंजयो हिरण्यजित् ॥ ऋ०-७-५०-८

अर्थ---(कृतं) पुरुषार्थ, कृत (मे) मेरे (दक्षिणे हस्ते) दायें हाथ में (जयः मे सव्य) मेरे वाम हाथ में जय (आहितः) रखी है। मैं (गोजित् अश्वजित् हिरण्यजित् धनंजय भूयासम्) मैं गो, अश्व, स्वर्ण, धन को विजय करने वाला होऊँ।

विश्व-ताप दूर होता कर-स्पर्श से।
ओत-प्रोत मम हस्त उत्कर्ष से॥
मेरे हस्त विश्वभेषजों की खान है।
मेरे कर में निहित कल्याण है॥
मुझे भाता नहीं रोना भाग्यवाद का।
अनैश्वर्य दैत्य भाव का विषाद का॥
मेरे कर में सकल निर्माण है।
मेरे कर में निहित कल्याण है॥
नर हूँ मैं पुरुषार्थ मेरे हाथ में।
भाग्य और परमार्थ मेरे हाथ में॥
मेरे कर यह सर्वशक्तिमान है।
मेरे कर में निहित कल्याण है॥
आओ ताप तप्त जन संसार के।
शान्ति लाभ करो शीतलोपचार से॥
मेरे स्पर्श में निहित सुख-काम है।
मेरे कर में निहित कल्याण है॥

अनुष्टुप्

कृत दक्षिण हाथ में, जय है वाम में मेरे।
मैं गोजित् अश्वजित् होऊँ धनंजय हिरण्यजित्॥

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योनापत्ये गृहेभ्यः। स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव ॥ अ० १४-२-२७

अर्थ—हे वधू तू (श्वशुरेभ्यः) ससुर के लिए (स्योना भव) कल्याणी, सुखदा हो (पत्येः गृहेभ्यः) पति, कुल तथा गृह के सदस्यों के लिए सुखदा हो और (अस्यै सर्वस्यै) इस सब (विशे) प्रजा के लिए सुखदाता हो तथा (एषां) इनके (पुष्टाय) पोषण के लिए समुद्यत (भव) हो।

मैं शक्ति अमोघ प्रबल वाला ॥
मेरी अमोघ संकल्प-शक्ति, मैं अमोघ इच्छा बल वाला।
मेरे दायें कर में कृत है बायें कर में जय है निश्चय ॥
मैं सर्वजयी हूँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पाऊँ जय।
जयशील सर्वदा होकर मैं जीतूँ जीवनरण यह निर्भय ॥
गोवाजि हिरण्य समस्त विश्व के सुखसाधन को करूँ विजय।
मैं नर दृढ़व्रती धनंजय हूँ जीवन पुरुषार्थ अटल वाला ॥ १ ॥
जो अश्व सुवर्ण सकल धन ऐश्वर्यों को जय करने वाला।
मैं इंद्रियजयी प्रकाशजयी सद् विद्याजय करने वाला ॥
आध्यात्मिक दैवी सम्पत् से जीवन-रण सर करने वाला।
मैं वीर्यवान बलवान दिव्य तेजोमय दीप्ति प्रखर वाला ॥
पुरुषार्थ चतुष्टय जयकर्त्ता हूँ नर पुरुषार्थ सफल वाला ॥ २ ॥

अनुष्टुप्

तू स्योना श्वसुरादि को, हो स्योना पतिगेह को।
स्योना हो सब प्रजा को, स्यानो हो पोषणार्थ हो ॥

सवैया

सुखदा श्वशुरादिक को तुम हो पति के कुल को सुखदायक हो।
सुखदायक हो सब ही जन को सबको शुभशान्तिप्रदायक हो ॥
नित तत्पर हो इन ही सबके नित पोषण हेतु सहायक हो।
कवि रामनिवास वधू नव तू सबको अब मंगलदायक हो ॥

पद

सँभल सँफल पग धरना ॥

पथ अनजाना पर दृढ़ता से जीवन-पथ सर करना ।
शील-विनय सौजन्यभाव से जन-जन का मन हरना ।
अपने यश के दिव्य दीप से कुल द्वै ज्योतित करना ।
अन्नपूर्णा गृहलक्ष्मी बन वैभव से घर भरना ।
बन सुभाषिणी मधुर वचन से जीवन-कटुता हरना ।
गुरुजन-परिजन औ' स्वजनों से यथायोग्य आचरना ।
मनसा-वाचा तथा कर्मणा पति प्रति व्रत अनुसरना ।
रहियो अचल अरुंधति ध्रुवसम दुख में धीरज धरना ।
जीवननैया को ऋजुपथ में खे भवसागर तरना ।
शुभे यशोदा सुखदा बनना व्रत में पूर्ण उतरना ।
दोनों कुल की आशा बनकर संसृति मध्य विचरना ।
सत्ययशश्री अर्जित करना सदा फूलना फलना ।
अचल रहो सौभाग्यवती तुम वीरप्रसविनी ललना ।
घर बन जाये स्वर्गधाम वह चले सुखों का झरना ।
सास ससुर गुरुजन की सेवा मनोयोग से करना ।

समानान्तरः—शुश्रुषस्व गुरु कुरु प्रियसखीं वृत्तिं सपत्नीजने ।
भर्त्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मास्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्ये ष्वनुत्सेकिनी ।
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥

—कालिदास

सोमं राजानं वरुणमग्निमन्वारभामहे। आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ ऋ० १०-१४१-३, सा० १-१०-१

अर्थ—हम (सोमं) सोम, शान्तिदायक को, (राजानं) प्रकाशमान को (वरुणं) पापों के निवारक (अग्निं) ज्ञानस्वरूप नायक स्वयंप्रकाश ईश्वर को (अनु आरभामहे) अनुदिन स्मरण करते हैं। (च) और (आदित्यं) अखण्ड (विष्णुं) सर्वव्यापक (सूर्यं) सर्वप्रकाशक (ब्रह्माणं) ब्रह्मा को, सबसे बड़े (बृहस्पतिं) वेदवाणी के पति को नित्य स्मरण करते हैं।

अनुष्टुप्

सोम राजा वरुण को, अग्नि आदित्य विष्णु को।
सूर्य ब्रह्मा बृहस्पति को नित्य स्मरण करें॥

चौपाई छन्द

सोम शान्तिप्रद शुभ मनमोहन।
राजनीय सुन्दरतम शोभन।
राजा वरुण वरण के लायक।
पापनिवारक सर्वसहायक॥

देवादित्य अखण्ड अलौकिक।
स्वयंप्रकाश प्रदीप्त चतुर्दिक।
अग्नि, अग्रणी, प्रभु ज्योतिर्घन—
जातवेद सर्वज्ञ दिव्य-धन॥

विष्णु सर्वव्यापक विश्वम्भर।
ज्योति प्रकाशक सूर्यतमोहर।
परमब्रह्म प्रभुवर महानतम।
देव बृहस्पति ज्ञानवानतम॥

प्रेताजयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु। उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ॥ ऋ॰ १०-१०३-१३

अर्थ—हे (नरः) वीरनायको! (प्र इत) आगे बढ़ो (जयत) जय पाओ (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् प्रभु, स्वामी (वः शर्म यच्छतु) तुम्हें सुख प्रदान करे। (वः बाहवः) तुम्हारी भुजाएँ (उग्राः) उग्र, बलवान् हों कि (यथा) जिससे तुम (अनाधृष्याः असथ) कभी पराजित न होने वाले होवो।

वाणी कल्याणी के स्वामी।
सर्वेश्वर प्रभु अन्तर्यामी।
हम अनंत गुण-ग्राम धाम को।
करते स्मरण अनंत नाम को॥

अगणित नामा प्रभु परमेश्वर।
स्मरण उसी का करते हम वर।
नित्य करें हम भजन उसी का—
भजन, स्मरण गुण-कथन उसी का॥

अनुष्टुप्

आगे बढो नरो जीतो, इन्द्र तुम्हें सुख देवे।
तुम्हारी बाहु उग्र हों तुम अपराजेय हो॥
बढो वीरवर जीतो संसार, इन्द्र तुम्हें दे सुख-उत्कर्ष—
आगे बढ़ो करो जय वीरो! नामकेन्द्र देवे सुख भारी॥
कोई तुमको दबा न पाए, उग्र भुजाएँ रहें तुम्हारी।
होन सको तुम दभित किसी से होओ उग्रभुजा दुर्धर्ष॥

प्रयाण-गीत

महान् इन्द्र वीर के प्रवीर के प्रवीर तुम बढ़े चलो।
करो विजय वरो विजय सुधीर तुम बढ़े चलो॥

तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम्। श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि ॥ ऋ० ५–८२–१

अर्थ—(वयम्) हम (सवितुः देवस्य) सर्व उत्पादक प्रेरक देव के (तत्भोजनं) उस उत्तम भोग्य ऐश्वर्य को (वृणीमहे) वरण करें। और (भगस्य) सकल ऐश्वर्ययुक्त सर्व सेवनीय प्रभुके (श्रेष्ठं) सर्वश्रेष्ठ (सर्वधातमम्) सर्वोत्तम धारक-पोषक (तुरं) अविद्यादि तिमिरनाशक बल को (धीमहि) धारण करें।

महेन्द्र वीर अग्रणी, प्रधान दिव्य-वाहिनी।
करें प्रदान सुख तुम्हें करे सुप्रेरणा धनी ॥
अशेष विघ्न-वृत्र के समस्त सैन्य को दलो।
करो विजय करो विजय सुधीर तुम बढ़े चलो ॥
उदग्र बाहुदण्ड हों बलिष्ठ हों प्रचण्ड हों।
अदम्य हों न हों परास्त शत्रुहेतु दण्ड हों ॥
न शत्रुगण झुका सकें तुम्हें नहीं हरा सकें।
कभी नहीं दबा सके न शत्रु पार पा सकें ॥
जयी सदा तरो, विपत्ति-दुर्ग पर चढ़े चलो।
करो विजय करो विजय बढ़े चलो बढ़े चलो ॥

अनुष्टुप्

उस सविता देव का हम वरें सुभाग्य को।
श्रेष्ठ सर्वधारक जो भग के बल को धारें ॥

द्रुतविलम्बित छन्द

जगत का प्रेरक सविता पिता।
जनक जो जगका द्युतिमान है ॥
तिमिरनाशक दिव्य प्रकाश को।
हम वरें उसके तुर तेज को ॥ १ ॥

ओं शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः ।। यजु ३६-९

अर्थ—(नः) हमारे लिए (मित्रः) मित्ररूप ईश्वर (शं) सुख-कल्याणकारी हो (वरुणः) वरणीय परमात्मा शान्तिमय हो । नियन्ता (अर्यमा) न्यायाधीश, नियामक (शं नः भवतु) हमें शान्ति-सुखदायक हो (इन्द्रः बृहस्पतिः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर सर्वज्ञ, (नः शं) हमें कल्याणकारी हो । (विष्णुः उरुक्रमः) व्यापक तथा बहुत पराक्रम वाला ईश हमें शान्ति-सुख, कल्याणप्रद होवे ।

हम वरें उस सविता देव के—
परम उत्तम भोजन भोग्य को ।।
सकल धारक पोषक दिव्य जो ।
हम धरे उसकी वर दिव्यता ।। २ ।।

सकल वैभव युक्त सुसेव्य जो ।
भग-अशेष जगत् सुखमूल जो ।।
सकल उत्तम धारक दिव्य के—
सुबल का करते हम ध्यान हैं ।। ३ ।।

हम वरें शुचि भोजन दिव्य के—
जगत् प्रेरक सविता देव के ।।
परम जो बल-धारण-शक्ति-से—
विभव-सम्पद से उपयुक्त हो ।। ४ ।।

निचृद् अनुष्टुप्

शं हो मित्र, शं वरुण, शं हो हमें अर्यमा ।
शं हो इन्द्र बृहस्पति, शं हो विष्णु पराक्रमी ।।

चौपाई

ओम् प्रणव-रक्षक बलशाली।
तुम हो अनुपम तेजःशाली॥
हे मंगलप्रद ईश्वर न्यारे।
मित्र सर्वदा सबके प्यारे॥

हे परमेश्वर वरुण वरेश्वर!
कीजे शं-कल्याण निरन्तर॥
हे अर्यमा नियामक न्यायी।
होवो हमको तुम सुखदायी॥

अधमोद्धारक जग के कारण।
विश्व-वंद्य! कर दुःख-निवारण॥
हे परमेश्वर इन्द्रेश्वर हे।
दीजे हमको सुख का वर हे!॥

हे बृहस्पते सर्व महान्।
करो हमारा शं-कल्याण॥
दो हम को सुख का वरदान।
वाचस्पते वृषभ बलवान॥

विष्णु परम-व्यापक श्रीमान्!
करो हमारा शं-कल्याण॥
हे व्रतपते! व्रतों के स्वामी।
अग्ने बना सुपथ अनुगामी॥

प्रबल पराक्रमयुक्त उरुक्रम।
शम्भु करो कल्याण करो शम्॥
परमब्रह्म तव हेतु नमन हे!।
वायु सबल तव हेतु नमन हे!॥

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पुरयोध्या । तस्यां हिरण्ययः कोषःस्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ अथर्वकाण्ड १० सू० २ मं० ३१

अर्थ—(अष्टचक्रा) आठ चक्रों वाली (नवद्वारा) नौ द्वारों वाली (देवानां पुः अयोध्या) देवों की नगरी अयोध्या है (तस्यां) उसमें (हिरण्ययः कोषः) हिरण्य का, सोने का कोष है (स्वर्गः) स्वर्ग है (ज्योतिषावृतः) ज्योति से घिरा हुआ है वह स्वर्ग ।

तुम ही तो प्रत्यक्ष ब्रह्म हो ।
तुम को ही अब ब्रह्म कहूँगा ॥
सत्य कहूँगा ऋत बोलूँगा ।
केवल सत्याचरण गहूँगा ॥

रक्षक प्रभु मम करे सुरक्षा ।
करे सत्यवक्ता की रक्षा ॥
रक्षक प्रभुमय करे सुरक्षा ।
करे सत्यवक्ता की रक्षा ॥

[नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् । अवतु (वक्तारम् का भी अनुवाद है ।]

अनुष्टुप्

अष्टचक्रा नवद्वारा देवों की पुः अयोध्या ।
ज्योति से घिरा उसमें हिरण्यकोष स्वर्ग है ॥

सवैया

जिसमें नवद्वार बने शुभ सुन्दर, अष्ट सुचक्रमयी नगरी ।
जिसमें है हिरण्य सुकोष महासुख स्वर्ग प्रकाश समावृत री ॥
जो यश से परिवृत्त मनोहर जो शुभराज रही अपराजित री ।
वह देव गणों की अयोध्यापुरी कवि रामनिवास प्रकाश भरी ॥

अयोध्या देवताओं की पुरी है,
बड़ी है दिव्य अपराजेय भी है।
बने हैं आठ इसमें चक्र सुन्दर,
प्रवेशद्वार इसमें नौ मनोहर॥
इसी में तो रखा स्वर्णिम खज़ाना,
कि जिसको स्वर्ग कहता है जमाना।
घिरा वह स्वर्ग दैवी ज्योतिद्वारा,
[परम आनन्दमय है दृश्य सारा]॥

होली

आजा मेरे मन के राजा॥

नौ पौरी का सुन्दर मन्दिर आठ चक्र का है प्यारे।
पलकों की चिक पड़ी हुई है नयन-झरोखे रतनारे।
आजा दिल के सिंहासन पर भीतर का खोल दर्वाजा॥

अनहद घण्टा बजे निरन्तर प्रियतम दिल के आँगन में।
एकादश सम्पूर्ण पुजारी रत हैं तुझे रिझावन में।
जगमग ज्योति जले मन्दिर में आ जा पिया दरस दिखा जा॥

पंचबाण आयुध को लेकर दुश्मन मुझे सतारा है।
मैं दुखियारी अबला नारी बिछड़ा प्रीतम प्यारा है।
रामनिवास प्रकाश दिखा जा तन-मन-तपन मिटा जा॥

ऋचाओं की छाया में

तृतीय-विराम

जगती-सुमन-समूह

३२ ऋचाएँ

प्रार्थना

भगवान दीनबन्धो ! वरदान ज्ञान दीजे ।
सब दूर दुष्ट दुर्गुण करुणानिधान कीजे ॥
हर लीजिये दयामय अज्ञान का अँधेरा ।
विद्या-प्रकाश दीजे जीवन महान कीजे ॥

हों धीर-वीर-विनयी सब बाल-बालिकाएँ ।
ऊँचा चरित्र-बल दो प्रतिभा प्रदान कीजे ॥
तज दें कुटिल कुपथ को सन्मार्ग पर चलें हम ।
कल्याणप्रद सुमति दो सुख का विधान कीजे ॥

कर्त्तव्य-मार्ग से हम पीछे न पग हटायें ।
ऐसी महान् दृढ़ता ध्रुवध्येय-ध्यान दीजे ॥
मानव बनें रहें हम परहित सतत निरत हों ।
कटुता हरें जगत् की माधुर्यदान दीजे ॥

संसार के रचयिता प्रभुवर जगत्पिता हे !
तुम को नमन हमारा निजभक्ति दान दीजे ॥
भगवान दीनबन्धो ! वरदान ज्ञान दीजे ।
सब दूर दुष्ट दुर्गुण करुणानिधान कीजे ॥

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरितास उद्भिदः। देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्न प्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे ॥ ऋ० १-८९-१, यजु० २५-१४

अर्थ—(नः भद्राः क्रतवः विश्वतः आयन्तु) हमारे पास श्रेष्ठ संकल्प ही सब ओर से आयें। (अदब्धासः) अदम्य (अपरितासः) अविरोधी (उद्भिदः) जो क्रतु उद्भेदन करने वाले हो। (यथा देवाः) जिससे देवगण, दिव्य-शक्तियाँ हमारे लिए उन्नति के लिए होवें (दिवे दिवे) प्रतिदिन (अप्रायुवो) सजग, सजीव (सदं इत् वृधे असन्) सदा को ही वृद्धि के लिए होवें (रक्षितारः) रक्षक हों।

जगती छन्द

आएँ भद्र क्रतु ही सर्व ओर से, हमें अदब्ध अपरीत उद्भेदी।
हों जिससे देवगण सदा ही, वृद्धि को हमें हों सजग रक्षी सदा ॥

झूलना दण्डक छन्द

भद्र संकल्प का दल, अचल प्रबल, पास प्रतिपल हमारे पधारे।
जो अबाधित रहें, तम अनावृत रहें हैं, भेद दें विघ्न-जंजाल सारे॥
सर्व दिशि ओर से, नित्य सब छोर से, जोर से आँय संध्या-सकारे।
जिनसे सब देवता प्रेरे उन्नत दिशा अप्रमादी सखा हों हमारे॥
नित्य रक्षक रहें, आयुवृद्धि करें, आरती दिव्यताएँ उतारें।
जो अदब्धास हों अपरीतास हों दिव्य उल्लास की राशि धारें॥

कामायनी-प्रगीत

अनवरत भद्र संकल्प स्रोत ॥
सम्पूर्ण दिशाओं से आए जीवन हो जाए ओत-प्रोत।
सब ओर हमारे पास जगे शुभक्रतु समूह की दिव्य जोत।
जो सुकृत न हों दबने वाले निस्सीम अबाधित दुर्निवार।

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो निवर्त्त-
ताम्। देवानां सख्यमुपसेदिमावयं देवान आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥
यजु० २५–१५

अर्थ—(ऋजूयतां देवानां) सरल लोगों को चाहनेवाले देवों की (सुमतिः भद्रा) कल्याणी सुन्दर मति (नः) हमें मिले। (देवानां राति) देवों का दान (नः अभिनिवर्त्ततां) हम सब ओर से वर्त्तें। (वयं देवानां सख्यं उपसेदिम) हम देवों की मित्रता प्राप्त करें (देवाः) देवगण (जीवसे) जीवनार्थ (नः आयुः) हमारी आयु (प्रतिरन्तु) विस्तृत करें।

जीवन को उन्नति-वर्द्धन के पथ पर ले जायें जो विचार।
उद्भेदन करने वाले हों जो बाधाओं के जाल चीर।
जो सत्ऋत के अविरोधी हों ले जायें सफलता सिंधु तीर।
प्रतिदिन रक्षक हो दिव्य शक्ति निरुपद्रव बहता रहे पोत।
भव-अर्णव में जीवन उदोत ॥

जगती छन्द

देवों की भद्रा सुमति ऋजुकामी, देवों का दान हम अभितः वर्त्तें।
देवों की सख्यता हम पाते रहें, देव, जीवनार्थ आयु को विस्तारें ॥

आर्या गीत छन्द

ऋजु पथगामी देव जनों की भद्र सुमति सुखदायी प्यारी।
हमको देवों का ही एवं अविरत मिलें सुदान सुखारी ॥
सख्य सुलभ हो देवों का नित हो दक्षिण सब देव हमारे।
देव करें नित जीवन-वर्द्धन प्रेमसहित नित वय विस्तारें ॥

पद

दिव्य भद्रा सुमति पायें।
हम सरल पथ कामियों की परमसरला सुमति पायें ॥

सर्वथा सब ओर से हम ।
दान देवों का वरें हम ।
दिव्य-दान-उदारता-धारा चतुर्दिक हम बहायें ॥
सख्य देवों का मिले नित ।
दिव्यता जीवन खिले नित ।
देव, जीवन के लिए, वयतन्तु विस्तारें बढ़ायें ॥
दिव्यता वरदान पायें ।

पद

पायें दिव्य सुमति कल्याणी ।
हम ऋजुगामी दिव्यजनों का सरल उदार सुहानी ॥
देवों का ही दान अपरिमित ।
हों सब दिशि से प्राप्त अभिलषित ।
जड़-चेतन अनुकूल रहें नित दिव्य दान के दानी ॥
आयु बढ़ायें देव हमारी ।
बने दिव्य जीवन सुखकारी ।
देवों के साथी होकर हम रहें दिव्य बन प्राणी ॥
ऊपर नीचे दायें बायें ।
अन्तराल में देव बसायें ।
हम देवों की मैत्री पायें आजीवन मनमानी ॥

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियं जिन्वमवसे हूमहे वयम्।
पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥

यजु० २५-१८

अर्थ—(वयम्) हम (जगतः) चर-जंगम जगत् के (तस्थुषः) स्थावर के (पतिं) स्वामी, पालक को (धियं जिन्वम्) बुद्धि और कर्म के प्रेरक (तं ईशानं) उस ऐश्वर्ययुक्त स्वामी को (अवसे) रक्षार्थ (हूमहे) पुकारते हैं। वह (पूषा) सर्वपोषक (यथा) जहाँ (नः) हमारे (वेदसां) धनों की (वृधे) वृद्धि के लिए (असत्) हो वहाँ वही (स्वस्तये) कल्याण के लिए (अदब्ध रक्षित पायुः) दुर्धर्ष-अहिंसित रक्षक तथा पालनकर्त्ता [होवे]

जगती छन्द

जड़-जंगमपति धी के प्रेरक, ईशान को हम रक्षार्थ पुकारते ।
पूषाधन वृद्धिहेतु, स्वस्तिहेतु हो, होवो अदब्ध रक्षिता हमारा ॥

गीत

जीव-जगत् जंगम वाले ।
स्थावर जग अनुपम वाले ।
प्रभु हे निगमागम वाले ।

हे जड़-चेतन, स्थावर-जंगमपति हम तुम्हें पुकारते ।
द्यावा-पृथ्वी अन्तरिक्ष तुमको स्वामी स्वीकारते ॥

तुम पालन करने वाले ।
संरक्षण करने वाले ।
तुम धारण करने वाले ।

बुद्धिविकासक प्राणप्रकाशक तुम हो ज्ञान प्रसारते ।
हे जड़-चेतन, स्थावर-जंगमपति हम तुम्हें पुकारते ॥

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसो अस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये ॥

अथ० ७-६-३, ऋ० १०-६३-१०, यजु० २१-६

अर्थ—(सुत्रामाणं) सुन्दर प्रकार से रक्षा करनेवाली (पृथिवीं) विशाल आश्रय देनेवाली (द्याम्) प्रकाशवती (अनेहसं) पाप-हानि रहित (सुशर्माणं) उत्तम सुख देनेवाली (सुप्रणीतिं) श्रेष्ठ मार्ग पर ले जानेवाली (सु अरित्रां) उत्तम कर्णोंवाली (अनागसं) निष्पाप हम (स्रवन्तीं) न चूने वाली (अदितिं) अखण्डिता (दैवीं नावं) दिव्य नाव पर देव की [ईश्वर की अथवा प्राकृतिक दिव्यशक्तियों की] नाव पर हम निष्पाप हो (स्वस्तये आरुहेम) कल्याण के लिए चढ़ें ।

तुम अनंत ईशान हो ।
अतुलित वैभववान हो ।
करते जग का त्राण हो ।
जान स्वरक्षा के हित तव प्रति हम भगवान निहारते ॥
पूषाधन-वर्धन को तुम ।
पालन को पोषण को तुम ।
स्वस्ति हेतु हो हमको तुम ।
रहो सदा दुर्धर्ष सुरक्षक धन-सम्पद् विस्तारते ।
तुमको हम अतएव स्वस्तिहित, रक्षाहेतु पुकारते ॥

जगती छन्द

सुत्राणकरी पार्थिवी दिव्या निरापदा सुखदा अदिति सुमार्गगा ।
सु-अरित्रा अस्रवन्ती दैवी नाव में निष्पाप स्वस्त्यर्थ हम चढ़ें ॥

पद

हमारे जीवन का जलयान ।
भवसागर में बहे शान्ति से अस्रवन्त द्युतिमान ॥
जो सुन्दर सुखदायक वाहन ।
जिसका हो उत्तम संचालन ।
श्रेष्ठ मार्ग ले जानेवाला पार्थिव दिव्य महान ॥

नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजो, अयस्मयान् विचृत बंधपाशान्। यमो मह्यं पुनरित त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ अथर्व ६–६३–

अर्थ—(निर्ऋते) हे भारी विपद ! (ते नमः अस्तु) तुझे मेरी नमस्ते हो। (तिग्मतेजः, प्रवर तेज वाली तू मेरी (अयस्मयान् बंधपाशान्) सुदृढ़ लौहमयी बेड़ियों को, बंधनपाशों को (विचृत) काट दें। हे विपद ! तुझे (यमः) नियामक ईश्वर (पुनः इत) फिर भी (मह्यं) मेरे लिए (त्वां) तुझे (ददाति) दे रहा है। (तस्मै) उस (मृत्यवे) मृत्युरूप (यमाय) यम को भी (नमो अस्तु) मेरा नमस्कार हो।

त्राणकरी निरुपद्रव सुन्दर।
हो अखण्ड जो शान्त सुविस्तर।
भली-भाँति से जिसका शिवकर पूर्ण हुआ निर्माण ॥
चढ़ें देव की दिव्य नाव पर।
हम सु-अस्ति के लिए निरन्तर।
हों हम निष्पाप, चढ़ें इस ऊपर पाने को कल्याण ॥
जिसके साधन कर्ण रहें वर।
अरि से त्राणकरी जो सुन्दर।
पूर्ण निरापद, गृहवत सुखकर, जो रहित सकल व्यवधान ॥
चढ़ें सदा ही दिव्य नाव पर।
स्वस्ति शान्ति के हित निशिवासर।
पवन बहे अनुकूल निरन्तर कुशल करें भगवान ॥
सोम मित्र हों सौम्य मित्रगण।
ध्रुव अरुधन्ती हो शुभशोभन।
मंगलमय हो मरुत् औ अश्विन् इन्द्र वरुण पवमान ॥

जगती छन्द

नमः हो निर्ऋते तीक्ष्ण तेजः ·काट दे शृंखला बंधनों की।
मुझे जो पुनः यम तुझे दे रहा, उसी यम को हो मृत्यु को हो नमः ॥

पीयूषवर्ष छन्द

हे भयंकर आपदे! निर्ऋते!
नमन है तुझको अहे कृच्छ्रापत्ते!
धार पैनी तेज तेरा है प्रखर।
आज मेरे सर्व बन्धन सुदृढ़तर।
काट दे सब पाश-बन्धन काट दे।
विषम विपदा (सहन-शक्ति विराट दे) ॥

यम जगत् का जो नियामक देवता।
मृत्यु का जो रूप संहारक तथा।
दे रहा तुझको वही हित के लिए।
दे रहा मुझको वही हित के लिए।
दे विपद् वह कर रहा उपकार है।
मृत्यु-यम को मम नमन साभार है ॥

आपदा आ तू भयानक घोर आ,
आ प्रभू की देन है तू और आ।
आज अभिनन्द तुम्हारा आपदा।
है नमन तुमको हमरा आपदा ॥

वीर छन्द

तीक्ष्ण तेज वाली हे कृच्छ्रापत्ति! विपद है तुझे प्रणाम।
काट डाल तू बन्धनपाश सुदृढ़ मेरे जीवन के वाम।
जो यम मुझे तुझे देते हैं हितचिन्तक बन कर अविराम।
मृत्युरूप उस यम को भी मम है श्रद्धा के सहित प्रणाम ॥

अवधीत कामो मम ये सपत्ना उरुं लोकमकरन्मह्यमेधतुम् ।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रो मह्यं षडुर्वीर्घृतमावहन्तु ।।

अथर्व ९–२–११

अर्थ—(मम कामः) मेरी संकल्प-कामना ने (मम ये सपत्नाः) मेरे जो प्रतिद्वन्द्वी प्रतिरोधियों को (अवधीत्) वध कर दिया है, नष्ट कर दिया है। (मह्यं) मेरे लिये (उरुलोकं) विशदप्रशस्त लोक को (अकरत्) कर दिया है। (एधतुं अकरत्) वृद्धि कर दी है। (मह्यं चतस्रः प्रदिशः) मेरे लिए चारों उपदिशायें (षट् उर्वी) छओं विस्तृत दिशायें (नमन्तां) झुक जायें (मह्यं) मेरे लिए (घृतं आवहन्तु) क्षरित इष्ट फल को ले आयें।

जगती छन्द

वधे काम सपत्न जो थे उन्हें,
बढ़ा दिया उस लोक मेरे लिए।
चारों प्रदिशायें मुझे झुक जायें,
छओं दिशायें घृत मुझ ले आयें।।

रूपमाला छन्द

आज मेरे काम ने संकल्प बल ने जाग।
कर दिये क्षय सब सपत्नसमूह विघ्न-समाज ।।
जो अपरिमित विघ्न-बाधायें विकट व्यवधान।
आज मैंने उन सभी का कर दिया अवसान ।।
प्रगति-पथ से द्वन्द्व कंटक जालपूर्ण बुहार।
आज मैंने कर लिया निज क्षेत्र का विस्तार ।।
आत्ममय संकल्प बल ने पथ किया निर्बाध।
आज मैं निर्द्वन्द्व मुझको है न हर्ष विषाद ।।
सर्व प्रतिद्वन्द्वी विघातक हो गये हैं मौन।
दिव्य मम संकल्प सम्मुख टिक सकेगा कौन ।।

न घात्वद्रिगपवेति मे मनस्त्वे इत्कामं पुरुहूत शिश्रिय ।
राजेव दस्म निषदोऽधि बर्हिषि, अस्मिन् सुसोमे अवपानमस्तु ते ॥
अथर्व २०-१७-२, ऋ० १०-४३-२

अर्थ—[हे इन्द्र] (मे) मेरा (त्वद्रिक् मनः) तेरे प्रति लगा हुआ मन (न घा अपवेति) अब तुझ से दूर नहीं होता। हे (पुरुहूत) बहुतों से पुकारे हुए स्वामिन्! (त्वे इत् कामं शिश्रिय) अपनी सब कामनाओं को तुझमें ही केन्द्रित करता हूँ, आश्रित करता हूँ। हे (दस्म) दर्शनीय! तू (राजा इव) राजा तुल्य (बर्हिषि अधि निषदः) मेरे हृदयासन पर बैठ (अस्मिन् सुसोमे) इस श्रेष्ठ सोम में, आत्मा में (ते अवपानं अस्तु) तेरा अवपान हो, उतर कर पीना हो।

कर दिया मेरे लिए उरु लोक का विस्तार।
आज मेरे सामने सब खुल गया संसार॥
चार प्रदिशायें तथा छै उर्वियाँ झुक जायँ।
दश दिशायें आज ममहित अमृत घृत बरसायें॥
क्षरित हो जायें अभीप्सित कामना अभिराम।
आज मम संकल्प बल से पूर्ण हों सब काम॥
दिव्य मम संकल्प बल से विश्व सब झुक जाय।
सकल आशायें विनत हों सफलता फल लाय॥
गगन अवनत हो न पर्वत रोक पाये राह।
सिंधु सरित् प्रवाह से नत हों न मेरी चाह॥
विघ्न की उत्तुंग शृंगावलि चरण ले चूम।
कामना गाये सफलया गीत मेरी झूम॥
मैं दलूँ अवरोध सारे गा विजय के गीत।
रुष्ट सब अविनीत दुष्ट सपत्न हों अवधीत॥

जगती छन्द

मेरा तव प्रति मन न लौटता, पुरुहूत कामआश्रित तुझी में।
राजावत् दर्शनीय बैठो बर्हि में, तेरा सुसोमात्मा में अवपान हो॥

राजगीत (बिहारी छन्द)

हे देव ! रम गया है तेरी ओर मेरा मन ।
तुझसे नहीं हटता तुझी में हो गया मगन ॥
केन्द्रित तुझी में हो गयी सब मेरी कामना ।
इच्छा, सुमनोरथ के तुम आधार गए बन ॥

हे दर्शनीय सोम, हे मोहन, हे प्राण-धन ।
तेरे लिए है आज खुला हृदय-सिंहासन ॥
अर्पण है तुम्हारे लिए मेरा य' आत्मधन ।
राजन् ! पधार कर करो कृतकृत्य मन-सदन ॥

बहुतों से पुकारे हुए पुरहूत आप हो ।
करते अनेक भक्तजन प्रियतम तेरा भजन ॥
तन-मन-वचन से आप का अवलम्ब अब मुझे ।
तुझको विसार कर कहाँ जाऊँ हृदय-हरण ॥

आ जा मेरे राजा मेरे प्रियतम मेरे प्यारे ! ।
स्वीकार करो प्राणनाथ, आत्मसमर्पण ॥
निज हृदय-सिंहासन से उतर आओ पधारो ।
प्राणेश ! पुकारे तुम्हें अनुरक्त भक्तमन ॥

अपना लो मुझे अपना बना लो मेरे राजा ।
यह सोम तुम्हारा है इसी कीजिये ग्रहण ॥

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुं उत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र ॥

अथर्व ८४-२२, ऋ० ७-१०४-२२

अर्थ—हे मनुष्य तू (उलूकयातुं) उल्लू का चलन [मोह] को (शुशुलूकयातुं) भेड़िये के चलन [क्रोध को] (श्वयातुं) कुत्ते के समान व्यवहार (मत्सर) (उत) और (कोकयातुं) कोक चिड़िया के आचरण [काम] को (जहि) छोड़ दे। सुपर्णयातुं) बाज के आचरण को (उत गृध्रयातुं) और गृद्ध जैसे व्यवहार को [लोभ] को भी (रक्षः) राक्षस [मद] को (इन्द्र) हे इन्द्रिय वाले आत्मन्! तू (दृषदा इव प्रमृण) शिला के समान मसल, मिट्टीवत् चूर-चूर कर।

जगती छन्द

उलूकता को, वृक के चलन को, तज श्वानता को औ' कोकपन को।
सुपर्णता गृद्धपना असुर यह हे इन्द्र नाशो ढेला शिला सम॥

भजन

पशुता की तज नर चाल रे।
मानवता को अपनाले॥

उल्लू का आचरण त्याग रे।
मत प्रकाश से दूर भाग रे॥
है मोह असुर विकराल रे।
इससे निज वृत्ति हटाले॥ १॥

क्रूर भेड़ियापन जीवन का।
हिंसाभाव त्याग दे मन का॥
तज प्रबल क्रोध की ज्वाल रे।
बढ़ता चल होश सम्भाल रे॥ २॥

बन न कोक का अनुगामी तू।
काम असुर प्रेरित कामी तू॥
है कुटिल काम का जाल रे।
इसमें मत फँस मतवाले॥ ३॥

द्रोह त्याग दे श्वान न बन तू।
मत मत्सर कर आजीवन तू॥
मत द्वेष-घृणा को पाल रे।
तू मन में प्रेम बसा ले॥ ४॥

तू सुपर्ण व्यवहार त्याग दे।
अहंकार आधार त्याग दे॥
अन्तर से गर्व निकाल ले।
इसने कितने घर घाले॥ ५॥

तक न गृद्ध बन तू परधन को।
रोक लो लोलुप निजमन को॥
शत्रुघ्न पहन जयमाल रे।
पशुताओं पर जय पा ले॥ ६॥

अरे इन्द्रियों का बन स्वामी।
बन न इन्द्रियों का अनुगामी॥
षड्रिपुओं का जंजाल रे।
कर दमन इन्द्र! बल वाले॥ ७॥

ढेला जैसे पत्थर द्वारा।
चूर-चूर हो जाता सारा॥
त्यों असुर मसल सब डाल रे।
निज जीवन दिव्य बना ले॥ ८॥

अहमेतान् शाश्वसतो द्वा द्वेन्द्रं ये वज्रं युधयेऽकृण्वत ।
आह्वयमानाँ अवहन्मना हनं दृळ्हा वदन्न नमस्युर्नमस्विनः ॥

ऋ० १०-४८-६

(ये द्वा द्वा) ये दो-दो आने वाले द्वन्द्व (इन्द्रं वज्रं) वज्र वाले इन्द्र को (युधये अकृण्वत) युद्ध के लिए बाध्य करते हैं। (एतां) इन (शाश्वसतः आह्वयमानान्) बलवान दीखने वाले और ललकारने वाले (नमस्विनः) अन्त में झुक जाने वाले द्वन्द्वों को (अहं अनमस्युः) मैं कभी न झुकने वाला (दृळ्हा वदन्) दृढ़ वचन बोलता हुआ मैं (हन्मना) हनन करने वाले साधनों से, वाक् शक्ति से (अव अहनम्) नीचे मार डालता हूँ ।

मुक्तक

त्याग उल्लू का चलन, श्वान भेड़िये का चलन ।
कोक का आचरण त्याग (अरे मानव बन) ॥
बाज की चाल तजो, गीध के आचरण तजो ।
सकल राक्षस को मसल पत्थरवत् इन्द्रात्मन् ! ॥

जगती छन्द

इन्द्रवजी मैं इन बली द्वन्द्वों से जो मुझे युद्ध को बाध्य करते हैं ।
मैं नमस्वी ललकारते द्वन्द्वों को अनम्यूदृढ़ वाक् से ही मारता हूँ ॥

मिलिन्दपाद

युद्ध के लिए बाधित करते ये जो दो-दो करके आते ।
ललकार रहे रव हेतु मुझे जो द्वन्द्व प्रबल अति दिखलाते ॥
मेरे सम्मुख नत होते वह, मैं हूँ न कभी झुकने वाला ।
दृढ़ सिंह गर्जना वाला मैं [मैं हूँ न कभी रुकने वाला ॥]
अपनी संकल्पशक्ति द्वारा मैं मार गिराता द्वन्द्वों को ।
मैं इन्द्र वज्र आयुध द्वारा संहार गिराता द्वन्द्वों को ॥

आकूतिं देवीं सुभगां पुरोदधे चित्तस्य माता सुहवानो अस्तु। यामाशामेमि केवली सा मे अस्तु विदेयमेनां मनीस प्रविष्टाम् ॥
अ. १९-४-२

अर्थ—मैं (सुभगां आकूतिं देवीं) ऐश्वर्य विषयक संकल्प की देवी को (पुरोदधे) सामने रखता हूँ। वह (चित्तस्य माता) चित्त की माता (नः सुहवा अस्तु) हमें सहज आहवा योग्य हो (यां आशां एमि) जिस आशा को करूँ, जिस दिशा में जाऊँ (सा मे केवली अस्तु) वही केवल शुद्ध रूप में मेरे सामने होवे (मनसि प्रविष्टां) अन्तःकरण में प्रविष्ट (एनां) इस आकूति को मैं (विदेयं) जानूँ, पाऊँ।

गीत

मैं इन्द्र वज्र बल वाला हूँ संकल्प अचंचल वाला हूँ।
जो जीवन-संगर अवसर हैं, जो लगते द्वन्द्व भयंकर हैं॥
आहूत कर रहे जो मुझको भीषण दुर्धर प्रलयंकर हैं।
मैं उन्हें झुकाने वाला हूँ मैं कभी न झुकने वाला हूँ॥

यह द्वन्द्व प्रबल ललकार रहे लड़ने के लिए पुकार रहे।
मैं वाक् शक्ति द्वारा करने वाला संहार अहे!
मैं सिंह गर्जना वाला हूँ संकल्प सर्जना वाला हूँ॥

यह रागद्वेष अपमान मान, शीतोष्ण विषम सुख-दुःख ज्ञान।
जीवन के सारे द्वन्द्वों से मैं हूँ ऊपर बल वीर्यवान॥
मैं आत्मतत्त्व उजियाला हूँ हरता जड़ता अधियाला हूँ।
मैं इन्द्र वज्र बल वाला हूँ दृढ़घोष अचंचल वाला हूँ॥

जगती छन्द

सुभगा आकूति देवी पुरः धरूँ, चित्त की माता सुआहवनीय हो।
जो आशा करूँ वही मेरी मात्र हो, मन में प्रविष्टा इसे मैं पाऊँ जानूँ॥

ताटक छन्द

अभिप्राय-भावना-सुभगा-देवी आगे धरता हूँ मैं।
आ जाय बुलाने पर सत्वर अभिलाषा करता हूँ मैं॥
जो चित्त चेतनामय जीवन की माता निर्मात्री है।
वह सहज सुलभ आकूति दिव्य हो जो जीवनदात्री है॥

मैं जिस आशा को करूँ वरूँ मैं जिस-जिस दिशि में जाऊँ।
मैं केवल उसी अभीष्ट देवि को सहज सामने पाऊँ॥
जो हो प्रविष्ट सुविचार-भावना-देवी मन में पावन।
मैं उसको सम्यक् जान सकूँ पा सकूँ सदा मन-भावन॥

महालक्ष्मी छन्द

दिव्य आकूति जो है अहा! श्रेष्ठ ऐश्वर्य की दायिनी।
मैं उसे धर रहा सामने स्पष्टतः सर्वहितकारिणी॥

जो है देवी, न है आसुरी, है सुभग, दुर्भगा जब नहीं।
तब उसे क्यों प्रकट ना करूँ क्यों छुपाऊँ उसे मैं कहीं॥
वह डरें जिनकी इच्छा बुरी, अपने आशय छिपायें वही।
मैं अभय हो करूँगा प्रकट मेरी आकूति मंगलमयी॥

मेरी आकूति मंगलमयी भव्य-कल्याण-विस्तारणी।
इसलिए मैं उसे हो अभय धर रहा सामने सब कहीं॥

चित्त की चेतनामूल जो जो मनोराज्य में छा रही।
–केवली– वह ही आकूति ही सामने हो हमारे वही—
वह हो आकूति सुहवा हमें जब पुकारूँ तभी जाय मिल।
शुद्ध वह ही रहे सामने अन्य पीछे हो आशा निखिल॥
खो न जाये कहीं भाव ही आसुरी भावना जाल में।
सूर्यवत् वह प्रकाशित रहे कामना व्यूह विकराल में॥

खो न जाये कहीं लक्ष्य की प्रेरिका चेतनारूपिणी।
जो मनोराज्य संचालिका जो मनोहारिणी है धनी॥

एकः सुपर्णः समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे। तं पाकेन मनसा पश्यमन्तितः तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम् ॥
ऋ० १०-११४-४

अर्थ—(एकः सुपर्णः) एक सुपर्ण है (सः समुद्रं आविवेश) वह [अन्तरिक्ष] समुद्र में आया है, प्रवीष्ट है (स इदं विश्वं भुवनं) वह इस सम्पूर्ण संसार को (विचष्टे) विविध प्रकार से देखता है, भोग करता है। (तं पाकेन मनसा) उसे परिपक्व मन से (अन्तितः) समीपता से (अपश्यं) देखा तो (तं) उसको (माता रेळि) माता चूमती है। (सः उ) और वह (मातरं रेळि) माता को चूमता है। अथवा (एकः सुपर्णः)।

जगती छन्द

एक सुपर्ण, अन्तरिक्ष में आया, इस विश्व-भुवन को विलोकता।
उसे पाकमन से, पास से देखा माता उसे वह माता को चाटता ॥

प्रगीत

अद्भुत एक सुपर्ण विहंग।
वह समुद्र-नभ में प्रविष्ट है बहता संग तरंग ॥
आया वह विहार को खग है।
विविध भाँति लखता अग-जग है।
भोग रहा वह विश्वभुवन को लखता विविध प्रसंग ॥
मैं जो अन्तर के लोचन से।
उसे प्रौढ प्रज्ञा से, मन से।
लखता हूँ जो अन्तरंग से (तब रह जाता दंगा ॥)
कैसा मा सुत का नाता है।
चाट रही उसको माता है।
वह भी माँ को चाट रहा खग, माँ संग सहित उमंग।
अद्भुत एक सुपर्ण विहंग ॥

स दर्शत श्रीरतिथिर्गृहे गृहे वने वने शिश्रिये तक्कवीरिव।
जनं जनं जन्यो नातिमन्यते विश आक्षेति विश्यो विशं विशम् ॥

ऋ० १०–९१२

अर्थ—(दर्शत श्री) दर्शनीय श्री वाला (सः) वह अग्नि (गृहे गृहे अतिथिः) ग्रहणीय पदार्थों में, घर-घर में अतिथितुल्य पूज्य (गृहे गृहे) घर-घर में (वने वने) वन-वन में (तक्कवीः इव) चोर की तरह (शिश्रिये) प्रच्छन्न है, समाश्रित है, शोभा को प्राप्त है। (जन्यः) जन्म लेने मात्र के लिए हितकारी वह (जनं जनं) जन-जन में स्थित (न अतिमन्यते) अतिक्रमण नहीं करता। और (विश्यः) प्रजा का हितैषी (विशं विशं) प्रत्येक प्रजाजन में बसता हुआ (विशः) समष्टि रूप सर्व प्रजा में (आक्षेति) राजावत् निवास कर रहा है।

जगती छन्द

दर्शत श्री, अतिथि गृह-गृह में वन-वन में तक्कवीवत् छिपा वह।
जन्य, जन-जन को न अतिक्रम करे विश्य विश-विश में राजता ॥

राधिका छन्द (ख्याल)

वन अतिथि समाया वह गृह-गृह वन-वन में।
वह जन्य अग्नि प्रच्छन्न छिपा जन-जन में ॥
वह अग्निदेव है दर्शनीय श्रीवाला।
जग-जीवन को देता आलोक उजाला ॥
वह अतिक्रमणं करता न त्याग मर्यादा।
वह विश्य विशों का है उसने हित साधा ॥
उस ज्योतिमर्य की है विभूति त्रिभुवन में।
वह अतिथिपूज्य व्यापक गृह-गृह वन-वन में ॥
जन-जन अधिवासी वह समष्टि अधिवासी।
सम्पूर्ण प्रजा में जागरूक अविनाशी ॥

ऋतूयन्ति ऋतवो हृत्सु धीतयो वेनन्ति वेना पतयन्त्यादिशम्।
न मर्डिता विद्यते अन्य एभ्यो देवेषु मे अधिकामा अयंसत ॥
ऋ० १०-६४-२

अर्थ—(हृत्सु) हृदय में (धीतयः) धारण किए हुए (ऋतवः) ऋतु, विचार (ऋतूयन्ति) विचार करते हैं (वेनाः) प्रेमल कामनाएँ (वेनन्ति) कामना करती हैं (आदिशः पतन्ति) आदेश, अन्यायपूर्ण गिरते हैं। (दिशः आपतन्ति) दिव्य निर्देश आ रहे हैं। (अन्यः एभ्यः स मर्डिता न विद्यते) और इन देवों के अतिरिक्त सुखदाता नहीं है। अतः (मे कामाः) मेरी कामनाएँ, प्रेरणाएँ, इच्छायें (देवेषु अधि) देवों में ही (अयं सत) सुनियमित, वद्ध, नियंत्रित हो गयी हैं।

वह तस्कर सा है छिपा पड़ा ज्योतिर्घन।
जन, विश-समूह, संसृति अन्तर में शोभन॥
प्रच्छन्न रूप रम रहा विश्व कण-कण में।
वह अतिथिपूज्य, सुन्दर गृह-गृह वन-वन में॥

जगती छन्द

हृदयस्थ ऋतु संकल्पते, वेना चाहतीं, निर्देश इतस्ततः आते।
इनके सिवा अन्य सुखद नहीं, देवों में ही मेरी कामनाएँ बँधी॥

मुक्तक

आसुरी भावों से स्वामिन्! आज घबराता हृदय।
सत्व-शिव-संकल्प से दैवी हुआ जाता हृदय॥
चाह मुझको राह तेरी के सिवा कुछ भी नहीं।
दिव्यता अनुरक्ति से ऊँचा उठा जाता हृदय॥

वीर छन्द

कर्मशील कर्मों को करते हृदयों में धरते हैं ध्यान।
बुद्धि कान्ति को आचरते हैं कान्तिमान मानव धीमान॥

नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः ।
ज्योती रथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये ॥

ऋ० १०-६३-३

अर्थ—(नृचक्षसः) मनुष्यों को सम्यक् देखने वाले (अनिमिषन्तः) सजग, जागरूक (अर्हणाः) पूजाद्वारा (देवासः) देव लोग (बृहत्) महान् (अमृतत्वं) अमरपन को, मोक्ष को (आनशुः) प्राप्त करते हैं। वे (ज्योतिः रथा) ज्योति रथारुढ़ (अहिमाया) अप्रतिहत प्रज्ञावान् (अनागसः) निष्पाप (स्वस्तये) कल्याण के लिए (दिवः वर्ष्माणं वसते) तेजोमय दिव् के लोक में, दिव् के श्रेष्ठ सत्व से आच्छादित सुखवर्षक धाम में (वसते) निवास करते हैं।

अनया देश गिरानेवाले अन्य न कोई सुखद समाज।
अतः मनोरथ मेरे सारे देवों में ही नियमित आज ॥
(या) हृदयस्थित संकल्प सर्व हैं आज तुझी में केन्द्रित देव ।
आशायें सब अभिलाषायें दिव्योन्मुख हो रहीं तथैव ॥
दिव्य शान्ति सुख देनेवाला अन्य नहीं कोई आलोक।
दिव्य लोक में लीन कामनाएँ मेरी हो उठीं अशोक ॥

गीत

देव हम चले दिव्यता ओर।
धारण कर निज अन्तराल में शिवसंकल्प अथोर ॥
प्रेम मधुर सुन्दर आशायें, मधुर कामनाएँ इच्छायें।
रज-तम को तज दायें-बायें हैं देवत्व-विभोर ॥
लक्ष्य दिव्यता ही सम्प्रति है, संकल्पों की अन्तिम गति हैं।
नियमित हैं देवत्व परिधि में संकल्पों का छोर ॥
सुखदायक न अन्य साधन अब, सतत ऊर्ध्वगामी जीवन अब।
दिव्य लोक में सुखनियमन अब, कीजे करुणा कोर ॥

जगती छन्द

नर द्रष्टा, अनिमेषी उपासना से देव बृहत् अमृतत्व पाते हैं।
ज्योतिरथी, अप्रतिहत प्रज्ञावान् निष्पाप स्वस्त्यर्थ दिव धाम राजते ॥ ३

राजगीत (विधाता छन्द)

निरीक्षक, पथ-प्रदर्शक, दिव्य प्रेरक देव होते हैं।
अमृत-भाजन, मनुजता के सहायक देव होते हैं॥
न सब होते मनुजता के यथावत् देखनेवाले।
मनुज-विज्ञान के सम्यक् अधीक्षक देव होते हैं॥
तिमिरनाशी अमर निष्पाप जागृत् ज्योतिरथवाले।
अप्रतिहत दिव्य प्रज्ञा के प्रकाशक देव होते हैं॥
अमर जो धाम सुखवर्षक बृहद् है मोक्ष ज्योतिर्मय।
उसे ही दिव्य पाते हैं पूजा से उपासक देव होते हैं॥
सभी होते हैं वे दिव् लोकवासी सत्त्वगुणवाले।
मरण तज कर महा अमरत्वधारक देव होते हैं॥
सतत जागृत जगत्-कल्याणकर्त्ता पूज्य अघनाशी—
निरन्तर स्वस्तिकर्त्ता सौख्यदायक देव होते हैं॥
जगत्-कल्याण के कारण किए दिव् देह को धारण।
विकसते हैं परम सुखधाम लाभ के देव होते हैं॥

वीर छन्द

मानव के सम्यक् दर्शक सुपरीक्षक मानवीय विज्ञान।
सजग सतत पूजा के द्वारा पा जाते अमरत्व महान॥
दिव्य अप्रतिहत प्रज्ञावाले ज्योतिरथी सुकृती द्युतिमान्।
सुखवर्षक द्युलोक में बसते हैं करते रहते कल्याण॥

तन्तुं तन्वन्रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान्। अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनय दैव्यं जनम् ॥

ऋ० १०-५३-६

अर्थ—(रजसः) संसार का (तन्तुं) तानाबाना (तन्वन्) तानता हुआ भी तू (भानुं) विज्ञान-प्रकाश के (अनु इहि) अनुसरण कर, पीछे चल। इस तरह (धिया) बुद्धि से (कृतान्) विनिर्मित (ज्योतिष्मतः) प्रकाशमान (पथः रक्ष) मार्गों की रक्षा कर। (जोगुवां) निरन्तर ज्ञानकर्म के अनुष्ठान करने वाले भक्तों के (अनुल्बणं) उलझन रहित, सरल एकसार (अपः) व्यापक कर्मों को (वयत) बुन, विस्तृत कर। (मनुर्भव) मननशील बन। (दैव्यं जनं) दिव्य के जन को (जनय) उत्पन्न कर।

जगती छन्द

रज का तन्तु तान, भानु पीछे जा, रक्षाकर धीकृत् ज्योतित पथों की।
सीधा बुन भक्तों के व्यापक कर्मों को मनु बन, दैव्य जन को जन ॥

मुक्तक (मिलिन्दपाद)

तानता जा जग में कर्म का ताना-बाना।
प्रकाश की दिशा में नित्य पग बढ़ाये जा ॥
बचाये जा सुकर्म आँचल से आँधी में।
प्रदीपज्योति-शिखा दिव्य जगमगाये जा ॥
उलझ न राह की उलझन में मनुजता के व्रती।
मनुष्यता से तू देवत्व लौ उठाये जा ॥

प्रगीत

रे नर मननशील मानव बन।
मानवता का पथ प्रशस्त कर बना दिव्य निज जीवन ॥
जीवन-पट का ताना-बाना बुनता चल शुभ कृत से नाना।
प्रगतिशील बन तू प्रकाश का अनुगामी आजीवन ॥
धीमानों कृत परम्परागत, कर प्रशस्त तू ज्योतिर्मय पथ।
बन प्रकाशवाहक संस्कृति का कर रक्षण संवर्धन ॥

विशं विशं मघवा पर्यशायत जनानां धेना अवचाकशद्वृषा ।
यस्याह शक्रः सवनेषु रण्यति स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यत ॥
ऋ० १०-४३-६

अर्थ—(मघवा) परमैश्वर्यवान् (विशं विश) प्रत्येक मनुष्य में (परि अशायत्) चुपचाप लेटे हुए व्याप्त है । (वृषा) सुखवर्षक ईश्वर (जनानां) लोगों की (धेनाः) ज्ञान-क्रियाओं को (अवचाकशत्) देख रहे हैं । (अह) पर (शक्रः) हे शक्तिसम्पन्न तुम (यस्य) जिसके (सवनेषु) ऐश्वर्यों में, यज्ञों में (रण्यति) रमण करते हो (सः) वह (तीव्रः सोमैः) अपने तीव्र सोमों से, प्रबल उच्च ज्ञान-राशि से (पृतन्यतः) सब आक्रमणकारियों को (सहते) सहन कर लेता है, झेल लेता है, विजय कर लेता है ।

महाजनों द्वारा निर्देशित उलझनरहित कर्म कर विस्तृत ।
मानव बन उत्कर्षोन्मुख हो कर देवों का प्रणयन ॥

कबीर

सुन रे जीव जुलाहे मेरे, बुन रे तू दैवी परिधान ।
अन्तरिक्ष से भानुलोक तक ताना-बाना तान ॥
ज्ञान-कर्म का ताना-बाना तानी अपनी विशद बनाना ।
संस्कृति का ले सूत जुलाहे देवयान पथ तक ले जाना ॥
बुद्धि सुकौशल द्वारा करना दिव्य कला का ज्ञान ॥
बन उद्योगी बड़े यत्न से दिव्य कला की चला प्रणाली ।
कलाविदों ने किये परीक्षण ज्योतिष्मती प्रणीति निकाली ॥
करता चल तू प्रणीतियों की रक्षा-सन्धान ॥
भक्त-जनों के विशद कर्म से विमल भक्ति संसिक्त बना ले ।
बुनता चल इकसार जुलाहे ! मननशील हो कर्म संभाले ॥
दिव्य प्रकाशमान जीवनपट का कर नर निर्माण ॥

जगती छन्द

विश-विश में मघवा लेटे, देख, वृषा जनों की ज्ञानक्रिया प्रकाशें ।
शक्र रमो जिसके सवनों में वो तीव्रसोमों से सहे आक्रांताओं को ॥

राधिका छन्द

है घट-घट अन्तर्वासी मघवा प्यारा।
मानस-मंदिर में देव प्रतिष्ठित न्यारा॥
वह मघवा परमैश्वर्यवान जगदीश्वर—
करते प्रकाश से आलोकित अभ्यन्तर॥
वह वृषा सुखों का वर्षण करने वाला।
विज्ञान-क्रियायें नियमन करने वाला॥
वह शक्र शक्तिसम्पन्न विधायक ईश्वर।
करते हैं जिसका वरण सोम अध्वर वर॥
वह पुरुष तीव्रतम सोम सवन के द्वारा।
होता विजयी जय कर विघ्नों की कारा॥
सहता सहर्ष वह सकल आक्रमण भीषण।
सर कर लेता वह नर जीवन-समरांगण॥

× × ×

हे मघवन्! देव वृषन् हे शक्र वज्रधर!।
तुम रमो हमारे सोम सवन में सुखकर॥
कर दो अजेय तुम हमें तेज-बलशाली।
हर दो विघ्नों की घोर तमिस्रा काली॥
दो हमें ज्ञान का कवच धैर्य का संबल।
हे देव, पधार करो जीवनमख उज्ज्वल॥

सा मा सत्योक्ति परिपातु विश्वतो द्यावा च यत्र ततन्न-हानि च । विश्वमन्यं निविशते यदेजति विश्वाहापो विश्वाहो-देति सूर्यः ॥ १०–३७–२

अर्थ—(यत्र) जहाँ, जिसके सहारे (द्यावा च अहानि च) दिन-रात, द्युलोक तथा काल (ततनन्) विस्तृत हुए हैं (यत् एजति) जो गतिशील है वह (अन्यत विश्वं) जड़ से अन्य चेतन-जगत् भी जिसके आश्रय (निवेशते) बसता है । जिससे (आपः विश्वाहा) सर्वदा जल-नदी-समुद्रादि, समस्त प्रजाएँ, सदैव व्यापक ऋत-प्रवाह [चल रहा है] (विश्वाहा सूर्यः उदेति) जिसके सहारे नित्य सूर्य उदय होता है (सा) वह (सत्योक्तिः) सत्य वचन (मा विश्वतः परिपातु) मेरी सब ओर से रक्षा करे ।

जगती छन्द

व' सत्योक्ति मेरी नित्य रक्षा करे जिससे द्यु अहोरात्रि विस्तृत हैं ।
जिसमें अन्य विश्व बसता सदा, आप चलता नित्य सूर्य उगता ॥

पद

वह हो रक्षा कवच हमारा ।
तना वितान दिव्य लोकों का जिस सत्य-व्रत द्वारा ॥
सतत सनातन से वासर ने जिस द्युति को विस्तारा ।
उसी सत्य की दिव्य प्रभा से मिटे नैश अँधियारा ॥
क्षण-भंगुर है दीख रहा जो गतिमय जगत् पसारा ।
प्रलय-लीन हो जाता रहता केवल सत्य-सहारा ॥

सदा एक है 'आप' सत्य-नियमों की शाश्वत-धारा।
सतत उदित तो एक मात्र है सत्य-सूर्य ही न्यारा॥
वही पूर्ण सत्योक्ति बने मम जीवन का ध्रुव तारा।
रामनिवास सत्य से जीवन आलोकित हो सारा॥

राजगीत

ये जिसके सहारे भुवन चल रहा है।
धरा चल रही है गगन चल रहा है॥
समय-चक्र चलता है जिसके सहारे।
अहो रात्रि आवागमन चल रहा है॥
ये सरिता ये निर्झर ये गम्भीर सागर।
पयोधर घुमड़ते, पवन चल रहा है॥
है जिसके सहारे सकल विश्व-जीवन।
मरण चल रही है, सृजन चला रहा है॥
करे सब दिशाओं से मेरी सुरक्षा।
कि जिससे सकल विश्व-क्रम चल रहा है॥
रखे मुझको सब ओर से वह सुरक्षित।
सत जो अटल सत् वचन चल रहा है॥
बचाती रहे मुझको नित ईशवाणी।
कि जिससे स्वयं ईश-मन चल रहा है॥
सदा सत्य-आलोक भरपूर सूरज।
किये ज्योति धारा वरण चल रहा है॥
वही सत्य उक्ति हो मेरी सहारा।
कि जग जिससे प्रत्येक क्षण चल रहा है॥

(उर्दू से रूपान्तरित)

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामित्रो व्यथिरा-दधर्षति । देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह ॥ ऋ० ६–२८–३, अथ० ४–२१–३

अर्थ—(ताः) यह गो, इन्द्रियाँ, विद्याएँ, भूमियाँ तथा वेदवाणियाँ, रश्मियाँ (न नशन्ति) नष्ट नहीं होती हैं । (न दभाति तस्करः) न सताता है चोर (न आसां) न इनको (आमित्रः व्यथिः) शत्रुकृत व्यथा भी (न आदधर्षति) बल से छीन सकता है । (याभिः) जिन इनसे (गोपतिः) इनके पालक (देवां) देवों का (यजते) यजन करते हैं । और उन्हें (ददाति) देता है । (ताभिः) उन इन गौवों के (सह) साथ (गोपति) इनका स्वामी (ज्योक् इत) चिरकाल तक (सचते) संयुक्त रहता है ।

जगती छन्द

न वे नष्ट होवें न तस्कर चुरावें न शत्रुकृत दुःख ही सतायें ।
इनसे करे देव-यजन इन्हें दे, सह गोपति के सदा रहें ये ॥

भजन

हें इन्द्र तुम्हारी इन्द्रियगण अविनाशी और निराली हैं ॥
तस्कर इनको हर सके नहीं, अरि व्यथित इन्हें कर सके नहीं ।
बल से न छीन सकता कोई भय से न भागने वाली हैं ॥
करते तुम इनसे देव यजन, देवार्थ इन्हें करते अर्पण ।
हिल-मिल कर रहें तुम्हारे संग ना संग त्यागने वाली हैं ॥१॥
गोपाल तुम्हारी ये गौवें हों नष्ट न दिव्य निराली हों ॥
तस्कर इनको हर सके नहीं अरि व्यथित इन्हें कर सके नहीं ।
बल से न छीन पाये कोई भय से न भागने वाली हों ॥
तुम करो इन्हीं से देव यजन, देवों को देवो गोरसधन ।
हिल-मिल कर रहे तुम्हारे संग ना संग त्यागने वाली हों ॥२॥
विद्वान् तुम्हारी विद्याएँ (पूर्ववत्) ॥ ३ ॥
भोपाल तुम्हारी ये पृथ्वी (आगे पूर्ववत्) ॥ ४ ॥

प्रत्नान्मानादध्याये समस्वरञ्छ्लोक यन्त्रासो रभस्य मन्तवः । अपानक्षासो बधिरा अहासत ऋतस्य पंथां न तरन्ति दुष्कृतः ॥ ऋ० ९-७३-६

अर्थ—(ये) जो (प्रत्नात् मानात् अधि) अति प्राचीन निर्माण-स्थान प्रभु से, आदि स्रोत से (आ) आकर (संस्वरन्) सम्यक् सुप्रकाशित है, सम्यक् उच्चरित है, समवेत बज रही हैं (श्लोक यन्त्रासः) पवित्र वेदज्ञान से नियन्त्रित, वेदयन्त्रवाली, वेद-वाद्यवाली (रभस्य मन्तवः) समग्र विश्व-ज्ञानी प्रभु के ज्ञान को जानने वाली इन्हें (अनक्षासः बधिराः) अन्धे-बहिरे [संसार के पापी जन] (अप अहासत) छोड़ देते हैं । (ऋतस्य पंथां) सत्य-मार्ग को (दुष्कृतः) दुष्ट जन (न तरन्ति) नहीं तरते हैं ।

वागीश ! तुम्हारी वेद गिरा (आगे पूर्ववत्) ॥ ५ ॥

पद

इन्द्र तव गौएँ दिव्य निराली ॥
इन्हें चौर का भय न सताये । हरण नहीं कोई कर पाये ॥
नहीं अमित्र व्यथा पहुँचायें ।
ये दुर्धर्ष अदम्य न भय से कभी भागने वाली ॥
ये हैं देव यजन का साधन । गोपति इन्हें करे देवार्पण ।
यह गोपति की सहवासिन बन सदा विचरने वाली ॥

प्रसाद छन्द

इन्द्र ये विद्याएँ दुर्धर्ष अप्रतिहत गौ जिसका नाम ।
न तस्कर का जिनको भयलेश, तुम्हारी चिर संगी अभिराम ॥
न अरिगण व्यथित कर सके इन्हें पलायन करें न जो भयभीत ।
लगे देवोचित कृत में सदा आत्मसंगी बन परम-पुनीत ॥
देवगण यजन उपकरण तथा देवअर्पित हैं जो गोनाथ ।
वही हो जाती हैं कृतकृत्य सदा रहती आत्मा के साथ ॥

जगती छन्द

श्लोकयन्त्रित रभस की ज्योतियाँ पुरास्रोत से संस्वरित आ रही ।
इन्हें अन्धे-बधिर तज देते हैं दुष्कृति ऋत-मार्ग न तर पाते ॥

मुक्तक

विश्व के मंच पर बजती हैं सनातन-वीणा,
अनवरत आदि से झंकृत हैं पुरातन वीणा—
इनको सुन पाते नहीं अंध-बधिर जन जग के।
दुष्ट ऋत-मार्ग न तर पाते वे बिन सुन वीणा॥

गीत

ज्योतिर्मय वंशी बजती, छिड़ा सोमगीत रे!
सुन मेरे प्राण-सखा सुन मनमीत रे!
दिव्य संगीत द्वारा फैला आलोक जो है।
उसका रसपान करता पुण्यश्लोक जो है॥
रसस्रोत ओतप्रोत पावन उद्गीथ रे!
सुन-मेरे प्राण-सखे! सुन मनमीत रे॥
ऋत-पंथ नभ से पावन जो लहर मदिर।
देखें सुनें वे कैसे जो जन हैं अंध-बधिर॥
सुन दिव्य दृगकर्ण खोल के सप्रीत रे!
छिड़ा पुराकाल से ये दिव्य सोमगीत रे!
ऋतमार्ग तर नहीं पाते कभी दुष्कृती।
ऋतमार्ग तरते हैं यहाँ वही सुकृती॥
देखें सुने जो दिव्य वेणु को पुनीत रे!

सहस्रधारे वितते पवित्रे आवाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः। रुद्रास एषां इषि रास अद्रुहः स्पश्नः स्वंच सुदृशो नृचक्षसः ॥ ऋ० ९-६३-६

अर्थ—(कवयः मनीषिणः) कवि, क्रांतदर्शी, मनीषीजन, ज्ञानी लोग (वाचं) वाणी को (सहस्रधारे वितते पवित्रे) हजारों धाराओं वाले विस्तृत पवित्र स्रोतों में, अगणित धारक-शक्तिसम्पन्न सोमस्रोत में (आपुनन्ति) पूर्णतया पवित्र कर लेते हैं (एषां) इन मनीषियों के (रुद्रासः) प्राण (इषिरासः) दूर तक पहुँचने वाले, प्रेरक (अद्रुह) द्रोहरहित, सर्वप्रिय (स्वंच) उत्तम, पूज्य (सुदृशः) सुन्दर दृष्टि वाले (नृचक्षसः) मनुष्यत्व पारखी (स्पश्नः) दूतवत् हो जाते हैं।

जगती छन्द

वितत सहस्रधार पवित्र में, करते वाक् पवित्र कवि मनीषी।
उनके प्राण प्रभावी स्वंच दूत, अद्रोही सुदृश नृज्ञानी होते हैं ॥

कुण्डली छन्द

सुकवि मनीषीगण सुधी मेधावी निष्णात।
करते पावन वाक् निज सोम-स्रोत रसस्नात ॥
सोम-स्रोत रसस्नात सहस्र वितत धारायें।
हर देती हैं द्रोह मोह कल्मष कारायें ॥
उनकी होती प्राणमयी वाणी दूती सी।
हो जाते पावन नृपारखी सुकवि मनीषी ॥

आनन्दीलय

जो मनुज-जाति के नेता हैं मानव-जीवन के विज्ञानी।
जो सर्वपूज्य सम्यक् द्रष्टा जो सौम्यरूप अन्तर्ध्यानी ॥
नव-नव सहस्र धाराओं की विस्तृत पवित्र रस निधि में सन।
मेधावी विश्वदेव सारे हैं क्रान्ति सूत्रधारक कविगण—
वे सोम-स्रोत में ओत-प्रोत करते अपनी वाणी पावन।
निर्द्रोही शीलवंत वाणी के संवाहक उत्तम कविजन ॥

समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथि जनानाम् ।
स पूर्व्यो नूतनमाविवासत् तं वर्त्तनिः अनुवावृत एकमित्पुरु ॥
अथर्व ७-२१-१

अर्थ—(विश्वे) हे सर्वजनो ! (दिवः पतिं) प्रकाशपति, दिव्यता के अधिष्ठाता के लिए (वचसा) वाणी द्वारा (सम् एत) समवेत, एकत्र होकर आओ । वह (एकः विभूः) एक ही सर्वव्यापक (जनानां) समस्त जनों में (अतिथिः) अतिथि रूप पूज्य है । वह सबसे पुराना (सः पूर्व्यः) पूर्व विद्यमान्, आदिकारण (नूतनं) नये जगत् को (आविवासत्) व्याप्त करता है, सेवन करता है । (तं) उस (एकं) एक मात्र आदिकारण को ही (पुरु) बहुत प्रकार से (वर्त्तनि) मार्ग, रास्ते (एकं इत) एक ही प्रति (अनुवावृते) जाता है ।

जो मन्त्रमुग्ध करने वाली बोलते सुधासिंचित वाणी ।
हे सोम ! आप द्वारा प्रेरित होती वे वाणी कल्याणी ॥

हरिगीतिका छन्द

कवि मनीषी धार अगणित के विशद रस-स्रोत सन ।
पूर्णतः करते सुपावन निज गिरायें कण्ठ-स्वन ॥
प्राणरूप अनूप अतिशय दूरगामी दिव्यतम ।
सोमरस आकण्ठ-मग्ना वाक् बनती शुचि परम ॥
सत्त्व का होता उदय मिटती रजस् तम भावना ।
दिव्य वाणी से सुजीवन दिव्य बन जाता घना ॥
द्रोह मिटता विनय आती दृष्टि दिव्य सुहावनी ।
देववाणी से सुकवि बनते सुनायक अग्रणी ॥

जगती छन्द

जनो ! एकमत हो, आओ, दिवः पति को, एक विभू अतिथि जो जनों में ।
वह पूर्व्य, नूतन को व्यापे, सेवे, उस एक को ही जाते पथ बहु ॥

पद

आइये समवेत होकर।
विश्वजन उस दिव्य पति के गाइये गुणगान शुचितर।
वह विभू है एक न्यारा, सब जनों का प्राण प्यारा॥
अतिथि सम मानस-भवन में बस रहा हृदयेश प्रियवर।
वह पुरातन से पुरातन अथच न नव-नव नित्यनूतन॥
कर रहा संसार सेवन व्याप्त वह जग में निरन्तर।
प्राप्य एकाकी वही रे विविध पथ चर पर सभी रे॥
एक है जब देव सबका क्यों न हों हम सर्व सहचर।
आइये उस देवपति के गाइये गुणगान सुन्दर॥

× × ×

प्रभु हैं केवल एक हमारे।
गाओ गुण समवेत उसी के अतः विश्वजन प्यारे॥
एक वही तो विभु व्यापक हैं संसृति के नायक शासक हैं।
पूज्य प्रतिष्ठित अतिथि हृदयधन मनमन्दिर उजियारे॥
यद्यपि है वह पुरुष पुरातन सेवनकर्त्ता पर नितनूतन।
यह सारा संसार सुसेवित है उसके द्वारा रे॥
इष्टदेव है वह सर्वेश्वर अतः चलें हम सब मिल-जुलकर।
प्राप्य लक्ष्य वह एक मात्र पर पथ हैं न्यारे न्यारे॥
विभु हैं केवल एक हमारे।

संजानामहै मनसा संचिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन।
मा घोषा उत्स्थुर्बहुले विनिर्हते मेषु पप्तत् इन्द्रस्य अहन्यागते ॥
अथर्व० ७-५२-२

अर्थ—हम लोग (मनसा) मनद्वारा (सं) मिलकर (जानामहै) विचार किया करें (चिकित्वा) सोचना-समझना (सं) मिलकर (दैव्येन मनसा) दिव्य मन द्वारा, दिव्य विवेक पूर्वक मनन द्वारा (मा युष्महि) कभी अलग न हों (बहुले विनिर्हते) बड़े अंधकार आनेपर, विशाल द्यावापृथ्वी के डरने पर भी, महायुद्ध की विभीषिका से भी (घोषाः) चीत्कार, हाहाकार (मा उत् स्थुः) न उठें (अहनि आगते) दिन आनेपर, समृद्धि शान्तिकाल आने-पर भी (इन्द्रस्य इषु) ईश्वरीय बाणरूप कोप (मा पप्तत्) नहीं पड़े [हम पर]।

जगती छन्द

मन द्वारा मिल के सोचे समझें हम दैव्य-मन से न वियुक्त हों।
आगाध रात में हाहा न उठे अभ्युदय में इन्द्र-इषु न पड़े॥

पद

दिव्य मन होवे हमारा।
हों सभी का एक ही सुविचार और आचार न्यारा॥
साथ मिल-जुलकर विचारें, दैव्य मेधा-बुद्धि धारें।
दिव्य चिन्तन हम करें सम्यक् सदा मन-बुद्धि द्वारा॥
तमस् घन या प्रलय टूटे, या दिवस रवि-रश्मि छूटे॥
दिव्यता मन की हमारे कर नहीं पाये किनारा॥
इन्द्र के इषु से अहर्निशि, हों अभय जीवन सकल दिशि।
हो न हाहाकार का रव युद्ध या अभिशाप द्वारा॥

चपवैया छन्द (मिलिन्दपाद)

हम रहें परस्पर, सब मिल-जुल कर, करें न कभी किनारा।
सम्यक सुविचारें काज सँवारे दैवी मन के द्वारा॥
हम बिछुड़ न जायें दायें-बायें छाये जब अंधियारा।
रव उठे न कातर हाहा का स्वर दारुण विप्लव द्वारा॥
सर्वोदय में अरुणोदय में नित बहे प्रेम की धारा—
हम पर परमेश्वर कुपित न होकर डाले वज्र करारा॥

तं पृच्छता स जगामा स वेद स चिकित्वाँईयते सान्वीयते। तस्मिन्त्सति प्रशिषस्तस्मिन्निष्टयः स वाजस्य शवसः शुष्मिणस्पतिः ॥

तमित्पृच्छन्ति न सिमो विपृच्छन्ति स्वेनेव धीरो मनसा यदग्रभीत्। न मृष्यते प्रथमं नापरं वचो अस्य क्रत्वा सचते अप्रदपितः ॥ ऋ० १-४५-१, २

अर्थ—हे मनुष्यो (तं) उस अग्निदेव से [आचार्य या अन्तरात्मा से] (पृच्छत) पूछो। यतः (सः जगाम) वह अव्याहत सर्वत्र गति वाला है। (सः वेद) वह जानने वाला है। (स चिकित्वान्ईयते) सब जानता हुआ जाता है। (सः नु ईयते) वही अन्यों द्वारा अनुकरणीय है, लक्ष्य तक शीघ्र जाता है। (तस्मिन् प्रशिषः) उसमें सब प्रशासन, आज्ञायें (तस्मिन् इष्टयः) उसमें इष्टियाँ (सन्ति) हैं। (सः वाजस्य शवसः) वह ज्ञान का, बल का (शुष्मिणः) और बली का, बलवानों का (पतिः) पति है।

(तं इत्) उसी को ही (पृच्छन्ति) सब पूछते हैं। पर (सिमः) कोई (न वि पृच्छन्ति) विशेष नहीं पूछ पाते, विभिन्न नहीं पूछते हैं। (धीरः) धीर [भी] (मनसा यत्) मन से जो (स्वेन इव अग्रभीत्) निजमन से ही ग्रहण कर सकता है। वह अग्नि (प्रथमं वचः) प्रथम बोल को (न अपरं वचः) न अन्य बोल को ही (मृष्यते) सहता है। अन्तरात्मा की आवाज असंदिग्ध होती है। (अप्रदपितः) विनीत, दर्परहित होकर, आया पुरुष ही (अस्य क्रत्वा) इसके क्रतु से (सचते) संयुक्त होता है। इसके कर्म या प्रज्ञ से समन्वित होकर लाभ उठाता है।

जगती छन्द

उसे पूछो वही सर्वज्ञ, सर्वग वह जानता हुआ शीघ्र जाता है।
हैं उसी में प्रशासन सर्व दृष्टि, वे हैं वाज बल औ' बली का स्वामी ॥
पूछते उसी को पर न विशेष, धीर भी पाता स्वमन गृहीत ही।
प्रथम वाक् न अपर वह सहे, विनीत इसके क्रतु से युक्त हों ॥

गीत

अन्तरामा की पुकार, सुन मन बार-बार,
वही नायक हमारा है अग्नि अग्रणी।
एक उसी से पूछो ऋत-पथ ध्यान दो,
निहित उसी में एक मात्र समाधान तो॥
वही ज्ञाता महान् जाता है सभी स्थान,
शीघ्रगामी, उसी से है चेतना घनी॥ १॥

उस ही की प्रेरणा से खुलें दिव्य दृष्टियाँ,
एक मात्र उसी में निहित सर्व इष्टियाँ।

वह प्रशासक महान बलवान ज्ञानवान,
बलवानों का स्वामी है जीवन धनी॥ २॥

× × ×

पूछते सभी हैं सभी माँगते प्रकाश हैं।
पर न विशेष पूछपाते अनायास हैं॥
धीर जन यथा मन कर पाते हैं ग्रहण।
पाते सीमित स्वमन अनुसार रोशनी॥ १॥
सुनना उसी को है तो त्याग अभिमान दे।
उस ही की ज्ञान और प्रेरणा पै ध्यान दे॥
पूर्वा-पर के वचन वह सुनता न मन!
सुन उस ही की वाणी पीयूषवर्षिणी॥
होगा जो जनतिर अभिमानी,
सुन पायेगा इसकी वाणी।
इसके कर्म प्रज्ञाबल में संयुक्त अविकल,
मिला देता विनीत निजता ही अपनी॥ २॥

प्रवो महे मंदमानाय अन्धसो अर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे। इन्द्रस्य यस्य सुमखं सहो महिश्रवो नृम्णं च रोदसी सपर्यतः॥

ऋ० १०-५०-१, यजु० ३३-२३

अर्थ—हे मनुष्यो! (वः) तुम उस (महे) महान् (मंदमानाय) सदा मोदमय (अन्धसः) सुखभोग के देने वाले (विश्वाभुवे) विश्व में समाये हुए, विश्वव्याप्त (विश्वानराय) विश्वानर देव के लिए [जिसमें समग्र विश्वनर समाविष्ट हैं] (प्रअर्चा) पूजा करो (यस्य इन्द्रस्य) जिस इन्द्रेश्वर का (सुमखं) सुन्दर यज्ञ, (महिश्रवः) महान् ज्ञान, यश, अन्नधन (सहः) बल व तेज (नृम्णं च) और बल (रोदसी) द्यावा-पृथ्वी दोनों संसार (सपर्यतः) समुपासन कर रहे हैं [तुम भी उसी उक्त गुणग्राम वाले प्रभु की उपासना करो]।

जगती छन्द

तुम महा मंदमान् अन्धसवाला विश्वव्यापी, विश्वानर को सुपूजो।
जिस इन्द्र का सुमख, महातेज, श्रव तथा बल द्यावापृथ्वी पूजें॥

माहिया गीत

तुम पूजो उस प्रभु को जो पुरुष पुरातन है।
सब जिस विश्वानर का करते शुभ अर्चन है॥
प्राणों का धारक जो आनन्द प्रदायक जो।
सर्वोपरि संचालक-परिपालक नायक जो॥

जो सुख देने वाला विभु व्यापक त्रिभुवन में,
उनको शत वन्दन है॥

जिसके यश का गुंजन द्यावा तक छाया है।
द्यावा से पृथ्वी तक बल-तेज समाया है।

वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे। यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश तस्यां नो देवः सविता धर्म साविषत् ॥ यजु० १८–३०

अर्थ—(वाजस्य) अन्न, बल, ज्ञान के (प्रसवे नु) उत्पत्ति के लिए ही हम (अदितिं नाम) अदिति अखण्ड नाम वाली (महीं मातरम्) महान् भूमि माता को (वचसा) अपनी वाणीद्वारा (करामहे) संबोधित करते हैं, माता करते हैं। (यस्यां) जिस अदिति में (इदं विश्वं भुवनं) यह सब स्थूल जगत् (आविवेश) समाया है, व्याप्त है (तस्यां) उसी में (सविता देवः) प्रेरक सर्वोत्पादक प्रभु (नः) हमारी (धर्म) उत्तम कर्मों की धारणा को, कर्त्तव्य-कामना को (साविषत्) प्रस्फुरित करे।

जो दिव्य तेजधारी पूजित द्यावा-भू से प्यारा जीवन-धन है।
तुम पूजो उस प्रभु को जो पूज्य सनातन है॥

जो वैभव स्वामी है इन्द्रेश्वर नामी है।
जो यजनशील बल का तेजों का स्वामी है।

जिसका यश तेज महा, जिस महादेव का सब करते नीराजन है।
जिनके अर्चनरत सब त्रिभुवन जड़-चेतन है॥

ब्रह्माण्ड विश्व सारा जिसका तन शोभन हैं।
हम समा रहे जिसमें सम्पूर्ण विश्वजन हैं।

तुम पूजो उस प्रभु को जो सर्व सुपूजित है।
सच्चिदानन्द घन है॥

जगती छन्द

अदिति नाम महीमाता को बाज के प्रसवार्थ हम वाणी से मान दें।
जिसमें यह सारा जगत् समाया, उसी में सविता प्रेरे हमारे धर्म॥

निराला नवपदी

जिस माता का है अदिति नाम ।
धन-धान्य प्रसविनी जो ललाम ।
उस भू-माता को शत प्रणाम, सादर हो ॥
यह विश्व-भुवन सब जड़-चेतन ।
जिसमें हैं समाविष्ट जीवन ।
उसके प्रति हम में धर्म-स्फुरणं, शिवकर हो ॥
है अदिति मही माँ अखण्डिता ।
है प्रेरक देव पिता सविता ।
उसकी प्रेरणा कृपा अमिता, हम पर हो ॥

\+ + +

वन्दे मातरम् ॥
अदित अखण्डित शश्यश्यामला ।
बलदा धनदा सुखदा विमला ।
करते अभिनन्दन सादर हे !
सुषमा आकर सुन्दरतर हे !
अजिराविष्ट त्वदीय भुवन ये ।
तुममें निहित विश्वजन जन ये ।
तुमको शत-शत नत वन्दन हे !
शुचितरम् ।
वन्देमातरम् ॥

वन्दे मातरम् ॥
सविता पिता जगत् उत्पादक ।
दें तव प्रति निष्ठा सुखदायक ।
माँ वसुधे ! वह संसृति-प्रेरक ।
तव निष्ठा प्रति रहे सहायक ।
प्रेरे तव प्रति धर्म हमारे—
सविता देव जगत् उजियारे ।
अविचल श्रद्धामय स्फुरण हो ।
माँ तेरा नव नीराजन हो ।
दिव्यतम
वन्देमातरम् ॥

इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ याभ्यां रक्षांसि अपहंस्यग्ने।
ताभ्यां पतेम सुकृतामु लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः॥

यजु० १८-५२

अर्थ—हे (अग्ने!) आत्मनाग्ने! (ते) तेरे (इमौ) ये (अजरौ) अजर (पतत्रिणौ) उन्नति साधन (पक्षौ) दो बाजू, दो पंख हैं (याभ्यां) जिनसे कि (रक्षांसि) राक्षसों को (अपहंसि) हटा देता है, मार देता है (ताभ्यां) उन्हीं पंखों से (उ) ही, हम भी (सुकृतां लोकं) पुण्य के लोक को, शुभकर्मों के लोक को (यत्र) जहाँ (प्रथमजाः) प्रथम उत्पन्न (पुराणाः ऋषयः) प्राचीन ऋषि-जन (जग्मुः) पहुँचते रहे हैं (पतेम) हम भी उड़ें, प्राप्त हों।

जगती छन्द

ये दो अजर पक्ष तेरे अग्नि! हैं जिनसे तुम राक्षसों को मारते।
गये पूर्वज पुराण ऋषि पुण्य लोक उनसे हम उन्नत, उड़ें॥

मुक्तक

दो तुम्हारे अजर पक्षों का सहारा चाहता हूँ।
राक्षसों से दुरित दुर्गुण के, किनारा चाहता हूँ॥
पितर जन-प्रथमज मनीषी पहुँचते जिसमें रहे हैं।
ऊर्ध्व वह दिव्लोक प्यारा मैं तुम्हारा चाहता हूँ॥

आनन्दीलय

यह [ज्ञान कर्म बलदीप्ति, कार्य कारण, दिव पार्थिक] अजर पक्ष।
हैं आत्मन तेरे उभय पक्ष जो मार भगाते सकल रक्ष।
संतुलित पक्ष दोनों करके ऊँचा उठता जाता मानव।
पूर्वज प्राचीन ज्ञानियों सेवित सुकृत-लोक पाता मानव।
हम भी इन युगल पक्ष का हे अग्ने ज्योतिर्मय वरण करें।
इनके द्वारा ऋषिजन निर्देशित ऊर्ध्वलोक उन्नयन करें॥

यदाकूतात्समसुस्रोद्धृदो वा मनसो वा संभृतं चक्षुषो वा।
तदनुप्रेत सुकृतामुलोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः॥

यजु० १८-५८

अर्थ—हे मनुष्यो तुम (यत्) जो (आकूतात्) आकूत से, संकल्प से, ज्ञान-प्रेरणा से (हृदिः) हृदय से (मनसः) मन से (चक्षुषः वा) और आँख से (समसुस्रोत्) अच्छी तरह स्रवित है (संभृतं) सम्यक्तया धारण किया है वह शक्ति कण (तत उ) वह ही (अनुप्रेत) अनुगत करो और (सुकृतां लोकं) श्रेष्ठ कर्मों वालों के लोक को (यत्र) जहाँ (प्रथमजाः) प्रथमोत्पन्न (पुराणाः) पुराने (ऋषयः) ऋषि (जग्मुः) पहुँचते रहे, तुम भी जाओ।

होली गीत

तेरे दो पक्ष अजर हैं॥

हे अग्ने आत्मन् अविनाशी जीर्ण नहीं होते हैं जो।
ऊर्ध्वलोक ले जाने वाले पास पक्ष हैं तेरे दो।
उन्नति औ' उत्कर्ष दिशा में यह ले जाते ऊपर हैं॥

ज्ञान कर्म पार्थिव दिव् के दो पक्षों से समतोल किये।
विहग समान ऊर्ध्वगामी हो जीवन का साफल्य लिये।
बाधा विघ्न पतन के दानव जिनसे मिटते सत्वर हैं॥

जहाँ पूर्वजन्मा ऋषि जनगण जाते रहे तपोबल से।
सुकृत जनों के पुण्यलोक के वासी हम होवें विलसे।
जहाँ दिव्य आलोक विलसता बसते उन्मुक्त अमर हैं॥

ज्ञान कर्म बलदीप्ति दिव्य पार्थिव के युगल पक्षद्वारा।
करें संतुलित और ऊर्ध्वगामी दैवी जीवन सारा।
रामनिवास उड़े हम ऊपरहो परमोन्नत उत्तर हैं॥

जगती छन्द

जो आकूत से हृदय से मन से नयन से स्रवित संभृत है उसे।
अनुगत करो तुम पुण्य लोक जहाँ पूर्वज पुराण ऋषि गये॥

प्रगीत

जो दिव शक्ति कण मिल जाय।
स्रवित दृढ़ संकल्प द्वारा।
हृदय या मन नयन द्वारा।
उच्छृसित बल दिव्य सम्यक्।
धार ले जो काय।
तो जीवन कुसुम खिल जाय॥
दिव्य बल को धार ले जो।
और अनुप्रेरित चले जो।
मृत्यु तिर तो अमरता का—
मिले सहज उपाय।
जीवन की कली खिल जाय॥
जहाँ प्रथमज पूर्व ऋषिजन,
पहुँचते कर कृत्य पावन।
उसी स्वर्गिक लोक को नर।
प्राप्त कर हर्षाय।
[दैवी शक्ति जो मिल जाय। तो सफल हो दिव्य जीवन की कली खिल जाय]

गीत

[दो हमें आत्मबल, दिव्य शक्ति विमल प्राण प्यारे।
हम तिरें मृत्यु जिसके सहारे॥]
तू बना शुभ हमारे इरादे इनसे तू दिव्य-रसकण चुआ दे।
नयन मन उर स्रवित. आत्मबल उच्छ्वसित नित्य धारें।
,हम तिरें मृत्यु जिसके सहारे॥
लेके हम आत्मबल का सहारा।
लोक पा जायें पावन तुम्हारा।
[लोक तेरा परम, पूर्वजन्मा सुजन जिसको पारे।
मुक्त हो शांति पाते सहारे॥]

प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च। जरदष्टि कृतवीर्यो विहाया सहस्रायुः सुकृत-श्चरेयम् ॥ अ० १७-१-२७

अर्थ—(अहं) मैं (प्रजापतेः ब्रह्मणा वर्मणा) प्रजापति ईश्वर के ज्ञान के कवच द्वारा (आवृतः) ढका हुआ और (कश्यपस्य) कश्यप के, महासूर्य के (ज्योतिषा) प्रकाश से (वर्चसा) तेज से ढका हुआ मैं (जरदष्टिः) जरा में भी सब काम करने की क्षमता वाला (कृतवीर्यः) वीर्यवान् (विहायाः) विविध क्रतु सम्पन्न (सहस्रायुः) सहस्र आयु वाला (सुकृतः) सुकृत करता हुआ (चरेयम्) विचरता रहूँ ।

जगती छन्द

प्रजाप्रति के ब्रह्मवर्म से कश्यप की ज्योति से, वर्चस् से समावृत मैं—
जरदष्टि, कृतवीर्य, विविधर्क्रतु, मैं सहस्रायु सुकृती विचरूँ ॥

मुक्तक

ज्ञान के वर्म से आवृत्त प्रजापति कर दो।
मुझे कश्यप निज वर्चस् से प्रभा से भर दो॥
रहूँ कृतवीर्य जराजित् सक्षम आजीवन।
मुझे सहस्रायु सुकृतिमय जीवन प्रभुवर दो॥

‡ ज्योति वर्चस् से मैं कश्यप की समावृत होऊँ।
ब्रह्म के वर्म से परिवृत सुरक्षित होऊँ॥
मानुषी दैवी चलें शर कि जो वध करने को।
मुझे वे पा न सकें बाण, न पीड़ित होऊँ॥

‡उक्त मुक्तक निम्नमंत्र का भाषान्तर है:—

परीवृत्तो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च।
मा मा प्रापन्निषवो दैव्या या मानुषीरवसृष्टा वधाय॥

त्रिष्टुप् छन्दः—

परिवृत ब्रह्म के वर्म से मैं कश्यपको ज्योति और वर्चस् से।
न मुझ को पा सकें दैवी मानुषी बाण छोड़े जो वधार्थ हों॥

सपर्य्यगात् शुक्रमकायमव्रणं अस्नाविरं शुद्धमपाप-विद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

अर्थ—(सः) वह (शुक्रं) तेजोमय, दीप्तिमान् (अकायं) शरीर रहित (अव्रणं अस्नाविरं) शारीरिक व्रण, घाव आदि दोषों से मुक्त तथा स्नायु आदि देह-गुणों से रहित (शुद्धं) शुद्ध (अपापविद्धं) पापवेधमुक्त (परि अगात्) सब ओर से व्यापा हुआ है। वह क्रान्तदर्शी (कविः) (मनीषीः) मनों का स्वामी (परिभूः) सबसे बढ़कर (स्वयंभू) स्वयं विद्यमान् है। (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) शाश्वतकाल के लिए, सनातन प्रजाओं के लिए (अर्थान्) सब अर्थों को (याथातथ्यतः) यथावत् (व्यदधात्) विशेष रूप से विधान करता है।

राजगीत

प्रभो तव द्वार मैं प्रज्ञाभिलाषा लेके आया हूँ।
प्रजापति आपसे वरदान आशा लेके आया हूँ॥
तुम्हारे ज्ञान के रक्षा-कवच से हो समावृत मैं।
अभय हो मृत्यु से सुखमय जिज्ञासा लेके आया हूँ॥

तुम्ही हो दिव्य दर्शक नाम कश्यप आपका शुभ है।
तुम्हारी ज्योति वर्चस् की पिपासा लेके आया हूँ॥
नहीं मैं जीर्ण होऊँ मैं नहीं बल हीन ही होऊँ।
अदीना स्याम की सुन्दर शुभाशा लेके आया हूँ॥

बनूँ कृत वीर्य मैं बल तेज का संचय किये जाऊँ।
सुकृति-शुभकामना तव प्रेम प्यासा लेके आया हूँ॥
सुकृति करता हुआ विचरूँ अनेकों वर्ष दुनियाँ में।
अमर पर-हेतु जीवन की सदाशा लेके आया हूँ॥

स्वराड् जगती छन्द

वह शुक्र अकाय अव्रण अस्नायु, शुद्ध अपापविद्ध परिव्यापी।
कवि मनीषी परिभू स्वयंभू शाश्वतकाल को अर्थों को यथावत् वि-रचा है॥

आरुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसो हिरण्यरथाः सुविताय गन्तन ।
इयं वो अस्मत् प्रतिहर्यते मतिः तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे ॥
ऋ० ४-३-२१

अर्थ—(रुद्रासः) हे रुद्रो, रुलानेवाले प्राणो ! (इन्द्रवन्तः) आत्मैश्वर्य-वान् (सजोषसः) साथ मिलकर सेवन करनेवाले (हिरण्यरथाः) हित रमणीय संचरणवाले तुम (सुविताय) हमारे सुख के लिए (आगन्तन) आओ । (इयं) यह (अस्मत्) हमारी (मतिः) मति, इच्छा (वः) तुमको (प्रतिहर्यते) चाह रही हैं, कामना करती हैं अतः (तृष्णजे न उदन्यवे) प्यासे चातक के लिए जैसे (दिवः उत्साः) आकाश से धारा आती है वैसे प्यासे के समान मुझे प्राप्त हो जाओ ।

अतिबरवा छन्द

तेजपुंज व्रण स्नाविर से मुक्त, अकाय ।
शुद्ध क्रांतदर्शी प्रभु गत अघ समुदाय ॥
कवि सर्वज्ञ स्वयंभू परिभूः सुविशाल ।
सृष्टा समुचित जग का शाश्वत सब काल ॥

गीत

ज्योतिर्मय अविनाशी है घट-घटवासी है वह प्यारा हमारा ॥
शारीरिक दोषों से वह है मुक्त सदा ।
शुद्ध सच्चिदानंद न अघ से युक्त सदा ॥
काया नस नाडी व्रण की उसे बाँध कब पाती कारा ॥
कवि सर्वज्ञ क्रान्तदर्शी वह नामी है ।
परम मनीषी सबके मन का स्वामी है ॥
सबका परिभव कर्त्ता है स्वयंभू अजन्मा है वह सभी का सहारा ॥
आदिकाल से अपनी सकल प्रजाओं का ।
सब अर्थों का यथातथ्य रचनाओं का ॥
वही है विधाता न्यायी पूर्णता प्रणेता फैला उसी का पसारा ॥

जगती छन्द

रुद्रो इन्द्रवन्त सहसेवी हित रमणीय संचारी सुगति को आओ ।
यह हमारी मति तुम्हें चाहती तृष्णातुर चातक घनधारावत् ॥

मायात्मक लावनी (राधिका छन्द)

हे प्राणो ! दिव् बरसाओ जीवनधारा।
कामना तुम्हारी करता हृदय हमारा॥
मेरे तृषार्त्त अन्तर की प्यास बुझाओ।
मेरे जीवन के प्राणसखे आ जाओ॥
प्यासा चातक सा हूँ तृषताकुल अन्तर।
प्राणो ! आ जाओ अब बन शीतल जलधर॥
सुविताय पधारो रुद्र न करो किनारा।
कामना तुम्हारी करता हृदय हमारा॥
मेरे जीवन के इन्द्रवन्त वैभव हे !।
मेरे तनमन के प्रभावन्त नव-नव हे !॥
नव-जीवन का संचार करो हितकारी।
हे स्वर्णरथी रमणीय तेज बलधारी॥
विरहाकुल जीवन बना मरण की कारा।
कामना तुम्हारी करता हृदय हमारा॥
प्रियतम मेरे जीवन की गति तुम ही हो।
मेरी इच्छा तुम ही हो मति तुम ही हो॥
जीवनसाथी तुम हो स्वामी जीवन के।
सेवन करनेवाले मेरे तन-मन के॥
तनु रोम-रोम करता आह्वान तुम्हारा।
कामना तुम्हारी करता हृदय हमारा॥
तुम आते हो तो नवजीवन आ जाता।
नवयौवन का उत्साह नशा छा जाता॥
प्रेमोन्मत्त हो गीत मधुर उर गाता।
सर्वाङ्ग दिव्य चेतन में लय हो जाता॥
कण-कण में छा जाता जीवन उजियारा।
कामना तुम्हारी करता हृदय हमारा॥



चतुर्थ विराम

विविध-वन-राजी

१९ ऋचाएँ

शिखरिणी चतुष्टय

हमारी नौका हो प्रभु सुपथगामी दृढ़ बहे।
प्रभा पूषा ऊषा प्रतिदिन प्रभातोदय लहे॥
सुधा-धारा से मानस-सरसता प्लावित रहे।
सुसंकल्पों द्वारा उरपुर सदा शोभित रहे॥ १॥

प्रभो भो! स्वामी, मैं वरुण-अनुगामी तव रहूँ।
तुम्हारा मैं प्यारा अमृत-रस प्रेमासव पिऊँ॥
पिता माता-धाता सकल सुखदाता शरण दो।
हमें मेधा का दो वर वरुण सत्याचरण दो॥ २॥

बना दो अग्ने! देवसम मम आचरण को।
हरो तेजःशाली द्रुत दुरित औ' दुर्व्यसन को॥
बना दो वर्चस्वी स्वगुण गरिमा दो सु-मन दो।
हमें सत्य श्री का सुयश ऋत का आभरण दो॥ ३॥

दया दो विद्या दो विनय करुणा दो सुमति दो।
क्षमा दो आशा दो धृति अभयता हे अदिति दो॥
विभो शुद्धात्मा दो वर-विमल अन्तःकरण दो।
हटा दो मायावी सकल सविता! आवरण को॥ ४॥

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्ताम् पावमानी द्विजानाम् । आयुः प्राणं प्रजां पशुं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥
अथर्व १९-७१-१

अर्थ—(मया) मेरे द्वारा (प्रचोदयन्तां) प्रकृष्ट प्रेरणा देने वाली (द्विजानाम्) द्विजों की (पावमानी) पावन करने वाली (वरदा वेदमाता) वर देने वाली वेदमाता की (स्तुता) स्तुति कर दी गई है। इसने ही (आयुः प्राणं प्रजां पशुं द्रविणं) दीर्घ आयु, जीवन-शक्ति, सन्तति-सुख, द्रविण, धन, सांसारिक-सुख-साधन (ब्रह्मवर्चसं) ब्रह्मतेजोबल (मह्यं दत्वा) मुझे देकर, मुझे (ब्रह्मलोकं व्रजत) ज्ञान और परमात्मा के लोक परमानन्दमय दिव्य लोक में भ्रमण कराया है, अधिकारी बनाया है।

छन्द

मैंने सुप्रेरिका द्विजों की पावमानी वेदमाता की स्तुति की है।
आयु प्राण प्रजा पशु द्रविण ब्रह्मचर्य स मुझे देकर ब्रह्म-लोक घुमाया ॥

घनाक्षरी

मैंने सत्य-ऋत यज्ञ धर्म कर्म प्रेरिका की।
द्विज पावमानी-कल्याणी-वरदानी की ॥
स्तुति कर दी है वेदमाता सुखदायिनी की।
स्वस्ति शान्ति अमृत प्रदायिनी सुहानी की ॥
आयु प्राण प्रजा पशु द्रविण औ' ब्रह्मतेज।
दी हैं मुझे नवनिधि सिद्धि प्रभुदानी की ॥
लौकिक अलौकिक विभूति सुखैश्वर्य देके।
ब्रह्मलोक भ्रमण कराया, मेहरबानी की ॥

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः । ब्रह्म राजन्याभ्याᳪ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च । प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृद्ध्यतामुपमादो नमतु ॥

यजु० २६-२

अर्थ—(यथा) जैसे (इमां) इस (वाचं) वेदवाणी (कल्याणी) सुख देने वाली को (इह) इस संसार में (ब्रह्म राजन्याभ्याम्) ब्राह्मण-क्षत्रिय (अर्याय शूद्राय) वैश्य-शूद्र के लिए (स्वाय) अपने (अरणाय) अरण्यों के लिए (जनेभ्यः) जनों के लिए (आवदानि) उपदेश दो। (देवानां प्रियः) देवताओं का प्रिय (दक्षिणायै दातुं) दक्षिणा के देने वालों का (भूयासं) होऊँ। (अयं मे कामः समृद्धताम्) यह मेरी कामना उत्तमता से बढ़े (मा) मुझे (अदः) वह परोक्ष सुख (उप नमतु) प्राप्त हो।

स्वराडत्यष्टि छन्द

इस कल्याणी-वाणी को जनों उपदेशो।
इस जगत् में ब्रह्म क्षत्रिय शूद्र वैश्य स्वपर के लिए ॥
देवों का प्रिय, दक्षिणदाताओं का प्रिय होऊँ।
यह मेरी कामना बढ़े मुझे सुख प्राप्त हो ॥

घनाक्षरी

जैसे वेदवाणी कल्याणी को जनों के लिए।
किया है प्रकाशन प्रकाश सूर्य के समान ॥
ब्रह्म औ' राजन्य को तथैव तुम दान करो।
शूद्र और आर्य दोनों वर्गों को करो प्रदान ॥
अपने पराये पौर जानपद सबको दो।
ग्राम्य वन्य देव और मानुष जनों को दान ॥
दान दक्षिणा प्रदाता देवों का मैं प्रिय होऊँ।
होऊँ सिद्ध काम मुझे सुख मिले भगवान ॥

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

यजु० २५।१९, सा० उ० प्र० ९-३-९-३

अर्थ—(वृद्धश्रवाः) महान् यशस्वी-ज्ञानी (इन्द्रः) परमेश्वर (नः) हमारा (स्वस्ति दधातु) कल्याण करे (विश्ववेदाः) सर्वज्ञ (पूषा) पोषक प्रभु (नः स्वस्ति दधातु) हमारा कल्याण करे । (अरिष्टनेमिः) सुखप्रापक (तार्क्ष्यः) तेजस्वी प्रभु हमारे लिये कल्याण करे (बृहस्पतिः नः स्वस्ति दधातु) सबसे बड़ा स्वामी वेदवाणी का पालक परमात्मा हमारा कल्याण करे ।

स्वराड् बृहती छन्द

स्वस्ति वृद्धश्रवा इन्द्र स्वस्ति विश्ववेद पूषा करे ।
स्वस्ति तार्क्ष्य अरिष्टनेमि स्वस्ति बृहस्पति करे हमारी ॥

प्रगीत

इन्द्र करे कल्याण हमारा ।
पूज्य यशस्वी ज्ञानवान अतिशय महान प्रभु प्यारा ॥
विश्ववेद वैभव के स्वामी ।
प्रभावान् प्रभु अन्तर्यामी ।
सकल लोक में पोषक पूषा फैलाये उजियारा ॥
कालरूप शासक अविनाशी ।
सर्व शक्तिमय घट-घटवासी ।
बरसाये हम पर करुणाकर अविरल करुणा-धारा ॥
सकल ज्ञान-विज्ञान विधायक ।
वाणी कल्याणी का नायक ।
देव बृहस्पति वह जगदीश्वर मङ्गलमय हो प्यारा ॥
इन्द्र करे कल्याण हमारा ।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैः रङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥

यजु० २५–२१, साम० उ० प्र० ९ सू० ९ म० २

अर्थ —हे (देवाः) विद्वान पुरुषो देवो ! हम सब (कर्णेभिः) कानों से (भद्रं) भला, कल्याणकारी वचनों को (शृणुयाम) सुनें । (यजत्राः) यजनशीलो ! हम (अक्षभिः) आँखों से (भद्रं पश्येम) भला, शुभ देखें । और (तुष्टुवांसः) ईश्वर-स्तुति, भजन करते हुए (स्थिरैः अंगैः) दृढ़ अँगों द्वारा (तनूभिः) दृढ़ शरीरों से (यद्) जो (आयुः) आयु (देवहितं) भगवान के हितार्थ, देवहित में जो जीवन है वह (वि + अशेमहि) विशेष रूप से भोगें ।

वीर छन्द

मङ्गलमय इन्द्र यशस्वी ज्ञानवान बल का भण्डार ।
मङ्गलमय हो पोषक पूषा विश्ववेद सर्वज्ञ अपार ॥
मङ्गलमय हो सुख प्रापक प्रभु शुभ हो शक्ति तेज आधार ।
वाणी कल्याणी का नायक मङ्गलमय हो भली प्रकार ॥

नृचद् त्रिष्टुप् छन्द

देवो कानों से भद्र ही सुनें यजत्रो ! आँखों से भद्र ही देखें ।
दृढ़ अङ्गों देहों से, भक्ति करते जो प्राप्तायु हो देवहित भोगें ॥

मुक्तक

सुनें कानों से अच्छा ही भला आँखों से देखें हम ।
भलाई ही करें हम स्वस्थ अवयव देह पा हरदम ॥
मिले जो आयु का आरोग्य का वरदान जीवन में ।
करें उपभोग उसका देवहित यज्ञार्थ सुन्दरतम ॥

देवो ! कल्याणी वाणी कानों से सुनें सदैव ।
यज्ञरक्षको ! सतत दृगों से शुभ ही लखें तथैव ॥
सुदृढ अङ्ग अवयव हों तन हो सुन्दर स्वस्थ ललाम ।
उनके द्वारा नित्य करें सम्पादित सुन्दर काम ॥

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः। मेधा-मिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता दधातु मे ॥ स्वाहा यजु० ३२-१५

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तया मामद्य मेधयाऽग्नि मेधाविनं कुरु ॥ स्वाहा ३२-१४

अर्थ—(मे) मुझे (वरुणः) वरणयोग्य (मेधा) मेधा, बुद्धि को (ददातु) देवे (अग्निः प्रजापतिः) प्रकाशमान् प्रजापालक (मेधां) (मेधां) शुद्ध बुद्धि वा धन दे (इन्द्रः) ईश्वर (मेधां) मेधा को (वायुः च मेधां) बलवान बुद्धि को और (धाता मे मेधां ददातु) विश्व को धारण तथा विधान करने वाला विधाता मुझे मेधा दे । (स्वाहा) सुन्दर कथन है ।

हे अग्ने ! (यां मेधां) जिस मेधा, बुद्धि को (देवगणाः पितरः च) देवता तथा पितरगण (उपासते) उपासना करते हैं। (अद्य) आज (तया मेधया) उस मेधा से (अग्ने) हे अग्ने तुम (मां) मुझको (मेधाविनं) मेधावी (कुरु) करो ।

इस प्रकार जो हमें प्राप्त हों आयु, मुक्त रुज रोग।
उसका करें देवहित में ही हम समुचित उपभोग ॥
प्रभु का चिन्तन करते, करते भगवद्भक्ति पुनीत ।
अशुभ अशोभन कामों में हम करें न समय व्यतीत ॥

वीर छन्द

भद्रकर्ण से सुनें देवगण भद्रदृगों से लखें यजत्र !
स्थिर अङ्गों देहों से जग में स्तुति करते करते सर्वत्र ॥
जो भी आयु देवहितकारी मिलें हमें वरदान समान ।
उसको भोगें भलीभाँति हम करते रहें सदा कल्याण ॥

निचृद् बृहती छन्द

वरुण मुझे मेधा दे, दे अग्नि प्रजापति मेधा ।
मेधा इन्द्र और वायु दे, धाता मुझे मेधा दे । आहा ॥

अनुष्टुप्

जिस मेधा को देव-पितर सुसेवते।
उस मेधा से मुझे अग्नि मेधावी कर दो। आहा ॥

राधिका छन्द

वरणीय वरुण मुझको मेधा का वर दो।
मुझको मेधावी अग्नि प्रजापति कर दो ॥
हे इन्द्र वायु हे धाता हे जगदीश्वर।
कर कृपा दीजिये मुझको मेधा का वर ॥
जिसको सब देववृंद धारण करते हैं।
सब पितर महाजन आराधन करते हैं ॥
उस मेधा का हे अग्नि आज तुम वर दो।
सब जड़ता हर मुझको मेधावी कर दो ॥

छन्द

वरणलायक तुम्हीं परमात्मन्! हो।
तुम्ही नायक प्रकाशक ज्योतिघन हो ॥
मुझे वरणीय मेधा दीजियेगा।
अनिर्वचनीय मेधा दीजियेगा ॥
प्रजापति हो तुम्हीं जन के प्रणेता।
तुम्हीं ऐश्वर्यशाली इन्द्रजेता ॥
तुम्हीं हो वायु बलशाली महत्तम।
तुम्हीं धाता तुम्हारी कीर्ति अनुपम ॥
मुझे मेधा प्रभो दो ज्योतिदात्री।
मुझे मेधा प्रभो दो सुखविधातृ ॥
मुझे दो पुण्य-सुख की मूल मेधा।
मुझे दो दिव्य जन अनुकूल मेधा ॥

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश॥ यजु० १७-९१

अर्थ—(अस्य) इसके (त्रयः) तीन (पादाः) चरण (चत्वारि शृङ्गाः चार शृङ्ग, सींङ्ग हैं (द्वे शीर्षे) दो सिर हैं (सप्तहस्तासः) सात हाथ हैं (त्रिधा बद्धः वृषभः) तीन प्रकारों से बँधा सुखवर्षक (महः देवः) महान देव (रोरवीति) शब्द करता हुआ (मर्त्यान्) मनुष्यों को (आविवेश) सम्यक् प्रवेश करता है।

मुझे मेधा प्रकाशप्रदायिनी दो।
मुझे मेधा विकासविधायिनी दो॥
मुझे मेधा प्रजाविस्तारिणी दो।
मुझे मेधा प्रभो सुखकारिणी दो॥
मुझे मेधा वही धारण कराओ।
सबल जिससे कि तन-मन आत्मा हो॥
कि जिसके साधनारत दिव्यजन हैं।
उपासक रह चुके सब पितृगण हैं॥
मुझे उस देव पितरों से समादृत।
प्रभो कर दीजिये मेधा समन्वित॥

त्रिष्टुप् छन्द

चार शृङ्ग तीन पाद इसके, दो शीर्ष सात हाथ इसके।
त्रिधा बँधा वृषभ रोर कर महादेव मर्त्यों में प्रविष्ट है॥

भजन

है महादेव भगवान् का सुखवर्षक वृषभ भुवन में॥
चार शृङ्ग हैं, तीन चरण हैं।
दो-दो सिर जिसके शोभन हैं।

इन्द्रो वर्धन्तोअप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । अपघ्नन्तोऽराव्णः ॥

ऋ० ९-६३-५ ।

अर्थ—(इन्द्र) इन्द्र परमेश्वर विश्व को आर्य करते हुए (अपघ्नन्तो) नष्ट करते हुए (अराव्णः) दानरहित कदर्य वृत्तियों को (अप्तुरः) आप्त जनों को (वर्धन्तु) बढ़ाये ।

सात हाथ के शुचि साधन हैं ।
त्रिधा बँधा मुखरित प्रतिक्षण है ।
आता रम्भाता जोर से मर्त्यों के हृदय-सदन में ॥
[जो भी इस रहस्य को जाने ।
सुखद वृषभ का सेवन ठानें ।
वह मानव हैं परम सयाने ।
अज्ञ वही जो इसे न जाने ।
हैं रामनिवास महान वह जो सफल वर्षभ दर्शन में ॥]

× × ×

है यज्ञ-दिव्य-मह देव ही सुखवर्षक वृषभ भुवन में ॥
धर्म (यज्ञ) सौख्यवर्षक अभंग है ।
श्रुतियाँ जिसके चार शृंग हैं ।
तीन सवन ही चरण अङ्ग हैं ।
छन्द सात कर स्वर तरङ्ग हैं ।
उदयास्त काल दो शीश हैं इस वृषभयज्ञ के तन में ॥
त्रिविध स्वरों से बद्ध विदित ये ।
मंत्रध्वनि से सतत ध्वनित ये ।
यही महान दिव्य अतुलित ये ।
यही प्रतिष्ठित जनसेवित ये ।
होता प्रविष्ट जन हेतु यह सम्यक् अध्वर-जननन में ॥

समछन्दानुवाद

इन्द्र बढ़ाएँ आप्तता करते विश्व को आर्य । कदर्यता हटा ॥

इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय। त्वामवस्युराचके ॥

ऋ० १-२५-१९, साम उ० ८-३-५-१

अर्थ—हे (वरुण) सर्वश्रेष्ठ, वरणीय, पापनिवारक प्रभो! (मे) मेरी (इमं) इस (हवं) पुकार को (श्रुधि) सुन। (अद्य च) और अब (मृडय) कर। मैं (अवस्युः) अपनी रक्षा तथा आपकी शरण-कामना करता हुआ (त्वां) आपसे (आचके) प्रार्थना करता हूँ।

पद (गीत)

सब जग को आर्य बनायें ॥
नियमन सबका करें अर्यमा वैभव इन्द्र बढ़ायें।
[वरे आप्तता आप्तजनों की संगति का सुख पायें ॥
करे सोम से प्राप्त सौम्यता सद्गुणीशल कलायें।
मित्र बने हम देव मित्र के मधु रस-स्रोत बहायें ॥
मनसा-वाचा तथा कर्मणा प्रेमप्रभा छिटकायें।
वरुणदेव की वरें श्रेष्ठता सर्वश्रेष्ठ बन जायें ॥]
जीवन से अनुदार भावनाएँ कार्पण्य हटायें।
हृदय विशाल बनायें जिसमें सारा विश्व समायें ॥
रुद्ररूप धर सकल संकुचित दुरित रक्ष विनसायें।
ईर्ष्या-द्वेष-घृणा-मत्सर के तस्कर मार भगायें ॥
ज्ञान-भक्ति-कर्म की त्रिवेणी में न्हायें उमगायें।
इध्म आत्मा बने अग्निवत् दीप्ति तेज फैलाये ॥
त्याग-याग-करुणा-ममता से भू को स्वर्ग बनायें।
यज्ञ विश्वतोधार रचायें गायें वेदऋचायें ॥
स्नेह-स्निग्ध हम संस्कृतिवाहक आशादीप जलायें।
आहुति हव्य बना जीवन की यशःसुरभि छिटकायें।
अमृत पुत्र बन परम-पिता के अमर परमपद पायें ॥

गायत्री छन्द

य' मेरी वरुण पुकार सुन आज सुख दे। रक्षार्थ तुझे याचता ॥

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः। विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥
अथर्व १-३१-४

अर्थ—(नः मात्र उत पित्रे) हमारे माता और पिता के लिए (स्वस्ति अस्तु) सुख, कल्याण हो। (स्वस्ति गोभ्यः) पशुधन, इन्द्रियों के लिए कल्याण हो (जगते पुरुषेभ्यः) सब जगत के पुरुषों के लिए कल्याण हो। (नः विश्वं सुभूतं सुविदत्रं अस्तु) हम सर्वश्रेष्ठ विभूतिवाले श्रेष्ठ ज्ञाता विद्वानों के त्राता हों, सन्मतियुक्त हों। (ज्योगइव) सदा को (सूर्यं) परम ज्योतिर्मय महा-सूर्य को देखें।

राधिका छन्द

तुम सुनों आज कातर पुकार यह मेरी।
पापों के नाशक वरुण शरण मैं तेरी ॥
रक्षाहितकामी करता तव आवाहन।
वर दो सुख का तुम आज हृदयहर मोहन ॥
दो मुझे ज्ञान का दान करो अघनिरसन।
तुम सुनो प्रार्थना विनय-वचन जीवनधन ॥
अब शीघ्र उबारो नाथ करोमत देरी।
पापों के नाशक वरुण शरण मैं तेरी ॥

छन्द

हमारे माता-पिता की स्वस्ति हो। गोओं को जगत् पुरुषों को स्वस्ति।
सर्व सुभूत सुविदत्र हम हों देखें सदा सूर्य को हम ॥

× × ×

माता को सुख स्वस्ति पिता को सुख होवे भगवान।
सभी राष्ट्र हों सुखी सभी का सबविध हो कल्याण ॥

अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वं बुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम् । तस्यासत ऋषयः सप्ततीरे वागष्टमी ब्राह्मणा संविदाना ॥

अर्थ—(अर्वाक् बिलः चमसः) नीचे मुख वाला एक चमसा या कटोरा है । (ऊर्ध्वं बुध्नः) ऊपर तल वाला है । (तस्मिन्) उसमें (विश्वरूपं यशः निहितम्) विश्वरूप यश निहित है । (तस्य तीरे) उसके तीर पर (सप्त ऋषयः आसत) सात ऋषि हैं । (वाक् अष्टमी) वाणी आठवीं (ब्राह्मणा संविदाना) ब्रह्म का संवेदन करने वाली रहती है ।

सभी प्राणियों को जगती के हो सुख-शांति समान ।
पायें कल्याणी विभूति सन्मति मानव-सन्तान ॥
आखों में हम सुमति ज्ञान-अंजन विभूति को डाल ।
करें सतत साक्षात् परम ज्योतिर्मय का चिरकाल ॥

माता-पिता स्वकुल का कल्याण नित्य होवे ।
पशुवर्ग प्राणियों का कल्याण नित्य होवे ।
सारे जगत् सभी का कल्याण नित्य होवे ।
देखें प्रकाश को हम आदित्य के निरन्तर ।
विज्ञान औ' सुमति का वरदान प्राप्त कर वर ॥

जगती छन्द

अधोमुख ऊर्ध्वतल चमस है जिसमें विश्वरूप यश निहित ।
उसके तीर पर सात ऋषि आठवी वाणी ब्रह्म की संवेदिका है ॥

पद

साधो कैसा अद्भुत प्याला ।
जिसका नीचे मुख है जो ऊपर को पैंदे वाला ॥
विश्वरूप यश जिसके अन्दर सुनिहित रखा, संभाला ।
उसके तीर पर शोभित जपें सप्तऋषि माला ॥

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽसि ओजो मयि धेहि मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोसि सहो मयि धेहि ॥ यजु०

अर्थ—(तेजोऽसि) तू तेजस्वरूप है (तेजो मयि धेहि) मुझमें तेज धारण करा (वीर्यं असि) तू पराक्रमरूप है उस (वीर्यं) पराक्रम को मुझमें धरिये। (बलं असि) तू बलशाली है, उस बल बल को मुझमें धारण करा। (ओजोऽसि) तू ओजरूप है, मुझे भी आज धारण करा। (मन्युः असि) तू मन्युरूप है (मन्युं मयि धेहि) मन्यु मुझमें धारण करा। (सहोसि) तू सहनशील हो मुझे भी (सहो मयि धेहि) मुझे भी सहनशक्ति धारण करा।

विश्वामित्र वशिष्ठ अत्रि गोतम कश्यप की शाला।
भारद्वाज जमदग्नि तीर पर हैं प्रहरी गोपाला॥
करें आठवीं वाक् देवता ब्रह्मज्ञान उजियाला।
रामनिवास कथित निगमागम प्याला एक निराला॥
वही कथेगा इसे कि जिसने सागर मथ पी डाला।
किये विरस जन इस प्याले को बनता जा मतवाला॥

शक्करी छन्द

तेज है तेज मुझमें दे, वीर्य है तू वीर्य मुझमें धरे।
बल है तू बल मुझमें दे॥
ओज है ओज मुझमें दे, मन्यु है तू मन्यु मुझमें दे।
सह है सह मुझमें दे॥

राजगीत

हे प्रभो! विज्ञानदाता जगप्रकाशक! ज्ञान दो।
देव ज्योतिस्वरूप कर आलोक का आधान दो॥
तेजमय हो आप भगवन्! तेज का वरदान दो।
हो पराक्रमशील, मुझको वीरता भगवान दो॥

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि। अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्मे आपृण ॥ यजु० ३–१७

अर्थ—(अग्ने) हे ज्ञानप्रकाशक तू (तनूपा) तन का पालक-रक्षक है (मे तन्वं) मेरे शरीर की (पाहि) रक्षा कर (आयुर्दा अग्ने) आयु के देने वाले हो हे प्रकाशमान प्रभो, मुझे (आयुर्मे देहि) आयु दीजिये। हे अग्ने तुम (वर्चोदा) वर्चस् तेज का देने वाले हो (वर्चो मे देहि) मुझे वर्चस् दो। अग्ने! (यत् मे तन्वा ऊनं) जो मेरे शरीर में कम है (तत् मे आपृण) वह मुझमें पूरा कर।

बल हमें दो नाथ तुम सब शक्तिमय बलवान हो।
पूर्ण ओजस्वी प्रभो! ओजस्विता मन प्राण दो॥
स्थापना कर मन्यु की हे मन्युमय परमात्मन्!।
अमित आत्मप्रभाव से व्यक्तित्व को उत्थान दो॥
पूर्ण साहस-पुंज मुझको सहनशक्ति महान दो।
स्वीय गुण से युक्त कर परमात्मन्! कल्याण दो॥

राजगीत

परिपूर्ण तेज तू है मुझमें भी तेज भर दे।
है वीर्यरूप तूं ही मुझको भी वीर्य वर दे॥
बलरूप तू है मुझमें भी शक्ति धार दे तू।
है ओजरूप मुझमें ओजस्विता प्रखर दे॥
तू है प्रभावशाली तू मन्युरूप भगवन्!।
तू धार मन्यु मुझमें आत्मिक प्रभाव भर दे॥
सहरूप है तु ही तो मुझमें भी धार धीरज।
साहस अमोघ धारण मुझमें करा अमर दे॥

त्रिष्टुप् छन्द

‡तनूपा अग्ने! तन की रक्षाकर, आयुर्दा अग्ने मुझे आयु दे।
वर्चोदा अग्ने! वर्च मुझे दे जो अग्ने तन में कमी वह पूरो॥

‡ तनूपा अग्ने मेरे तन को पाल।

भद्रा नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः । भद्रा उत प्रशस्तयः ॥

साम० १–१२–९, ऋ० ८–१९–१९

अर्थ—(नः) हमारा (आहुतः) भली प्रकार उपासित, सुहव्य किया (अग्निः) अग्नि (भद्रः) हमारे कल्याण के लिए हो । हे (सुभग) श्रेष्ठ ऐश्वर्यवान् अग्ने ! (रातिः) हमारा दान हमें (भद्रा) कल्याणकारी हो । (अध्वरः) अहिंसनीय यज्ञ भी कल्याणकारी, सुख-शान्ति और ऐश्वर्यदायक हो (उत) और (प्रशस्तयः) प्रशस्तियाँ आदि भी (भद्रा) भद्र हो ।

सवैया छन्द

तनपालक रक्षक नायक हे सुप्रकाशक देव दया करिये ।
नवजीवन दो जगजीवन प्राणप्रदायक देव दया करिये ॥
प्रभु तेजप्रदायक पावक हे ! मम अन्तर तेज विभा भरिये ।
तन की मन की मम जीवन की कमियाँ हरि पूर दिया करिये ॥
ज्ञानप्रकाशक ! तू तनरक्षक है तन की रक्षा कर ।
ज्ञानप्रकाशक ! जीवनदायक है तू दे मुझको जीवन वर ॥
ज्ञानप्रकाशक ! तू वर्चसदाता दे वर्चस् मुझको ईश्वर ! ।
ज्ञानप्रकाशक ! मेरे तन में जो है न्यून उसे पूरा कर ॥

उष्णिक् छन्द

भद्र सुहुत अग्नि हो भद्र दान सुभग भद्र अध्वर । तथा भद्र प्रशस्तियाँ ॥

सवैया

समुपासित सर्वप्रकाशक पावक नित्य करे कल्याण हमारा ।
भगवान हमें वरदान समान बने सुखदायक दान हमारा ॥
हर हिंसक भाव समस्त करे नित अध्वर भद्र महान हमारा ।
सुखमूल बना अनुकूल घना अधुनामधुनायक गान हमारा ॥

यो जागार तमृच कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति ।
यो जागार तमयं सोम आहतवाहस्मि सख्ये न्योकाः ॥

ऋ० ६-४४-११, साम ३०-२०-ख ६-९

अर्थ—(यः) जो (जागार) जाग्रत, अविद्यांधकार से जागा हुआ (तं) उसे (ऋचः) ऋग्वेद की ऋचाएँ और ज्ञानी जन (कामयन्ते) चाहते हैं। (यः) जो जाग्रत है (उ, तम्) उसे ही (सामानि) उपासना-मन्त्र तथा उपासकगण को प्राप्त हो जाते हैं (यः) जो (जागार) जाग्रत हैं। (तं अयं सोमः) उसे यह सोम प्रभु तथा ऐश्वर्य भी (आह) कहता है कि (तव सख्ये) तेरी मित्रता में ही (अहं) मैं भी (न्योकाः) निवास करता हूँ।

मुक्तक

भला हो हमें अग्नि आलोक वाला।
भलो हो हमें दान शुभहव्य ज्वाला॥
सुभग हो भला यज्ञ-अध्वर हमारे।
प्रशस्ति हमारी भली हो सदा रे॥

पद

अग्नि करे कल्याण हमारा।
समुपासित आहुतिसंग्राहक जगनायक जग का उजियारा॥
दिया हमारा दान हमें कल्याणप्रदायक हो शुभ सारा।
सुन्दर भग ऐश्वर्यसमन्वित यज्ञ करे कल्याण पसारा॥
सकल श्रेष्ठतम कर्म-कलाप हमारा हो सुखदायक न्यारा।
संकीर्त्तन प्रशस्तियाँ प्रभु की लाये बहा शन्ति-सुख-धारा॥
देव करे कल्याण हमारा॥

छन्द

जो जागता उसे ऋचाएँ चाहती। जो जागता उसे ही साम प्राप्त है।
जो जगा उसे सोम यह कहे मैं बसूँ तव सख्य में॥

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥

ऋ० १०-११७-६

अर्थ—वह (अप्रचेताः) प्रचेतना रहित, अनुदार (मोघं अन्नं विन्देत) व्यर्थ ही अन्न-धनादि प्राप्त करता है (सत्यं ब्रवीमि) मैं सत्य ही कहता हूँ (सः तस्य वधः इत्) वह उसका मरण ही है। (न अर्यमणं पुष्यति) वह न तो अर्यमा शत्रुनाशक शासक स्वामी को ही पुष्ट करता है (न सखायं) न मित्रों को ही, समान ख्याति वालों को ही। (केवलादी) अकेला खानेवाला (केवल अघः भवति) केवल पापी होता है।

जो जागता उसे ही सब चाहती ऋचाएँ।
जो जागता उसे ही पा सामगान गायें॥
जो जागता उसे ही तो सोम ये पुकारे।
मैं तेरी सख्यता में करता निवास प्यारे॥

×स्वप्रकाशरूप अग्नि ही जागता सदा है।
उससे सुज्योति जीवन जग माँगता सदा है॥
ऋग्वेद की ऋचाएँ उसको सदैव चाहें।
ब्रह्माग्नी जागता है उसको सुसाम गायें॥

ब्रह्माग्नि जागता है उसको ही, सोम कहता।
मैं अग्नि पा तुम्हारा नित सौम्यभाव रहता॥
उस जागते हुए को चाहे सुब्रह्म ज्ञानी।
उसके समीप जाते सम्पूर्ण साम ध्यानी॥

सब कर्मशील कहते रहते सदैव प्राणी।
हे अग्नि पाँय तेरी हम सख्यता सुहानी॥

त्रिष्टुप् छन्द

व्यर्थ अन्न को पाता अप्रचेता, सत्य कहूँ मैं वह वध उसी का।
न अर्यमा को न सखा को पोषे, केवल पापी होता केवलादी॥

×अग्निर्जागार तमृचः कामयन्तेऽग्निर्जागार तमु सामानि यान्ति। अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योका॥ साम ३०, २०—६—३

वृथाअन्न को पा रहा अप्रचेता।
जो केवल स्वयं खा रहा अप्रचेता॥
तुम्हें सच मैं बतला रहा अप्रचेता।
य' धन-वन मरण आ रहा अप्रचेता॥
जो पा अन्न को ना किसी को खिलाये।
वह पापी नहीं अन्न, वह पाप खाये॥ १॥
नहीं अर्यमा को कभी भाग दे जो।
उचित विश्वदेवों को संभाग दे जो॥
नहीं राष्ट्रहित हव्य कुछ त्याग दे जो।
नहीं इष्टमित्रों को अनुराग दे जो॥
खिलाये-पिलाये नहीं पुष्ट करता।
स्वयं भर उदर वह अघी डूब मरता॥ २॥
नहीं मित्र-बांधव जनों को खिलाये।
कहो अन्नधन अन्य क्या काम आये॥
कहो जो कि केवल वही उसको पाये।
नहीं अन्न वह पाप ही पाप खाये॥
यही पाप उसका मरण बन रहेगा।
मैं सच कह रहा यह दहेगा दहेगा॥ ३॥
कृपण बन के वृथा अन्न-धन कर रहा है।
अघी वह मरण को वरण कर रहा है॥
बना दस्यु वह व्यर्थ ही चर रहा है।
वृथा जी रहा है वृथा मर रहा है।
जो है केवलादी वही केवलाघी॥
कृपण-दस्यु-दुर्भाग-खल पापभागी॥ ४॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।। तदे-
वाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचन्द्रमा । तदेव शुक्रं तद् ब्रह्मताऽ
आपः स प्रजापतिः ।। यजु० ३२-१

अर्थ—(अथ सः इन्द्रं मित्रं वरुणं अग्निं दिव्यः सुपर्णः गरुत्मान् आहुः) अब उसे इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान कहते हैं (एकं सत्) एक उस सत्तावान् अग्नि को (विप्राः बहुधा वदन्ति) विद्वान् विविध प्रकार कहते हैं अग्नि (यमं मातरिश्वानम्) यम मातरिश्वा (आहुः) कहते हैं। (तत् एव अग्निः, तत् आदित्यः, तत् वायुः, तत् चन्द्रमा) वह ही अग्नि, वह आदित्य, वही वायु और चंद्रमा है । (तत् एव शुक्रं तत् ब्रह्मा आपः सः प्रजापतिः) वह प्रजापति, वह ही शुक्र-ब्रह्मा-आप है ।

त्रिष्टुप्

अग्नि को इन्द्र मित्र वरुण कहें वही दिव्य सुपर्ण गरुत्मान् ।
एक सत् को विप्र बहुधा कहें अग्नि यम मातरिश्वा कहते ॥

अनुष्टुप्

वही अग्नि आदित्य वो वही वायु औ' चंद्रमा ।
वही शुक्र वही ब्रह्मा आप वह प्रजापति ।
इन्द्र मित्र वरुण अग्नि दिव्य गरुत्मान् ।
वायु मातरिश्वा यम जातवेद प्राण ।
वही है सुपर्ण शुक्र दीप्तमान् ।
वही सूर्य चन्द्र वही ब्रह्म वह महान् ।
एक देव नाम पर अनेकधा सुजान ।
कर रहे विविध प्रकार एक का बखान ॥

शार्दूलविक्रीडित

ओम द्वैत अनादि ईश प्रभुतू लोकेश वाचस्पते !।
श्री स्रष्टा सविता पिता वरुण तू त्राताविधाता सखे ॥
ब्रह्मा विष्णु महेश शेष शिव तू देवेन्द्र तू अर्यमा।
तैजस् अग्नि विराट वायु जल तू आकाश तू अंगिरा ॥ १ ॥

अत्ता अक्षर जातवेद परिभू निर्लेप निर्व्याधि तू।
सोमादित्य अखण्ड मित्र गुरु तू विज्ञानवेत्ता विभो ॥
सिद्धोपास्य गणेश वन्द्य तू ही परमेश तू ही तथा।
तेरे नाम अनेक एक पर तू विश्वेश है सर्वथा ॥ २ ॥

पूषा प्राण परेश सूर्य यम तू भूतेश प्राणेश तू।
तू कालानल रुद्र पापहंता आराध्य देवेश तू॥
होता यज्ञ तुही पुरोहित तुही तू यज्ञ का देवता।
तेरे नाम अनेक एक पर तू विश्वेश है सर्वथा ॥ ३ ॥



ऋचाओं की छाया में

पंचम-विराम

सूक्त-स्रोत-समूह

१२७ ऋचाएँ (पुनरावृत्ति १९)

१०८ नवीन ऋचाएँ

ऋग्वेदीय सूक्त-समूह

अग्निसूक्त

(ऋ० म० १ सू० १)

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥ १ ॥
अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।
सदेवां एह वक्षति ॥ २ ॥

अर्थ—१. (अग्नि) स्वप्रकाशस्वरूप परमात्मग्नि की मैं (इळे) स्तुति करता हूँ वह (पुरोहितं) पुरोहित (यज्ञस्य देवं) यज्ञ का देव (ऋत्विजं) ऋत्विज (होतारं) सर्गयज्ञ का होता तथा (रत्नधातमं) रमणीय धारकतम है ।

२. (अग्निः पूर्वेभिः) प्राचीन ऋषियों से (नूतनैः ऋषिभिः उत) और नूतन ऋषियों से (ईड्य) उपास्य, पूज्य है (सः) वह (इह) इस विश्व में यहाँ (देवां) दिव्यताओं को (आवक्षति) वहन करता है पूर्णतः ।

गायत्री छन्द

१. अग्निस्तुतता, ऋत्विज, होता रत्नधा उत्तम, पुरोहित यज्ञदेव को ॥
२. अग्नि पूर्व ऋषियों से ईड्य नूतनों से भी वो, धारे देव यहाँ वही ॥

अग्नि है स्वप्रकाशक इस सर्गयज्ञ के यज्ञदेव वरणीय ।
पुरोहित ऋत्विज होता तथा रत्नधारक दाता रमणीय ॥
यज्ञधारक, सम्पादक देव पूर्व ही विद्यमान मख मूल ।
नियामक कालभोग्य दातार तुम्हारी स्तुति करता अनुकूल ॥ १ ॥

पूर्व के ऋषियों द्वारा वही स्तुत्य अभिनंदनीय मननीय ।
वही नूतन ऋषियों से वंदनीय अन्वेषणीय वरणीय ! ॥
सकल देवों का धारक दिव्य ज्ञान-विज्ञान-कला का धाम ।
वही सब दिव्य गुणों से इस संसृति में शोभित अग्निललाम ॥ २ ॥

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे ।
यशसं वीरवत्तमम् ।। ३ ।।

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि ।
स इद् देवेषु गच्छति ।। ४ ।।

---

३. (अग्निना) अग्नि द्वारा प्राप्त (दिवे दिवे) प्रतिदिन (पोषं) पुष्टि-दायक (यशसं) यशप्रद (वीरवत्तमं रयिं) सर्वश्रेष्ठ वीरत्वप्रदायक द्रविण भोग्य (एव) ही (अश्नवत्) भोगें ।

४. (अग्ने) हे अग्ने (यं यज्ञं अध्वरं) जिस श्रेष्ठतम अहिंसक यज्ञ-कर्म को (विश्वतः) सब ओर से (परिभूरसि) घेरते हो । (सइद्) वही यज्ञकर्म (देवेषु गच्छति) देवों को जाता है ।

गायत्री छन्द

३. अग्नि से पुष्टिदा रयि भोगें भुक्ति ही सतत । यश वीरवत्तम ही ।।
४. जिस अध्वर यज्ञ को । घेर ते अग्ने सर्वतः । पाता वह ही दिव्यता ।।

स्वप्रकाशक तेजस्वी अग्निदेव से प्रतिदिन मानव योग्य ।
पुष्टिवर्धक यशवर्धक वीर्यवान् उत्तम पाते हैं भोग्य ।।
अग्नि समुपासन से जो लब्ध सुलभ ऐश्वर्य द्रविण श्री अर्थ ।
वही होता पोषक यशमूल वीरवत् जाता कभी न व्यर्थ ।। ३ ।।

अग्रणी अग्निदेव द्युतिवन्त यज्ञ अध्वर जिसको सब ओर ।
आप कर लेते हैं स्वीकार वही देवों को जाय अथोर ।।
वही अध्वर होता है दिव्यदेव पाते उसका संभाग ।
आप करते हैं जिसको अग्नि विश्वतः स्वीकृत अध्वर याग ।। ४ ।।

अग्निर्होता कवि क्रतुः सत्यश्चित्र श्रवस्तमः ।
देवो देवेभिरागमत् ॥ ५ ॥
यदंग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि ।
तवेत् तत्सत्यमङ्गिरः ॥ ६ ॥

---

५. (अग्निः) अग्नि (होता) दाता, आह्वाता, आदाता (कवि) क्रान्त-दर्शी (क्रतु) दिव्य कर्मकर्त्ता (सत्यः) नित्य सत्ता वाला (चित्रः) अद्भुत (श्रवः तमः) श्रेष्ठतम यश-बल-अन्नमय (देवः) दिव्य (देवेभिः) देवों, दिव्य शक्तियों के साथ (आगमत्) प्राप्त हो ।

६. (अंग) हे प्रिय (अंगिर !) हे जीवनधन (त्व) तुम (अग्ने) हे अग्ने (भद्रं) भला (करिष्यसि) करोगे । (इत्) यही (तव) तेरा (तत् सत्यं) यह विधान है ।

गायत्री छन्द

५. अग्निहोता कवि क्रतु । सत्य चित्र श्रवस्तम । मिलें दिव्यताओं सह ॥
६. अंगाग्ने ! दानशील का । करोगे आप भद्र जो । यही तव सत्य अंगिर ! ॥

स्वप्रकाशक होता कवि क्रियावान सत्यस्वरूप भगवान् ।
परम अद्भुत यशबलसम्पन्न श्रेष्ठतम देव परम विद्वान् ॥
हमें हो देवों से वह प्राप्त करें मेधावी हमें उदार ।
सत्यभाषी सक्रिय विद्वान बहुश्रुत सद्गुण का आगार ॥ ५ ॥

अंग अग्ने हे प्रियतमदेव ! तुम्हें जो आत्मदान दे भक्त ।
उपासक होते कर सर्वस्वदान होते तुममें अनुरक्त ॥
सदा उनका करते तुम भला प्राणधन है तव सत्य विधान ।
तुम्हीं हो सर्वभद्र के मूल सत्य सुख-साररूप भगवान् ॥ ६ ॥

उपत्वाग्ने दिवे दिवे दोषा वस्तर्धिया वयम् ।
नमो भरन्त एमसि ॥ ७ ॥

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम् ।
वर्धमानं स्वेदमे ॥ ८ ॥

---

७. (अग्ने !) अग्ने ! (वयं) हम (दिवे दिवे) प्रतिदिन (दोषा वस्तः) दिन-रात, प्रतिक्षण (नमः भरन्त) नमनभाव से (उप त्वा एमसि) तेरे पास प्राप्त हो रहे हैं ।

८. (अध्वराणां) अध्वरों के, यज्ञों के (राजन्तं) प्रकाशक (गोपां) गो पालक, ज्ञानरश्मि पालक (ऋतस्य दीदिविं) ऋत के प्रकाशक (स्वे दमे) स्व सुखरूप सदन में (वर्धमानं) बढ़ने वाले ।

गायत्री छन्द

७. दिन-दिन पास अग्ने तव । सायं प्रातः धी सहित । आते लाते हम नमन् ॥

८. अध्वरों के राजन्त । गोप ऋत के द्योतक । स्व-गृह वर्धमान को ॥

परम ज्योतिर्मय हे दैदीप्यमान अग्ने हम प्रतिदिन-रात ।
निकट आ रहे आपके नम्र भाव से बुद्धि-क्रिया के साथ ॥
ज्ञान व कर्मों द्वारा देव ! आपमें ही हो हम तल्लीन ।
आपके समुपासन रत नित्य आपके चरण शरण आधीन ॥ ७ ॥

अध्वरों ऋत के रक्षक देवप्रकाशक राजनीय सुखमूल ।
आपके दुखहारी स्वर सुखस्वरूप में वर्धमान फलफूल ॥
आपकी शरण प्राप्त हो हमें सदा हम जिससे रहें अशोक ।
करें सत्संग वरें तप त्याग जितेन्द्रियता सद् ज्ञानालोक ॥ ८ ॥

सनः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥९॥

वरुणसूक्त

(ऋग्वेद मण्डल ७ सूक्त ८९)

मोषु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्। मृडा सुक्षत्र मृडय ॥१॥

---

९. (सः) वह तू (अग्ने) हे अग्नि! (नः) हमको (सुउपायनः) सुन्दर सहज प्राप्य (भव) हो (नः स्वस्तये) हमारे कल्याण के लिए (आसचस्व) सुखी कर, अंक में आबद्ध कर (पिता इव सूनवे) जैसे पिता पुत्र को।

अर्थ—(सुवरुण राजन्) श्रेष्ठ राजनीय प्रकाशनीय वरणीय परमेश्वर। (अहं मृन्मयं गृहं मा-उ-गमम्) मैं मृण्मयी पार्थिव शरीररूप नश्वर गृहं को जाऊँ, प्राप्त होऊँ (सुक्षत्र मृड, मृडय) उत्तम दुख से त्राणकर्त्ता सुन्दर श्रेष्ठ रक्षक सुखी कर सुखी कराओ ॥ १ ॥

गायत्री छन्द

९. हमे पितावत् पुत्र को। अग्ने तू वह सुप्राप्य हो। स्वस्त्यर्थ सौख्यदा दह में ॥

मृण्मय-गृह को राजन्! वरुण मैं न पाऊँ सुक्षत्र! सुखी कर, कराये ॥१॥

अग्नि वह तू हो पिता समान हमारे ज्योतिर्मय भगवान।
नित्य हो सहज सुलभ उपलब्ध हमें तुम पालक पिता समान ॥
प्राप्त हो नित्य हमें भगवान सुखद हो नित्य हमें भगवान।
हमारे स्वस्तिहेतु हो नित्य हमारा सदा करो कल्याण ॥ ९ ॥

॥ इति ऋग्वेदीय अग्निसूक्त ॥

गीतिका

दया करो, दया करो, दया करो हे!
हे सुक्षत्र वरुणदेव दया करो हे!
सुखी करो सुखी करा दुःख हरो हे!
हे सुक्षत्र वरुणदेव! दया करो हे! ॥ १ ॥

यदेमि प्रस्फुरन्निव दृतिर्न ध्मातो अद्रिवः। मृडा सुक्षत्र मृडय ॥२॥

(अद्रिवः) हे मेघवत् सुखवर्षक! (यत्) जो (दृतिः न ध्मातः) धौंकनी के समान कम्पायमान (प्रस्फुरन् इव) गुब्बारे की तरह भ्रमता हुआ हूँ (सुक्षत्र मृडा मृडय) हे उत्तम रक्षक मुझे सुखी कर अन्यों को सुखी कर ॥२॥

गायत्री छन्द

जो मैं धौंकनी चंग-सा काँपता भ्रमता रहा सुक्षत्र सुखीकर करा ॥ २ ॥

वरणयोग्य सर्वश्रेष्ठ हे विराजमान।
सर्वशक्तिमान दीप्तिमान हे महान्।
मिट्टी का जराजीर्ण दो नहीं मकान।
मृण्मय पार्थिव-शव से त्राण करो त्राण।
अमर करो अमृतरूप अभय भरो हे!
हे सुक्षत्र वरुणदेव दया करो हे।
सुखी करो सुखी करो दुःख हरो हे!

पाशवद्ध भटक रहा चंग के समान।
धौंकनी समान हाँफ-काँप रहे प्राण
मेघतुल्य सुखवर्षक! हे अद्रिव महान्
भ्रमता मैं युग-युग से अस्थिर म्रियमाण।
बन्धन से मुक्त करो मुक्त करो हे!
शरणागत हूँ तव सुखयुक्त करो हे।
हे सुक्षत्र वरुणदेव दया करो हे!
सुखी करो सुखी करा दुःख हरो हे! ॥ २ ॥

ऋतवः समहदीनता प्रतीपं जगमाशुचे ।

मृडा सुक्षत्र मृडय ॥३॥

अपां मध्ये तस्थिवासं तृष्णाविदज्जरितारम् ।

मृडा सुक्षत्र मृडय ॥ ४ ॥

(शुचे) हे पवित्र परमात्मन्! (समहदीनता) शरीर पालनार्थ दैन्य-भाव के कारण (ऋतवः प्रतीपं) ऋतुः—यज्ञ के विपरीतभाव दुरित दुर्गुण को (आजगम) प्राप्त हो गया हूँ। हे भली प्रकार रक्षा करने वाले मुझे सुखी कर और मुझसे अन्यों को सुखी करा ॥ ३ ॥

(अपां मध्ये तस्थिवांसं जरितारं तृष्णा-अविदत्) तुझ जल समान महान् परमात्मा में वर्त्तमान मुझ जीर्णता को प्राप्त हुए तृष्णा बनी हुई है—आनन्द-स्रोत में रहता हुआ भी मैं प्यासा हूँ। हे (सुक्षत्र) उत्तम रक्षक मुझे सुखी करो ॥४॥

गायत्री छन्द

शुचे मैं दैन्यभाव से, ऋतु विरुद्ध हो रहा ।

सुक्षत्र सुखी कर करा ॥ ३ ॥

धारा में वर्त्तमान मैं, जरिता तृष्णा ग्रसित ।

सुक्षत्र सुखी कर करा ॥ ४ ॥

दीन-हीन मैं मलीन! हे शुचे! अनन्य!
धर्म-कर्म-मार्ग से विमुख हुआ शरण्य!
सर्वथा विरुद्ध दिशा जा रहा हूँ आह!
राह दिखा ज्योतिर्मय राह दिखा राह!
पावन मनभावन आलोक करो हे!
शोक हरो शोक हरा शोक हरो हे!
हे सुक्षत्र वरुणदेव दया करो हे!
सुखी करो सुखी करा दुःख हरो हे! ॥ ३ ॥

यद्यपि मम अमृत के सागर में वास ।
फिर भी तृषिताकुल मैं बुझती ना प्यास ।

यत्किञ्चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि।
अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो
देवरीरिषः ॥ ५ ॥

(वरुण-अचित्ति मनुष्याः यत् किं च इदम्) हे वरने योग्य परमात्मन्! हम मनुष्य अज्ञान से यह जो कुछ भी (दैव्ये जने) महात्मा विद्वज्जन के प्रति (अभिद्रोहं चरामसि) वैरभाव का आचरण करते हैं (यत् तव धर्मा) जो तेरे आदेशों का (युयोपिम) उसी अज्ञान से हम भूल से लोप करते हैं या करें तो (तस्मात् एनसः न मा रीरिषः) हे परमात्मन्! उस पाप से हमें मत पीड़ित कर ॥ ५ ॥

गायत्री छन्द

जो कुछ ये वरुण दैव्य जनों से अभिद्रोह हम करें।
अज्ञान से तव धर्म विलोपें तो उन पापों से हमें नहीं पीड़ा दें ॥५॥

रूप शब्द गन्ध स्पर्श रस के बहुपाश।
लाते सन्निकट जरा जीर्णता, विनाश।
प्यास बुझा तृष्णा सन्ताप हरो हे!
हे अमृत प्रवाह तृषा आप! हरो हे!
सुखी करो सुखी करा दुःख हरो हे!
हे सुक्षत्र वरुणदेव दया करो हे! ॥ ४ ॥

जो कुछ भी अज्ञ हम अबोध औ' अजान।
देवों का करते अनजाने अपमान।
विद्वानों के प्रति हम रखकर दुर्भाव।
नियमों को भूल करें अनुचित बर्त्ताव।
हमको उस अघ से मत व्यथित करो हे!
मुदित करो मुदित करो मुदित करो हे!
द्रोह हरो अज्ञता विमोह हरो हे! ॥ ५ ॥

॥ इति वरुणसूक्त ॥

(उषा) प्रभातसूक्त

(ऋग्वेद मण्डल ७ सूक्त ४१)

प्रातरग्निं प्रातरिंद्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातस्सोममुत रुद्रं हुवेम ॥१॥

अर्थ—(१) (प्रातः) प्रात में (अग्निं) प्रकाशस्वरूप (प्रातः इन्द्रं) प्रात में परमैश्वर्ययुक्त की (प्रातः मित्रा वरुणा) प्राण-उदान के समान प्रिय (प्रातः अश्विना) सूर्य-चन्द्रमा के उत्पादक की (हवामहे) स्तुति करते हैं। (प्रातः भगं) प्रात भजनीय को (पूषणं) पुष्टिकर्त्ता को (ब्रह्मणस्पतिं) ज्ञान तथा ब्रह्माण्ड के पालक (सोमं) सुन्दर (उत) और (रुद्रं) दुष्टों को रुलाने वाले, सर्व रोग नाशक प्रभु की (हुवेम) स्तुति करते हैं ॥१॥

छन्द

प्रात अग्नि प्रात इन्द्र की स्तुति करें मित्र वरुण प्रात अश्विनों को ।
प्रात भग पूषण को ब्रह्म के पति को प्रात सोम औ रुद्र को भजें ॥ १ ॥

गीतिका

[तमोमय दोषा हुई व्यतीत ।
प्रातकाल की बेला आई पावन परम पुनीत ॥]
प्रात अग्नि अक्षय प्रकाश को ।
प्रात इन्द्र वैभव-निवास को ।
प्रात वरुण वर लोकोत्तम को ।
प्रात मित्र प्रिय प्राणोपम को ।
प्रातसोम को प्रातरुद्र को भजते भक्त विनीत ॥ १ ॥

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्त्ता ।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥२॥

अर्थ—(२) (प्रातः जितं) प्रातः ही (जितं) जयशील (भगं) ऐश्वर्यदाता (उग्रं) तेजस्वी (अदितेः पुत्रं) अन्तरिक्ष के पुत्र सूर्य के उत्पादक (यः) जो (विधर्ता) विशेष धारक है (आध्रः) सब ओर से धारक (यं चित्) जिस किसी का भी (मन्यमानः) जानने वाला (तुरश्चित्) शीघ्रगामी, प्रचण्ड (राजा) राजनीय (यं) जिस (भगं) सेवनीय को (चित्) भी (भक्षीति) ऐसे सेवन करता हूँ । (आह) ऐसा कहता है ॥ २ ॥

निचृद् त्रिष्टुप्

प्रात जित उग्र भग को उपासें हम आदित्य का जो विधर्त्ता है ।
जिसे मन्यमान अन्यों से धार्य बली राजा भी मैं भजू यों कहे ॥ २ ॥

प्रात उग्र शुचि तेजवन्त का ।
जयस्वरूप वैभव अनन्त का ।
राजा खल शासक कर्त्ता का ।
लोकादित्य आदिधर्त्ता का ।
मन्यमान सर्वज्ञ सभी का ।
भग भजनीय देव अवनी का ।
सेवनीय आराध्य देव का हम गाते स्तुतिगीत ॥ २ ॥

भगप्रणेतर्भगसत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भगप्रणो जनय गोभिरश्वैर्भग प्रनृभिर्नृवन्तः स्याम ॥३॥

---

(३) (भगप्रणेतः) सेवनीय प्रणेता (भगसत्यराधः) ऐश्वर्यप्रद सत्यधनदाता (भग नः) ऐश्वर्यवान् हमें (इमाम्) इस (धियं) प्रज्ञा को (ददत्) दे (उदवा) उस दान से उन्नयन करो। (भग) ऐश्वर्यप्रद सेव्य आप (गोभिः अश्वैः) गो, विद्या, वाणी, अश्व, इन्द्रियादि सहित (प्रजनय) विशिष्ट रूपेण उत्तम बनाइये जिससे हे (भग) ऐश्वर्यवान् हम (नृभिः) पुरुषों के साथ (नृवन्तः) बहुत मनुष्यों वाले (प्रस्याम) उत्तमतया हो जावें ॥ ३ ॥

भग प्रणेता भग सत्यराधः !! मम धी को दान देते, उठाओ ।
भग ! गो अश्वों से हम श्रेष्ठ हों, भग ! नरों से सुनृवन्त होवें ॥ ३ ॥

सर्वप्रणेता प्रेरक भग हे ! ।
सत्य वित्त के दायक भग हे ! ॥
दो वरदान हमें प्रज्ञा का ।
भार वहन कीजे रक्षा का ॥
गोधन वाजि सुभग पशुधन ।
हमें समृद्ध करो धन-जन से ॥
हम होंवे सम्यक् नृवन्त बँध सुजन स्नेह उपवीत ॥ ३ ॥

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥४॥

(४) (उत इदानीं) और अब (प्रपित्वे) प्रकर्षता की प्राप्ति में (अह्नां मध्ये) दिनों के मध्य में (मघवन्तः) ऐश्वर्यवन्त होवें (स्याम) (उत) और (मघवन्) पूज्य धनदाता! (सूर्यस्य) सूर्य लोक के (उदित) उदय में (देवानां) देवों की (सुमतौ) उत्तम प्रज्ञा (उत) और सुमति में (वयं स्याम) हम हो जावें ॥ ४ ॥

पंक्ति छन्द

इस काल में भगवन्त हों ऐश्वर्य पाके मध्यान्ह में भी।
मघवन्! सूर्योदय-अस्त में हम देवों की सुमति में हों ॥ ४ ॥

हम उत्कर्ष-प्राप्ति के इस क्षण।
हों भगवन्त पूज्य वर मघवन्! ॥
औ' मध्यान्हों में भी जीवन।
हों भगवन्त समुन्नत भगवन्! ॥
सूर्योदय वेला में पावन।
दिव्य सुमति युत हों हम शोभन ॥
देवों की अनुकूल सुमति से हों हम दिव्य पुनीत ॥ ४ ॥

भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्त स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुर एता भवेह ॥५॥

(५) हे भग! (तं) उस (त्वा) आपकी (सर्वः) सब (इज्जोहवीति) प्रशंसा करते हैं। (सः) वह आप (भग) भग (इह) यहाँ (नः) हमारे आश्रम में (पुर एता) अग्रगामी (भव) हो (भग एव) सर्वैश्वर्यप्रद आप ही (भगवान्) इष्ट देव (अस्तु) हो जायें। (तेन) उसी से (वयं देवाः) हम देव (भगवन्तः) सर्वऐश्वर्यसम्पन्न हों (स्याम) होवें ॥ ५ ॥

नि० त्रिष्टुप्

भगही भगवान हों देवो उसीसे हम भी भगवंत हों।
भग! उस तुझे सर्व पुकारें भग! तू यहाँ पुरोगामी हो हमें ॥५॥

सुभग बनो भगवान हमारे।
पथ-दर्शक जीवन उजियारे ॥
हो जायें सौभाग्यवान हम।
सकल देव जन तुमसे प्रियतम ॥
हे धन-विभवयुक्त तव भगवन्!।
करते मुक्त-कण्ठ तव वंदन ॥
होवे हम तव कृपाकोर से धन-वैभव के मीत ॥ ५ ॥

समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं नो रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ॥६॥

(६) (उषसः) प्रातों में (अध्वराय) यज्ञों के लिए (शुचये) पवित्रता के लिए (पदाय) परम पद के लिए (दधिक्रावा इव) भारवाही अश्ववत् (स नमन्त) साथ-साथ मिलकर नमन करते हुए (अश्वं रथं न) अश्वरथ को ले जाने के समान तथैव (वाजिनः) ज्ञानवान्, बलवान् लोग (अर्वाचीनं) सद्यः (वसुविदं) ऐश्वर्यों को प्राप्त तथा प्राप्तव्य (भगं) भग को (आवहन्तु नः) हमें पहुँचावें ॥ ६ ॥

त्रिष्टुप्

उषाए अध्वरार्थं शुचिको पद को भारवाहीवत् सु-नमें।
अश्वरथवत् वाजी अर्वाचीन वसुविद-भग को हमें लाये ॥ ६ ॥

अश्व-रथों के वाहकवत् हम।
उषःकाल में सम्यक् नत हम ॥
अध्वर शुचि के हेतु अग्रसर।
उत्तम पद के हेतु निरन्तर ॥
ले जाये हमको ज्ञानी जन।
नव-नव वसुविद भग के नूतन ॥
वाजीवत् हमको ले जाये वाजी सुपथ सप्रीत ॥ ६ ॥

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः ।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

---

(७) (उषासः अश्वावतीः गोमतीः वीरवतीः भद्राः) उषाएँ सूर्य-किरणों से युक्त, उत्तम वायु से युक्त हुई भद्रा अर्थात् कल्याणी तथा सुखदा हैं तथा एव कान्तिवती (अश्वावती) श्रेष्ठ स्वामी वाली (गोमती) श्रेष्ठ वाणी वाली (वीरवती) उत्तम सन्तति वाली (नः सदम्) हमारे गृह को (उच्छन्तु) प्रकाशित करें । (घृतं दुहानाः) घृत दीप्ति जल ज्ञान प्रकाश को पूर्ण करती हुई (विश्वतः प्रपीताः) सब ओर से संतृप्त पुष्ट रहें हे आप (नः सदा स्वस्तिभिः पातः) हमें सदा कल्याणों से रक्षा करें ॥ ७ ॥

त्रिष्टुप्

अश्ववती गोमती उषाएँ वीरमती भद्र घर में हमें उगें ।
तुम जल गिराती सर्वतः सदा, स्वस्तियों से हमारी रक्षा करो ॥ ७ ॥

सूर्यवती गोमती उषाएँ ।
वीरवती प्रभात-वेलाएँ ॥
भद्रा सुखद तथा कल्याणी ।
कान्तिमती हो उषा सुहानी ।
करो प्रकाशित हृदय-सदन को ।
दीप्ति प्रवाह भरे जीवन को ॥
उषा हमारी करो स्वस्ति रक्षण विदतः प्रपीत ॥ ७ ॥

॥ इति प्रभातसूक्त (उषासूक्त) ॥

ऋग्वेदीय पवमानसोमसूक्त

(मण्डल ९ सूक्त ११३)

शर्यणावति सोममिन्द्र पिबतु वृत्रहा। बलं दधान आत्मनि करिष्यन् वीर्यं महदिन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥ १ ॥

ऋग्वेद-पवमानसोमसूक्त

(मण्डल ९ सूक्त ११३)

१—(वृत्रहा इन्द्रः) दुरितरूपी वृत्रासुरनाशक आत्मेन्द्र (महत् वीर्यं करिष्यन्) महान् पराक्रम करने के हेतु (आत्मनि बलं दधानः) अपने में बल धारण करते हुए (शर्यणावति सोमं पिबतु) प्रणवधनु के आश्रय लक्ष्य कर सोमरूप परमात्मा के आनन्द रस का पान करे। हे (इन्दो) चन्द्रमा के समान आनन्द-रस रूप तू आत्मा के लिए परिस्रवित हो ॥ १ ॥

समछन्दानुवर्त्ती

१. धनुष पर सोम को पिये इन्द्र वृत्रहा।
बल अपने में धरे महत् वीर्यं करने को। सोम इन्द्रार्थ बह ॥

गीतिका

अखण्डानंद संजीवन सुधारस को बहाता आ।
रसीले सोम! मेरे इन्द्र पर रसस्रोत बरसा आ ॥
अशुभ दुर्भावना का वृत्रनाशक आत्मा मेरा।
महत् बल वीर्य धारण हेतु चाहक आत्मा मेरा ॥
लिये शर-धनुष तत्पर लक्ष्यवेधक आत्मा।
कि पीना चाहता है सोम, साधक आत्मा ॥
परमप्रिय! सोम अमृतरस चषक मादक पिलाता जा।
रसीले सोम! मेरे इन्द्र पर रसस्रोत बरसा आ ॥ १ ॥

आपवस्व दिशांपत आर्जीकात्सोम मीढ्वः। ऋत वाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुत इंद्रायेन्दो परिस्रव ॥ २ ॥

२—हे (सोम) सौम्यगुणसम्पन्न (मीढ्वः) सुख-सिंचन करने वाले (दिशांपते) दिशाओं के स्वामी परमात्मदेव, तू (ऋत वाकेन) सत्य वाणी द्वारा (सत्येन) सत्य भाषण से (श्रद्धया) श्रद्धा से (तपसा) तपस्या से (सुतः) निष्पन्न होता हुआ (आर्जीकात्) सरलता से (आपवस्व) आ पवित्र कर (इन्दो इन्द्राय परिस्रव) हे चन्द्रतुल्य आनन्द-रस पूर्ण तू आत्मा के लिए वहता हुआ सा आ ॥ २ ॥

---

२. आ सरलता से सिंचक सोम दिशापते !
ऋत वाक से सत्य से श्रद्धा से तप से प्रसूत इन्दो इन्द्रार्थ बह ॥

अमर ऋत सत्य वचनों से प्रकाशित सींचने वाले।
अबाधित सत्य तप श्रद्धा समन्वित सींचने वाले॥
सरल ऋजु धर्मपद से पूज्य आहत सींचने वाले।
परमपद से हमारे पास आ चित खींचने वाले॥
दिशाओं के पते ! सुख हर्षवर्षक अमृत बरसा आ।
हृदय में सोम दिव्यानंद जीवनरस बहाता आ॥२॥

पर्जन्यवृद्धं महिषं तं सूर्यस्य दुहिताभरत् । तं गन्धर्वाः प्रत्यगृभ्णन् तं सोमे रसमादधुरिन्द्रायेन्दो परिस्रव ।। ३ ।।

३—(तं महिषं पर्जन्यवृद्धं) उस महान् मेघवत् संवृद्ध परमात्मा को (सूर्यस्य दुहिता अभरत्) श्रद्धा ने धारण किया—श्रद्धा ने उस महान् परमात्मदेव को पर्जन्यवत् बढ़ाया । (तं) उसको (गन्धर्वाः प्रत्यगृभ्णन्) मन ने ग्रहण कर लिया (सोमे रसं तं आदधुः) सोम में परमेश्वर में उस रस आनन्द को उपासक के आत्मा रख दिया । (इन्दो इन्द्राय परिस्रव) सोम तू आत्मेन्द्र के लिए परिस्रवित हो ।। ३ ।।

---

३. इस पर्जन्यवत् संवृद्ध को, श्रद्धा ने धारण किया ।
उसको मन ने गहा उसको सोम में रखा इन्दो ! इन्द्रार्थ बह ।।

महापर्जन्यवत् संवृद्ध धारा सत्यधारक ने ।
प्रकाशित सूर्य दुहिता परम श्रद्धा ज्योति दोहक ने ।।
किया जिसको ग्रहण स्वीकार मन ने गंधवाहक ने ।
किया जिस सोम में आधान रस का रस विलासक ने ।।
अरी श्रद्धे ! अरे मन तू पता उसका बताता जा ।
रसीले सोम तू इन्द्रार्थ संतत रस बहाता आ ।। ३ ।।

ऋतं वदन्नृतद्युम्न सत्यं वदन्त्सत्य कर्मन् । श्रद्धां वदन्त्सोम राजन् धात्रा सोम परिष्कृत इन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥ ४ ॥

४—(सोम राजन्) हे सोम्य राजनीय परमात्मदेव ! (ऋतद्युम्न) सत्य ज्ञान से प्रकाशमान ज्ञान को कहता हुआ (सत्य कर्मन् सत्यं वदन्) हे सत्य कर्मवाले सत्य कहता हुआ (श्रद्धां वदन्) सत्यधारण में प्रीति कहता हुआ (सोम) सौम्यगुणसम्पन्न प्रकाशमान (धात्रा) धारण करने वाले (परिष्कृतः) शुद्ध होता हुआ हे सोम तू आत्मेन्द्र के लिए परिस्रवित हो ॥ ४ ॥

---

४. ऋत कहते ऋत दीप्त सत्य कहते करते ।
श्रद्धा करते सौम्य राजन् ! धाता से परिष्कृत सोम इन्द्रार्थ वह ॥

हृदय धन सोम राजन् ! ज्ञान से सम्पन्न ज्योतिर्धन ।
तुम्हीं ने सत्य श्रद्धा का तथा ऋत का किया प्रवचन ॥
स्वधारक इन्द्र आत्मा ने किया तुझको वरण जीवन ।
परिष्कृत आत्मा द्वारा हुआ साक्षात् तव दर्शन ॥

मनोहर सोम अपना ले मुझे अपना बनाता आ ।
रसीले सोम तू इन्द्रार्थ संतत रस बहाता आ ॥ ४ ॥

सत्यमुग्रस्य बृहतः संस्रवन्ति संस्रवः। संयन्ति रसिनो रसाः पुनानो ब्रह्मणा हर इन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥ ५ ॥

५—(हरे) हे मनोहर तथा दुःख हरने वाले सोम जब तू (ब्रह्मणा पुनानः) ज्ञान से पुनीत स्तुत होता है तब तुझ (बृहतः सत्यम् उग्रस्य) महान् उग्र सत्यस्वरूप, सत्य के उग्र-पर्वत के (संस्रवः) आनन्द-स्रोत (संस्रवन्ति) स्रवित होती हैं। एवं (रसिनः रसाः संयन्ति) रसीले के रस भलीभाँति प्राप्त होती हैं। हे सोम परमात्मन् तू आत्मेन्द्र परिस्रवित हो ॥ ५ ॥

---

५. सत्य उग्र के बृहत् अद्रि स्रोत झर रहे।
रसीले रसों से प्लावित पूत ब्रह्म से हरे सोम तू इन्द्रार्थ बह ॥५॥

हरे! चितचोर मनहर दुखहर्त्ता सोम मेरे धन।
कि जब हो ज्ञान पावन मन्त्रस्तुत आनंदघन भगवन् ॥
तभी तुझ सत्य के आनंद गिरि से उग्र अगणित बन।
उमड़ते हैं सतत आनंद रस के स्रोत अन्तर्मन ॥
निरन्तर रस प्रवाहित स्रोत में मज्जन कराता जा।
रसीले सोम इन्द्रार्थ संतत रस बहाता आ ॥ ५ ॥

यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्यां वाचं वदन् । ग्राव्णा सोमे महीयते सोमेनानंदं जनयन्निन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥ ६ ॥

६—(पवमान) हे पवित्र, अन्दर प्राप्त होते हुए परमात्मन्! (यत्र) जहाँ (ग्राव्णा सोमे) स्तोता द्वारा स्तुत सोम पर (ब्रह्मा छन्दस्य वाचं वदन्) ब्रह्मनिष्ठ छन्दोमय देववाणी को बोलता हुआ तथा (सोमेन आनन्दं जनयन्) सोम प्रभु से अपने अन्दर आनन्द को उत्पन्न करता हुआ (महीयते) महिमा को प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति की मुझे इच्छा है। हे सोम, मेरे आत्मेन्द्र में परिस्रवित हो ॥ ६ ॥

६. जहाँ ब्रह्मा पवमान छान्दसी वाक् बोलते ।
स्तोता सोम के लिए महान् हों सोम से आनन्द पा इन्द्रार्थ वह ॥

कि जिस स्थिति में परम विद्वान् स्तोता छंदमय वाणी।
मनोहर ब्रह्मनिष्ठायुक्त दैवी रम्य कल्याणी ॥
कथन करता हुआ आनंद कर उत्पन्न लासानी ।
तथा पाता परम पद मोक्ष को अमरत्व को प्राणी ॥
सी स्थिति में मुझे पवमान पावन कर बिठाता जा।
हृदय में सोम दिव्यानंद संजीवन बहाता आ ॥ ६ ॥

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम्। तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इद्रायेन्दो परिस्रव ॥ ७ ॥

७—हे पवमान (यत्र अजस्रं ज्योतिः) जहाँ अजस्र प्रकाश है और (यस्मिन् लोके स्वः हितं) जिस लोक में स्वर-नित्यसुख स्थित है (तस्मिन् अक्षिते अमृते लोके) उस अविनाशी, मरणरहित लोक में, मोक्ष में (मां धेहि) मुझे धारण करा। हे सोम, मेरे आत्मेन्द्र को परिस्रवित हो ॥ ७ ॥

---

७. अजस्र ज्योति जहाँ स्वर जिसमें निहित।
इसी लोक-अक्षयामृत में सोम ले जा मुझे पवमान इन्द्रार्थ बह ॥

जहाँ आलोक अविनश्वर जिसमें सुख रखा अक्षय।
अमृत के लोक अक्षत में मुझे रख देव मृत्युंजय॥
क्षणिक सुख में न मुझको तृप्ति होती ज्योति के आलय।
मुझे पवमावन अपने लोक में ले चल मिटा संशय॥
अखण्डानंद अमृत लोक में पवमान पहुँचा जा।
रसीले सोम आ इन्द्रार्थ तू रसस्रोत बरसा आ ॥ ७ ॥

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः। यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र मामभृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥ ८ ॥

८—हे (इन्दो) सोम (यत्र) जहाँ मोक्ष में (वैवस्वतः राजा) सूर्य या काल राजमान हो अर्थात् कालक्षय-मरणभय न हो। (यत्र दिवः अवरोधनम्) जहाँ दिव्य प्रकाश स्थिर हो। (यत्र) जहाँ (अमूः) वे यह व्यापक (आपः) ज्योति-प्रवाह, आनन्द-धारा हो (तत्र) वहाँ (मां) मुझे (अमृतं कृधिः) अमर कर देवे, बना दे। हे सोम, मुझ आत्मेन्द्र के लिए परिस्रवित हो ॥ ८ ॥

---

८. जहाँ वैवस्वत राजा जहाँ दिव् अवरुद्ध है।

जहाँ वे धारायें हैं वहाँ मुझे अमर करो इन्दो इन्द्रार्थ बह ॥

परमपद में जहाँ परकाल का होता नहीं है क्षय।
जहाँ पर नित्य ज्ञान प्रकाश शाश्वत है न होता लय ॥
सदा ही राजता आनन्द-स्रोत प्रवाह है अतिशय।
अमर कर दे मुझे निज धाम में करुणेश ज्योतिर्मय ॥
अमृत के धाम तक मुझको हरे ! पवमान पहुँचा जा।
रसीले सोम आ इन्द्रार्थ संतत रस बहाता आ ॥ ८ ॥

यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः। लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥ ९ ॥

९—(यत्र) जहाँ (त्रिनाके) तृतीय स्थान में, इन्द्रिय मन आत्मा के उत्तरोत्तर क्रम में–अमृत मोक्ष में–(त्रिदिवे) तृतीय प्रकाश-स्थान में, अग्नि-सूर्य-ब्रह्म के उत्तरोत्तर ज्योति-क्रम में ब्रह्मरूप प्रकाशक के प्रकाश-स्थान में (अनुकामं चरणं) अनुकूल कामना के अव्याहत विचरण जहाँ हो (यत्र) जहाँ हो, (दिवः ज्योतिष्मन्तः लोकाः) सूर्यरूप परमात्मा के प्रकाश से समस्त अवलोकनीय प्रकाशमन्त है (तत्र) वहाँ मुक्तिधाम में (मां अमृतं कृधि) मुझे अमर देव बना दे। हे सोम, मुझ आत्मेन्द्र के लिए परिस्रवित हो ॥ ९ ॥

---

९. त्रिनाक त्रिदिव में जहाँ है यथेष्ट विचरना।
जहाँ दिव् ज्योतित लोक वहाँ मुझे अमर करो इन्दो इन्द्रार्थं बह ॥

त्रिविध सुख है जहाँ पर कामना अनुसार विचरण है।
जहाँ पर त्रिविध दिव्यालोक का सम्यक् प्रकाशन है ॥
जहाँ परमात्म-सूर्य-प्रकाश से है लोक ज्योतिर्मय।
अमर कर दे मुझे निज लोक में हर दे मरण दुखमय ॥
अमृत के धाम तक पहुँचा मरण भय से छुड़ाता जा।
रसीले सोम तू इन्द्रार्थ आ रसस्रोत बरसा आ ॥ ९ ॥

यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम्। स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥ १० ॥

१०—हे (इन्दो) सोम! (यत्र) जहाँ (कामाः) कामनाएँ (निकामाः च) और आत्मान्तर्गत शान्तियाँ हैं। (यत्र) जहाँ (ब्रध्नस्य विष्टपम्) स्वर्गलोक है। महान् परमात्मा का भुवन है—विशिष्ट सुख है। (यत्र) जहाँ (स्वधा च तृप्तिः च) स्वधारणशक्ति स्वसुख तृप्तिमयी परमात्म सत्ता है (तत्र मां अमृतं कृधि) उस मोक्ष-स्थिति में मुझे अमर कर। हे सोम, मुझ आत्मेन्द्र के लिए परिस्रवित हो ॥ १० ॥

---

१०. जहाँ काम निकाम हैं जहाँ ब्रध्न का विष्टप।

जहाँ स्वधा तृप्ति है वहाँ मुझे अमर करो इन्दो इन्द्रार्थ बह ॥

जहाँ केवल स्वसत्ताशक्ति प्रभु की तृप्तिकर सत्ता।
जहाँ पर मुक्त प्राणी का सुखद स्वरराज्य अलबत्ता ॥
जहाँ पर कामनाएँ पूर्ण आत्मिक शान्ति है अक्षय।
अमर कर दे मुझे इस लोक निज में देव ज्योतिर्मय ॥
हृदय में सोम दिव्यानंद जीवन रस बहाता आ ॥१०॥

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते । कामस्य यत्राप्ताः
कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥ ११ ॥

११—हे सर्वानन्दयुक्त प्रभो ! (यत्र) जहाँ (आनन्दाः च मोदाः च मुदः प्रमुदः) आनन्द-मोद-प्रसन्नताएँ, प्रशान्तियाँ हैं (यत्र) (कामस्य कामा) काम्यपदार्थों की कामना प्राप्त हैं (आप्ताः) प्राप्त हैं (तत्र मां अमृत कृधि) उस मोक्ष धाम में हे सोम, मुझ आत्मेन्द्र के लिए तू परिस्रवित हो ॥ ११ ॥

११. जहाँ आनंद मोद है मुद प्रमुद हैं तथा ।
काम्य काम प्राप्त हैं वहाँ मुझे अमर करो इन्दो इन्द्रार्थ बह ॥

कि जो आनन्द का आमोद का कामुद प्रमुद का आलय ।
जहाँ कमनीय चय की अभिलषित सुखधार है अतिशय ॥
जहाँ पर पूर्णकामा जीव का सहवास है निश्चय ।
अमर कर दे मुझे उस लोक निज में देव ज्योतिर्मय ॥
अमृत के धाम तक पहुँचा मरणभय से छुड़ाता जा ।
रसीले सोम तू इन्द्रार्थ आ रस को बहाता आ ॥११॥

॥ इति ऋग्वेदीय पवमानसूक्त ॥

प्रजापतिसूक्त

(मं० १० सूक्त १२१)

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥

अर्थ—(१) (अग्रे) सृष्टि से पूर्व (हिरण्यगर्भः) ज्योतिर्मय पदार्थों को अपने अन्दर रखने वाला (सम् अवर्त्तत) विद्यमान था । वही (भूतस्य) भूत मात्र का (पतिः जातः) पति हुआ वही (एकः आसीत्) अद्वितीय था (सः पृथिवीं दाधार) वह पृथिवी आदि को धारण करता है (उत द्यां) और द्युलोक को [भी] (कस्मै) कः अज्ञात रूपवाले सुखस्वरूप प्रजापति का (हविषा) आत्म-समर्पणरूप हवि द्वारा (विधेम) करें ।

त्रिष्टुप् छन्द

१. हिरण्यगर्भ अग्र में रहा जातमात्र भूतों का एक स्वामी ।
वह द्यौ और पृथ्वी को धारता, हम हवि से अर्चें कः देव को ॥

सरसी छन्द (गीतिका)

[१]

हिरण्यगर्भ सृष्टि से पहिले जो था विराजमान ।
सब उत्पन्न भूत का पति जो एकमात्र भगवान् ॥
धारणकर्त्ता दिव्य भूमि लोकान्तर जो द्युतिमान् ।
हम 'कस्मै देवाय' करें जीवन हवि से बलिदान ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवः ।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२॥
य प्राणतो निमिषतो महित्वै इन्द्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥

---

(२) (यः आत्मदा) जो आत्मदानदाता (बलदा) बलदायक (यस्य विश्वे उपासते) जिसकी सब उपासना करते हैं। (यस्य प्रशिषं) जिसके प्रकृष्ट शासन को (देवाः) देवगण, दिव्यशक्तियाँ उपासती हैं। (यस्य छाया अमृतं) जिसकी शरण छाया अमृत मोक्षदायक है, जिसकी विमुखता (यस्य मृत्युः) मृत्यु है। (कस्मै देवाय हविषा विधेम) पूर्ववत्।

(३) यः (प्राणतः निमिषतः) जो प्राणवालों और आँख झपकने वाले, [जड़-चेतन] जीवित-अजीवित (जगतः) जंगम जग का (महित्वा) महान् सामर्थ्य से (एक इन राजा बभूव) अद्वितीय राजा है। (यः अस्य द्विपदे चतुष्पदे ईशः) जो इस दोपाये चौपाये प्राणीवर्ग का भी स्वामी हैं, हम उस 'क' रूप प्रभु की भक्ति आत्महवि से विशेष करें।

---

२. वह आत्मबलदाता उसका प्रशासन विश्वदेव उपासते।
छाया अमृत अछाया मृत्यु हम हवि से अर्चें कः देव को॥
३. जो प्राणी नेत्रधारियों का जगत् की महिमा से एक राजा हुआ।
जो ईश है द्विपद चतुश्पदों का हम हवि से अर्चें कः देव को॥

---

[२]

विश्वउपासक जिसका जो दाता बल आत्मज्ञान।
विश्वदेवगण जिसके शासन का करते गुणगान॥
जिसकी छाया अमृत विमुखता जिसकी मृत्यु समान।
हम 'कस्मै देवाय' आत्महवि द्वारा करें विधान॥

[३]

प्राणवन्त जो दृगउन्मेषक जड़-जंगम संसार।
सबका अद्वितीय राजा जो महामहिम करतार॥
जो इस द्विपद-चतुष्पद जग का भी है ईश महान्।
हम 'कस्मै देवाय' आत्महवि द्वारा करें विधान॥

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः ।
यस्येमा प्रदिशा यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४॥
येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्व स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥५॥

(४) (इमे हिमवन्तः) ये हिमवान् पर्वत (यस्य महित्वा आहुः) जिसकी महत्ता को कहते हैं। (यस्य रसया सह समुद्रं) जिसकी महिमा रसवती पृथ्वी के साथ समुद्र कहते हैं (यस्य इमाः प्रदीशो यस्य बाहूः) जिसकी महत्तासूचक ये प्रदिशाएँ जिसकी बाहुवत् होकर महत्त्व दिखला रही हैं। हम 'क' रूप प्रजापति का हवि से विशेष उपक्रम करें।

(५) (येन) जिससे (उग्रा द्यौः) उग्र द्युलोक (पृथ्वी च) और पृथ्वी (दृढा) स्थिर हैं (येन स्वः स्तभितं) जिससे स्वलोक स्थिर है। (येन नाकः) जिससे मोक्ष (यः अन्तरिक्षे) जो अन्तरिक्ष में (रजसः) धूलिकणसम लोक-लोकान्तरों का (विमानः) विशेष मानयुक्त बनाने वाला है, हम 'क' रूप प्रजापति की हवि से, साधनों से भक्ति करें।

४. जिसकी महिमा कह रहें ये, हिमवान रसा समुद्र सह।
जिसकी ये प्रदिशाएँ बाहु हैं हम हवि से अर्चें कः देव को॥
५. जिससे द्यौ उग्र पृथ्वी दृढ़ा है जिससे स्वः मोक्ष धारा गया।
जो अन्तरिक्ष में लोक बनाता, हम हवि से अर्चें कः देव को॥

[४]

जिसकी महिमा का करते हैं ये हिमवन्त बखान।
कहते रहते जिसकी महिमा रसा समुद्र समान॥
यह प्रदिशाएँ जिसकी विशद भुजाओं का उपमान।
हम 'कस्मै देवाय' आत्महवि से करते सम्मान॥

[५]

जिसके द्वारा है दृढ़ पृथ्वी तथा उग्र दिवलोक।
सूर्य किया स्थिर, स्वर्ग बनाया जिसने सुखद अशोक॥

यङ्क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।
यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ६ ॥

---

(६) यं जिसको (अवसा तस्तभाने) बलपूर्वक स्थिर हुई (क्रन्दसी) आकाश और पृथ्वी (रेजमाने) प्रकाशमान (मनसा) मन से (अभि ऐक्षेताम्) साक्षात् देखती हैं (यं मनसा रेजमाने) जिसके ज्ञानमय तेज से दीप्त यह दोनों लोक (अभि ऐक्षेताम्) परस्पर देखते हैं। (यत्र) जहाँ (सूरः उदितः विभाति) सूर्य उदय होकर ऊर्ध्व आकाश में आकर चमकता है (कस्मै देवाय) अविज्ञेय अगोचर सुखरूप प्रजापति देव के लिए (हविषा) साधनों द्वारा (विधेम) [भक्ति] करें।

---

६. जिसको बलात् स्थिर भूनभ प्रदीप्त मन से साक्षात् देखते हैं।
जिससे सूर्य ऊपर चमके हम अर्चें हवि से कः देव को ॥

जिसने अन्तरिक्ष में रजस् लोक का किया वि-मान।
हम 'कस्मै देवाय' करें सविनय जीवन हविदान ॥

[६]

जिसकी क्षमता तेज सहारे पृथ्वी और आकाश।
दीपित होकर मानो मन से निरख करें सहवास ॥
जिनके द्वारा सूर्य उदित हो तनता ज्योति-वितान।
हम 'कस्मै देवाय' करे सविनय जीवन हविदान ॥

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन्गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।
ततो देवानां समवर्त्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥७॥
यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम् ।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ८ ॥

---

(७) (यत्) जिस (विश्वं) व्यापक को (ह) सर्ग पूर्व (बृहतीः आपः) बड़ी आप महत् विकृतियाँ (आयन्) प्राप्त होती हैं और (गर्भं दधानाः) हिरण्यमय गर्भ को धारती हुई (अग्निं जनयन्ति) अग्नितत्त्व को प्रकट करती हैं (ततः) तब ही वह (एकः देवानां) एकमात्र देवों (असुः) प्राणवत् जीवनदाता (सम् अवर्त्तत) विद्यमान था उस (कस्मै देवाय) अविज्ञेय, सुखस्वरूप प्रजापति के लिए हम (हविषा विधेम) साधनों से, आत्मदान से सेवा करें ।

(८) (यः चित्) और जो (महिना) अपने महान् सामर्थ्य द्वारा (दक्षम् दधानाः) दक्ष प्रज्ञानमय जगत् को धारण करती हुई (यज्ञं जनयन्तीः) सर्ग यज्ञ को उत्पन्न करती हुई (आपः) प्रकृति-प्रवाह को (परि अपश्यत्) सब ओर से देखता है (यः देवेषु अधि) जो दिव्यताओं में एक है (एकः) अद्वितीय (देवः) प्रकाशक है । (कस्मै०) पूर्ववत् ।

---

७. जिस विश्व ही को बृहती आप पातीं गर्भ धारे अग्नि को जो जने ।
वह एक ही तब देवों का प्राण था हम अर्चें हवि से कः देव को ॥
८. और जो महत्ता से दक्ष को धारे यज्ञ को जनती 'आप' को देखता ।
जो देवों में सर्वोपरि देव था हम अर्चें हवि से कः देव को ॥

---

[७]

पहले बृहती आप विकृति थी विश्वरूप के पास ।
हिरण्यगर्भ धार जब अग्नितत्त्व का हुआ प्रकाश ॥
वर्त्तमान जो अद्वितीय था तब देवों का प्राण ।
हम 'कस्मै देवाय' करें अर्पण जीवन हविदान ॥

[८]

जनती हुई सर्ग को 'आप नियति' जो रहा निहार ।
देख रहा जो निज क्षमता से सृष्टि यज्ञ-व्यापार ॥

मानो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान।
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ९॥

---

(९) (यः पृथिव्याः जनिता) जो भूमिका उत्पादक है (नः मा हिंसीत्) हमें न पीड़ित करे (यः च) और (सत्यधर्मा) सत्य धारण करने वाला है (दिवं जजान) दिव लोकों को उत्पन्न करता है (यः च) और जो (चन्द्राः) आनन्दकारक (बृहती आपः) महान् प्रकृति-विकृतियों को, प्रकृति परमाणुओं को (जजान) उत्पन्न करता है (कस्मै०) पूर्ववत् ।

---

९. जो पृथ्वी का जनिता दिव् प्रणेता सत्यधर्मा वो हमें न पीड़ा दे।
जो 'बृहती आप' चन्द्रमा सृजेता, हम अर्चें हवि से कः देव को॥

सब देवों में सर्वोपरि जो एक देव भगवान्।
हम 'कस्मै देवाय' करे जीवन अर्पण हविदान॥

[९]

जो आल्हादक चन्द्र प्रकट करता जो बृहती आप।
रहा सत्यधर्मा देवोत्पादक जो सब में व्याप॥
पृथ्वी-प्रणेता हमें न पीड़ित करे कभी भगवान्।
हम 'कस्मै देवाय' करें जीवन अर्पण हविदान॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥१०॥

॥ इति प्रजापति सूक्त ॥

---

(१०) हे (प्रजापते) सर्व प्रजा के स्वामी तथा पालक (त्वत् अन्यः) तुझसे दूसरा कोई (एतानि ताः) इन उन (विश्वा जातानि) समस्त उत्पन्न पदार्थों को (न परिबभूव) न परिव्याप्त था। (यत् कामाः ते जुहुमः) जिसके अभिलाषी होकर तेरी आहुति दे (तत् नः अस्तु) वह हमारी अभिलाषा पूर्ण हो (वयं रयीणां पतयः स्याम) हम धनैश्वर्यों के स्वामी हों।

---

१०. प्रजापते ! न तुझसे अन्य इन उन विश्वजातों को व्यापे था।
जिस कामना से तुझे हवि दें, वह हो, हम रयि-पति हों।

---

[१८]

व्याप रहे तुम जात-मात्र में सकल विश्व में देव ! ।
प्रजापते ! तुमसे न दूसरा यहाँ-वहाँ अतएव ॥
पूर्ण काम हों जिनके हित तुझे भजें भगवान् ! ।
हो जायें हम रयि वैभव के स्वामी औ' श्रीमान् ॥

॥ इति प्रजापतिसूक्त ॥

देवीसूक्त

(ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १२५)

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः। अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १ ॥

अर्थ—(१) (अहं) मैं परमेश्वरी शक्ति (रुद्रेभिः वसुभिः) दुष्टों को रुलानेवाले प्राणों और वसने योग्य लोकों के साथ (चरामि) व्यापती हूँ। (अहं आदित्यैः उत विश्वदेवैः) मैं आदित्यों और विश्वदेवों के साथ व्याप्त हूँ (मित्रावरुणौ) मित्र वरुण में (उभा) दोनों को (अहं बिभर्मि) मैं ही-भरती हूँ। (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि (अश्विना) अश्विनों को (उभा अहं) दोनों को मैं ही धारण करती हूँ।

त्रिष्टुप्

मैं रुद्रों वसुओं संग विचरती आदित्य विश्वदेवों में भी।
मैं मित्रवरुण दोनों को वि-भरती दोनों इन्द्राग्नी को भी ॥ १ ॥

देवीसूक्त भाषान्तर

[शिवा हूँ महादेवी भवानी हूँ।]

मैं ही विचरण करने वाली प्राणों में जग के जीवन में।
रुद्रों में भी वसुओं में भी मैं ही व्यापक हूँ त्रिभुवन में।
मुझसे ही दीपित आलोकित द्वादशादित्य गगनांगण में।
हैं विश्वदेवगण अनुप्राणित मेरी दिव्यता धरे तन में।
धारण-पोषण करती मैं ही तो मित्र-वरुण को क्षण-क्षण में।
मैं सर्वव्यापिनी दिव्यशक्ति द्यावापृथ्वी के कण-कण में।
दिन-रात, ब्रह्म-राजन्यशक्ति, रवि-सोमप्रभामय राजन मैं।
धारण करती इन्द्राग्नी युगल एवं अश्विन युगल सनातन मैं।
विश्वधारिणी विश्वपोषिका हूँ कल्याणी हूँ ॥ १ ॥

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् । अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ।। २ ।।

---

(२) (अहं) मैं (आहनसं सोमं) सब दुष्टों को नाश करनेवाले सोम को (बिभर्मि) धारण करती हूँ। (अहं त्वष्टारं) मैं त्वष्टा सूर्य को (उत पूषणं भगं) और पोषक ऐश्वर्य को (अहं हविष्मते) मैं हविष्मान पदार्थों वाले (यजमानाय) यजमानों को (सुप्राव्ये) सुखपूर्वक श्रेष्ठ रीति से सर्वरक्षक (सुन्वते) उपासनाशीलों को (द्रविणं) धनादि (दधामि) धारण कराती हूँ।

जगती

मैं आहनस सोम को त्वष्टा और भगपूषण को धारण करती।
मैं द्रविण हविष्मान् यजमान सुरक्षक भक्त श्रीमंत को धारती ।।२।।

मैं ही तो धारण करती हूँ दुष्टों के हन्ता शासन को।
'आहनस-सोमको' त्वष्टा को सम्पूर्ण भगों को पूषन को।
संरक्षण सुखसाधनालीन ऐश्वर्यवाम शासकगण को।
मैं यजमानों को हविष्मान को देती द्रविण तथा धन को।
समुचित उपासनाशील सौम्य भक्तों को औ' साधक जन को।
सम्यक् समृद्ध करती मैं ही समुपस्थित कर सुख-साधन को।
मुझसे ही वसुमती पोषक है मैं सरस बनाती आँगन को।
मैं ही तो करती भुवन-भास्कर कान्तिमान ज्योतिर्धन को।
मैं समग्र ऐश्वर्यशालिनी हूँ इन्द्राणी हूँ ।। २ ।।

अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरि स्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥३॥

---

(३) (अहं राष्ट्री) मैं राष्ट्रस्वामिनी (वसुनां सङ्गमनी) धन एवं लोकों को प्राप्त करानेवाली (यज्ञियानां) यज्ञों की (प्रथमा) सबसे श्रेष्ठ (चिकितुषी) ज्ञानसम्पन्ना हूँ। (तां) उसे, मुझको ही (भूरि) बहुत (स्थात्रां) विद्यमान (भूरि आवेशयन्तीं) मुझे बहुशः शक्ति प्रदान करनेवाली को ही (देवाः) देवगण, दिव्यशक्तियाँ (वि अदधुः) विशेष प्रकार से व्यक्त करते हैं, प्रकट करते हैं।

त्रिष्टुप्

मैं राष्ट्री वसुओं को मिलाती हूँ यज्ञियों में प्रथम ज्ञानवती।
मुझ बहुरूपा भूरिशक्तिदात्री को देव बहुभाँति कहें॥ ३॥

मैं ही राष्ट्री सर्वत्र तेज से सबको चमकाने वाली।
मैं राष्ट्र-स्वामिनी प्रभुता से सबको वश में लाने वाली।
यज्ञों द्वारा समुपास्य श्रेष्ठतम हूँ मानी जाने वाली।
ऐश्वर्यवान् नाना लोकों तक सम्यक् ले जाने वाली।
मैं ज्ञानवती विज्ञानवती भगवती सती शोभाशाली।
अगणित रूपों में विद्यमान मैं पहिचानी जाने वाली।
मैं ही तो नाना तत्त्वों को बहु बल को प्रकटाने वाली।
मुझको ही प्रतिपादित करते विद्वान मनीषी द्युतिशाली।
शतरूपा बहुनामा मैं हूँ गयी बखानी हूँ॥ ३॥

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् । अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥ ४ ॥

---

(४) (यः विपश्यति) जो विशेष दृष्टा है (यः प्राणिति) जो प्राण लेता है (यः ईम् उक्तम् शृणोति) जो इस कथित ज्ञान को सुनता है (स मया) वह मेरे द्वारा (अन्नं) अन्न को (मां अमन्तवः) मुझे अमान्य करते हैं वह (ते उपक्षियन्ति) नष्ट हो जाती हैं। (श्रुत) हे श्रवणशील पुरुष! तू (श्रुधि) सुन (ते) तुझे मैं (श्रद्धिवं) श्रद्धाद्वारा प्राप्तव्य को (वदामि) कहती हूँ।

विदृष्टा मुझसे अन्न भोगें जो प्राण लें जा यह युक्ति सुनें।
जो मुझे न माने वह नष्ट हो श्रुत! सुन मैं तुझे सत्य कहती हूँ ॥४॥

जो विविध तत्त्व-दर्शन करते जो प्राणवन्त हैं जन-चेतन।
जो सुनते-गुनते हैं मेरे उपदिष्ट ज्ञान उत्कृष्ट वचन।
वह मम प्रदत्त अन्नाद ज्ञान उपजीवी पाते नव जीवन।
जो अज्ञ न मुझको जान सकें वह भी रत हैं मम समुपासन।
वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं जो मेरी तजते मर्त्य शरण।
अतएव श्रवण कर श्रद्धा से हे श्रवणशील श्रद्धेय वचन।
मैं सत्य ज्ञान का तव हितार्थ करती हूँ सदुपदेश प्रवचन।
मेरे सारस्वत अजर अमर का करले तू जन आस्वादन।
मैं कहती हूँ भव-हितार्थ कल्याणी वाणी हूँ ॥ ४ ॥

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ५ ॥
अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्त वा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आविवेश ॥ ६ ॥

(५) (अहं एव) मैं ही तो (इदं स्वयं वदामि) यह स्वयं उपदेश करती हूँ जिसको (देवेभिः उत मानुषेभिः) देवगण और मानव लोग (जुष्टं) प्रेम से सुनते-गुनते हैं। (यं कामये) जिसे चाहती हूँ (तं तं) उस उसको (उग्रं) उग्र (कृणोमि) करती हूँ। (तं ब्रह्माणं कृणोमि) उसे ही ब्रह्मा करती हूँ। (तं ऋषिं) उसी को ऋषि (तं सुमेधां) उसे ही सुन्दर मेधावान् करती हूँ।

(६) (अह) मैं (रुद्राय धनुः) रुद्र क्षत्रिय के लिए धनुष् (आतनोमि) भली प्रकार तानती हूँ। (ब्रह्मद्विषः) ब्राह्मण द्वेषी को (हन्तवे) मारने को। (अहं जनाय समदं कृणोमि) मैं लोगों के लिए हर्षयुक्त करती हूँ। (अहं द्यावापृथिवी आविवेश) मैं भूमि-आकाश दोनों में प्रविष्ट हूँ।

त्रिष्टुप्

मैं ही स्वयं कहती हूँ एकाग्र जो सुनाजाता देवों-मानुषों से।
जिसे चाहूँ उसे-उसे ही उग्र ब्रह्मा उसे ऋषि सुमेधा करूँ ॥ ५ ॥
मैं रुद्र को धनु तानती सदा ब्रह्मद्वेषी शत्रुनाश के लिए।
मैं जनों को समद करती हूँ मैं द्यावापृथ्वी में व्यापती सदा ॥ ६ ॥

मैं ही तो करती हूँ केवल उपदेश जिसे कर सम्पादन।
हो जाते अमर देव मानव सम्यक् कर श्रवण-मनन-चिन्तन।
मैं जिस-जिसको चाहूँ वर दूँ कर दूँ उस उसको उग्र सुजन।
ब्रह्मा कर दूँ मैं ऋषि कर दूँ सुन्दर मेधावी कर तत्क्षण ॥ ५ ॥
मैं ब्रह्मज्ञानद्वेषी हिंसक के नाश हेतु रुद्राणी बन।
रुद्रों के लिए तानती रहती धनुष प्रखर क्षत्राणी बन।
मैं ही तो करती जन-हितार्थ मादक मदनोत्सव मनभावन।
द्यावापृथ्वी में रचती हूँ मैं हर्षोल्लास विनाशक रण।
असुर दैत्य मैं दुरित ध्वान्त हरती रुद्राणी हूँ ॥ ६ ॥

अहं सुवे पितरस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे। ततो वितिष्ठे भुवनानि विश्वो तामूं द्यां वर्ष्मणोपस्पृशामि ॥ ७ ॥

अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा। परो दिवा पर एना पृथिव्यै तावती महिना सम्बभूव ॥ ८ ॥

---

(७) (अहं अस्य मूर्धनि) मैं इस जग के शीर्षस्थानी (अस्य पितरं) इसके पालक सूर्य को (सुवे) उत्पन्न करती हूँ, प्रेरित करती हूँ। (अप्सु समुद्रे) जल सागर में, अन्तरिक्ष आकाश में (मम योनिः) मेरा निवास है (ततः विश्वा भुवनानि वितिष्ठे) विश्व भुवनों में विशेषतः स्थित हूँ। (वर्ष्मणा द्यां उपस्पृशामि) सुखवर्षक रूपसे दिवलोक को प्राप्त हूँ।

(८) (अहं एव वात इव प्रवामि) मैं ही वायुवत् सर्वत्र गमनशील हूँ (विश्वा भुवनानि आरभमाणा) मैं सर्व भुवनों को निर्माण करती हुई (दिवा परः) दिव्यलोक से परे (एना पृथिव्या परः) इस पृथिवी से भी परे (एतावती संबभूव) इस महान विश्व में (महिना) अपनी महिमा से प्रकट होती हूँ।

मैं प्रेरूँ जगत शीर्षस्थ पिता की आप समुद्र है मम योनि।
विश्वभुवनों में विशेष स्थित सुखवर्षक दिव् को प्राप्त हूँ ॥ ७ ॥
मैं ही वातवत् सर्वत्र गमनशीला विश्व भुवन रच कर।
दिव् से परे पृथ्वी से भी परे इसमें महिमा से प्रकटती ॥ ८ ॥

मैं उसकी भी प्रेरिका प्रसविनी जो जग का मूर्धन्य पितर।
इस अन्तरिक्ष में आपमध्य आकाशमध्य मम योनि अमर।
सुख-वृष्टि सृष्टिरत दिव्यलोक संस्पर्शित और प्रवर्तित कर।
मैं विश्व भुवन में सुप्रतिष्ठित सुखवर्षक आकर्षक सुन्दर ॥ ७ ॥
मैं वाततुल्य हूँ प्रवहमान सर्वत्र गमन करने वाली।
मैं विश्वभुवन को निर्मित कर सर्वत्र रमण करने वाली।
द्यावापृथ्वी औ' परे इतर ब्रह्माण्ड सृजन करने वाली।
एवं अनन्त सामर्थ्य-शक्ति से संचालन करने वाली।
परमेश्वरी शक्ति मैं ही ते केवल प्राणी हूँ ॥ ८ ॥

॥ इति देवीसूक्त ॥

नासदीय सूक्त

(ऋ० म० १०-१२९ सूक्त)

**नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥१॥**

अर्थ—(तदानीं) उस समय, सृष्टि से पूर्व (न असत् आसीत्) न तो असत् था (नो सत् आसीत्) और न सत् था । (न रजः आसीत्) लोक-लोकान्तर न था (नो व्योम) और न परम आकाश । (यत् परः) जो उससे परे है वह भी न था । (किं आ अवरीवः) क्या चारों ओर से घेर सकता था । (कुह) कहाँ था (कस्य शर्मन्) किसके आश्रय में था । किम् गहनं गभीरं अम्भ आसीत्) कोई अतर्क्य गहन गंभीर नाम का तुच्छ तत्व विद्यमान था ॥१॥

त्रिष्टुप् छन्द

उस काल न सत् था न असत् था न रजस् न परे व्योम ही था ।
क्या घेरता कहाँ किसके आश्रय कोई गहन गभीर अम्भस् था ॥१॥

शार्दूलविक्रीडित (राजगीत)

देवी पूज्य सरस्वती भगवती ज्योतिष्मती शारदे !
मेधावी कर दीजिये सुमति दे संसार से तार दे !
कल्याणी सुखकारिणी शिवकरी मातः उमे शंकरी !
मेरे जीवनमध्य सर्वदिशि में कल्याण विस्तार दे ॥

श्री लक्ष्मी परमेश्वरी सुखकरी ऐश्वर्यविस्तारिणी ।
पुण्या श्री शुभ लक्षणे ! शुभ हमें ऐश्वर्य आधार दे ।
कीजे शं भुवनेश्वरी सुखप्रदे मातेश्वरी शर्म दे ।
होवें सर्वसुखी निरामय सदा दुखादि को टार दे ॥

(समानान्तर)

हे दुर्गे विश्वधात्री जननि भगवती हे शिवे हे भवानी ।
आर्ये कल्याणि वाणी भवभयहरणी चण्डि त्रैलोक्य रानी ।
पाके भी हाय माता हम तुमसी ईश्वरी शक्तिशाली ।
होंगे संसार में क्या न अब फिर सुखी तोड़ दुःखार्त्ति जाली ॥

—मैथिलीशरण गुप्त

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास ॥२॥

(न मृत्युः आसीत्) मृत्यु भी न थी (तर्हि न अमृतं) और अमृत भी नहीं था। न जीवन-सत्ता न जीवन-नाश ही था। (न रात्र्याः प्रकेतः आसीत्) न रात्रि का ज्ञान था (न अह्न) न दिन का ही। उस तत्त्व का स्वरूप (आनीत्) प्राणशक्ति रूप था (अवातं) वायुमुक्त था। (तत् एकं) वह एक (स्वधया) स्वधा से, स्वधारण शक्ति से युक्त था। (तस्मात् अन्यत् किंचन परः न आस) उससे दूसरा पदार्थ कुछ भी उससे सूक्ष्मतर न था ॥२॥

त्रिष्टुप् छन्द

न मृत्यु थी न अमृत न तव रात्रि का न दिन का ज्ञान था।
अवात प्राण व एक स्वधा से, उससे परे अन्य कुछ न था ॥२॥

पद्यात्मक भाषान्तर

[१]

था असत नहीं सत भी कहीं था वर्त्तमान,
उस समय सृष्टि से पूर्व महान प्रयल के क्षण।
था अन्तरिक्ष भी नहीं न थे रजकण के सम,
बिखरे नक्षत्र लोकलोकान्तर तारकगण ॥
परमाणु नहीं थे सत्ता थी न विराट व्योम,
हाँ व्योम (वि ओम् विशेष सुरक्षक परिधि कहीं)।
क्या गहन गभीर अम्भ सम्भव था भोग्य योग्य,
ऐसी स्थिति में किसके सुख-शान्ति निमित्त कहीं ॥
किसको आच्छादित किया जाय घेरे किसको,
आच्छादन कोई था न क्षितिजतट था न कहीं।
आच्छादित करने योग्य न था कोई प्रदेश,
तब तक न तना था व्यापक व्योम वितान कहीं ॥

[२]

थी मृत्यु नहीं उस समय कहीं था अमृत नहीं,
थी रात-दिवस की हुई जान-पहचान नहीं।

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥३॥

(अग्रे) सर्गारम्भ से पूर्व (तमः आसीत्) तमस् था (तमसा गूढं) तमस् से व्याप्त था (अप्रकेतं) अविज्ञेय (सलिलं) सलिल व्यापक गतिमान् पदार्थ था (सर्वं इदं आ) इस सब को घेरे (यत्) जो था (तुच्छ्येन) तुच्छ रूप (आभु अपिहितं) आभु तुच्छ तत्व से ढका हुआ था (तत् तपसः महिना) वह तपस् के महान् सामर्थ्य से (एकं अजायत) एक हुआ ॥३॥

अग्रमें तम था तमस् से गूढ़, अविज्ञेय सलिल उसे व्यापे ।
जो तुच्छ से आभु आच्छादित था, वह तप महिमा से एक हुआ ॥३॥

था परम तत्त्व प्राणरूप चेतन तथापि,
बस परे अन्य उससे कुछ भी तो था न कहीं ॥

वह परम तत्त्व था प्राणरूप चेतन तथापि,
सच्चिदानंद वह प्राणवायु सापेक्षन था ।
वह अपनी धारण-शक्ति महान् स्वधा द्वारा,
था सहज सजग चेतन जीवन आधार तथा ॥

[३]

अग्र में गूढ़ तमसावृत था बस तमस् रूप,
सब अविज्ञेय सा एकीभूत सलिल के सम ।
जो महत्तत्व के रूप महान् तपस् द्वारा,
था आभु तुच्छ अव्यक्त हुआ जो प्रकट प्रथम ॥

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषी ॥४॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी दुपरि स्विदासीत् ।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयति परस्तात् ॥५॥

(अग्रे) अग्र में (तत्) वह (मनसः अधि) मन से उत्पन्न (कामः) कामना (समवर्त्तत) सर्वत्र थी। (यत् प्रथमं रेतः आसीत्) जो प्रथम वीर्यवत् थी (कवयः) क्रान्तदर्शी पुरुष ने (हृदि प्रति इष्य) हृदय में पुनः पुनः विचार कर (असति सतः बन्धम्) असत् में, अप्रकट में प्रकट को बांधने वाला बल (निर् अविन्दन्) प्राप्त किया ॥ ४ ॥

(एषां) इन असत् अम्भस् सलिल काम रेतस् सत् का (रश्मिः) किरणतुल्य (तिरः चित् विततः) बहुत दूर दूर तक विलम था। (अधः स्वित् आसीत्) नीचे भी था। (उपरि स्वित् आसीत्) ऊपर भी था। (रेतोधा) उक्त वीर्यतत्व धारक तत्व थे (महिमानः आसन्) महान् शक्ति-सम्पन्न थे (अवस्तात् स्वधा) नीचे स्वधा (परस्तात् प्रयति) उससे परे ऊपर प्रकृष्ट चल आश्रय रूप था ॥ ५ ॥

अग्र में सर्वत्र काम था मन से जात वो जो प्रथम रेत था।
कवि-हृदयों में प्रति विचार के असत् से सत् बंधक पा गये ॥४॥
इनकी रश्मि दूर-दूर तक व्याप्त थी नीचे थी ऊपर भी थी।
रेतोधा थे महिमान् थे नीचे, स्वधा उससे परे प्रयति था ॥५॥

---

[४]

सर्ग से पूर्व में था नव कामभाव मनिसज,
वह सर्वप्रथम सृष्टि का बीजवत् था कारण।
हृदयस्थ किये जिसको सत् असत् हेतु-बधन,
स्वमनीषा से हो गये तत्त्वदर्शी कविगण ॥

[५]

थे अगणित काम-बीज के धारक रेतोधा,
इनकी बंधन की रज्जु-रश्मि थी प्रसरित अति।
थी निम्नगामिनी भी ये ऊर्ध्वगामिनी भी,
थी इतर भाग में स्वधा भाग पश्चात् प्रयति ॥

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथ को वेद यत आबभूव ॥६॥

(अद्धा को वेद) ठीक-ठीक कौन जान सकता है (इह कः प्रवोचत) यहाँ कौन इस विषय में प्रवचन कर सकता है। (कुतः आ जाता) कहाँ से प्रकट हुई। (इयं विसृष्टिः) यह विविध सृष्टि (कुतः) किस मूल कारण से, कहाँ से हुई (देवाः) देवगण (अस्य विसर्जनेन) इसके विविध सृजन से (अर्वाक्) पीछे हैं (अथ कः वेद) अब कौन उस तत्त्व को जानता है (यतः) जिससे जगत् (आबभूव) चतुर्दिशि प्रकट हुआ ॥ ६ ॥

कौन जाने कौन कहे कहाँ से यह विसृष्टि आई कैसे हुई।
वि-सृष्टि के बाद देव हुए अब कौन जाने जिससे जगत् हुआ ॥६॥

पूर्व में असंख्य जीव आत्मा थे वर्त्तमान्,
इनके बन्धन गुण पूर्वजन्मकृत संस्कार।
फैले थे विस्तृत दूर-दूर तक जिनका था,
नीची एवं उत्कृष्ट योनियों तक प्रसार॥
बनते तन कारागार कि जिनका पूर्वद्वार,
है स्वधा स्वयं को धरना तन अंदर सकाम।
इनके पीछे का छोर द्वार जिनके द्वारा,
करते प्रयाण जीवात्मागण है मरण नाम॥

[६]

है कौन इसे जानता यथावत् पूर्णतया,
है कौन तत्त्वतः कर सकता इसका प्रवचन।
यह विविध सृष्टि किस भाँति तथा किस हेतु सृजी,
किस भाँति हुआ जीवन से पहले विविध सृजन॥
इस विविध सर्जना के पीछे उत्पन्न हुए,
सम्पूर्ण मनीषी तत्त्वज्ञानी विश्वदेव।
पुनरपि है कौन जान सकता वस्तुतः उसे,
जिस उपादन कारण से जग था अतः एव॥

इयं विसृष्टि यत आवभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥७॥

(इयं) यह (विसृष्टिः) विविधा सृष्टि (यतः आवभूव) जिससे चतुर्धा प्रकट हुई (यदि वा दधे) जो इसको धारण कर रहा है। (यदि वा न) जो चाहे धारण न करे (यः अस्य अध्यक्षः) जो इसका अध्यक्ष है (परमे व्योमन्) परम पद में विद्यमान है (स अङ्ग वेद) वह विद्वन! इस तत्त्व को जानता है (यदि वा न वेद) चाहे वह भी न जाने। या अन्य कोई न भी जाने ॥ ७ ॥

यह विसृष्टि जिससे हुई बंधु! वह धारे या न धारे।
जो इसका अध्यक्ष परम व्योम में वही जाने या न जाने ॥७॥

[७]

यह विविध सृष्टि जिस मूल तत्त्व से प्रकट हुई,
इसका प्रभु है अध्यक्ष परमपद विद्यमान।
प्रिय बंधु वही इसको धारे या संहारे,
वह इसको चाहे रखे ज्ञानगत रख या न॥

[वह एकमात्र इस पूर्व का ज्ञाता है,
जो परम व्योमवत् व्याप्त सकल जग का आलय।
जिसके सामर्थ्य मध्य तब भी करता निवास,
सोया-सोया सा जग जब होती पूर्ण प्रलय॥

हे मेरे प्यारे जीव! उसी को पहचानो,
जो रखे व्योमवत् अन्तर्गत सब सृष्टि-प्रलय।
अध्यक्ष वही संरक्षक उसकी शरण गहो,
जो है त्रिकालदर्शी विज्ञानी निःसंशय॥]

॥ इति नासदीय सूक्त ॥

श्रद्धासूक्त

(म० १० सूक्त १५१)

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धा भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥ १ ॥

अर्थ—(१) (श्रद्धया) श्रद्धा से (अग्निः समिद्धयते) अग्नि को प्रदीप्त किया जाता है। श्रद्धा से ज्योतिर्मय प्रभु की उपासना की जाती है। (श्रद्धया हविः हूयते) श्रद्धा से हव्य आहूत किया जाता है। (श्रद्धा भगस्य मूर्धनि) श्रद्धा धन से उत्तम है (वचसा वेदयामसि) हम वचन से यह घोषित करें।

अनुष्टुप् छन्द

श्रद्धा से अग्नि प्रदीप्त हो, श्रद्धा से हवि होमते।
श्रद्धा भग मूर्धास्थानी, वचनों से प्रकाशते ॥ १ ॥

भाषान्तर

श्रद्धा से ही समिधायें यज्ञाग्नि प्रज्वलित होती।
श्रद्धा से डाली हवि ही अध्वर में शोभित होती ॥
मूर्धन्य करें हम भग के सेव्यों के श्रद्धा देवी।
हों वेदवाणियों से हम जीवन में श्रद्धा-सेवी ॥ १ ॥

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः ।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥ २ ॥

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे ।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि ॥ ३ ॥

---

(२) हे (श्रद्धे!) तू (मे इदं उदितं) मेरे इस वचन को (ददतः प्रियं कृधि) दानशील को प्रिय कर। (दिदासतः प्रियं कृधि) दानेच्छु को भी मेरा वचन प्रिय लगा (भोजेषु) भोजों में (यज्वसु) दान यजनशीलों में भी (प्रियं कृधि) प्रिय करो।

(३) (यथा) जैसे (देवाः) देवगण (उग्रेषु) उग्र (असुरेषु) बलवान् पर (श्रद्धां) श्रद्धा को (चक्रिरे) कर लेते हैं। (भोजेषु यज्वसु) सर्वपालक दानशीलों में (अस्माकं उदितं) हमारा वचन और उदय भी श्रद्धास्पद बना।

प्रिय श्रद्धे! दाता का श्रद्धे प्रिय दानेच्छु का।
प्रिय भोजों के यज्वों में य' मम उदित को कर ॥ २ ॥

देव ज्यों उग्र असुरों में श्रद्धा को करते हैं।
त्यों भोजयज्वों में हमारे उदित को करो ॥ ३ ॥

श्रद्धे! दाताओं को प्रिय दानेच्छुक को प्रिय कर दे।
उत्कर्ष वचन यह मेरा प्रतिपालक को प्रिय कर दे ॥
जनपोषक यजनशील में औ' दानशील पुरुषों में।
श्रद्धे! यह उदित वचन मम प्रिय कर सुशील पुरुषों में ॥ २ ॥

ज्यों देव उग्र असुरों पर जय पाते श्रद्धा द्वारा।
पालकों यजनशीलों में त्यों ही उत्कर्ष हमारा ॥ ३ ॥

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते ।
श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥ ४ ॥
श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि ।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥ ५ ॥

---

(४) (देवाः) देवगण (वायुगोपाः) वायुवत् बलवान् पुरुष को रक्षक मानने वाले (यजमानाः) यज्ञकर्त्ता जन (श्रद्धां उपासते) श्रद्धा की उपासना करते हैं (हृदय्यया आकूत्या) हृदयगत संकल्प से ही (श्रद्धां उपासते) श्रद्धा की उपासना करते हैं (श्रद्धया वसु विन्दते) श्रद्धा से धन प्राप्त करते हैं।

(५) हम (प्रातः श्रद्धां हवामहे) प्रात में श्रद्धा की प्रार्थना करते हैं (मध्यंदिनं परि श्रद्धां हवामहे) मध्याह्न वेला में उसे श्रद्धास्वरूप का ध्यान करते हैं (सूर्यस्य निम्रुचि) सूर्यास्त में भी श्रद्धा की प्रार्थना करते हैं (हे श्रद्धे!) तू (नः इह श्रद्धापय) हमें यहाँ श्रद्धा को धारण करा।

यजमान वायुगोपा देव श्रद्धा उपासते।
श्रद्धा हृदय भावों से श्रद्धा से वसु प्राप्त हों ॥ ४ ॥
श्रद्धा को प्रात में ध्याते श्रद्धा को ही मध्याह्न में।
श्रद्धा को सूर्यास्त में श्रद्धे! यहाँ श्रद्धा दिला ॥ ५ ॥

राजन्य वायुवत् जन से रक्षित पोषित वर्चस्वी।
करते सब श्रद्धोपासन यजमान देव तेजस्वी ॥
वह करते संकल्पों से हृदयों के श्रद्धोपासन।
एवं श्रद्धा से पाते जीवन में सुखसाधन धन ॥ ४ ॥
हम करें प्रार्थना प्रातः श्रद्धा की सत्यवती की।
मध्याह्नकाल में भी हम प्रार्थना करें उस ही की ॥
जीवन रवि सांध्य समय में भी हों हम श्रद्धासेवी।
हमको कर दो श्रद्धामय सत्यव्रत श्रद्धादेवी ॥ ५ ॥

॥ इति श्रद्धासूक्त ॥

अघमर्षणसूक्त

(मण्डल १० सूक्त १९०)

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१॥

अर्थ—(अभि इद्धात्) सब ओर से दीप्त (तपसः) तप द्वारा (ऋतं च सत्यं च अजायत) ऋत और सत्य प्रकट हुआ। (ततः रात्री अजायत) उससे प्रलय-रात्रि हुई (ततः अर्णवः समुद्रः) उसी से जल से युक्त महान् समुद्र और आकाश प्रकट हुआ ॥ १ ॥

अनुष्टुप् छन्द

प्रदीप्त तप से ऋत औ' सत्य पूर्ववत् हुए।
उससे रात्रि हुई फिर समुद्र अर्णव ॥ १ ॥

राजगीत

सामर्थ्य निज अतुल से तप बल अनन्त द्वारा।
विरचित किया तुम्हीं ने तपरूप! विश्व सारा ॥
उससे हुए प्रकाशित ऋत और सत्य भी तो।
जो 'तप' जगत् प्रकाशित सामर्थ्य है तुम्हारा ॥ १ ॥

समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥२॥

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥३॥

(अर्णवात् समुद्रात्) अर्णव समुद्र से (अधि संवत्सरः अजायत) पूर्ववत् संवत्सर प्रकट हुआ (विश्वस्य मिषतः) विश्व के सहजस्वभाव से (वशी) स्वामी, वश में रखने वाला (अहः रात्राणि विदधत्) दिन-रात्रियों को भी बनाता है । ॥ २ ॥

(सूर्यचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्रमा दोनों को, (दिवं च पृथ्वीं च) आकाश और पृथ्वी (अन्तरीक्षं अथ स्वः) अन्तरिक्ष और स्वरलोक (धाता यथा पूर्वं अकल्पयत्) विश्वविधाता ने ठीक पूर्ववत् बनाये ॥ ३ ॥

समुद्रार्णव से यथापूर्व संवत्सर हुआ ।
अहोरात्रियाँ रचीं प्रकट विश्ववशी ॥ २ ॥

धाता ने सूर्य-चन्द्रमा यथापूर्व ही बनाये ।
दिव औ' पृथ्वी अन्तरिक्ष स्वर तथा ॥ ३ ॥

प्रलयान्त ब्रह्म रजनी प्रकटित हुई उसी से ।
एवं सृजा उसी से अर्णव समुद्र खारा ॥
अर्णव समुद्र पीछे की विश्व-काल रचना ।
दिन-रात और जग का पल क्षण मुहूर्त न्यारा ॥ २ ॥
सबके वशी तुम्हीं ने स्वामी जगत विधातः !
निज सहज प्रकृति से ही यह सब रचा पसारा ॥
दिव अन्तरिक्ष पृथ्वी स्वर सूर्य-चन्द्रमा को ।
सब पूर्व कल्पवत् ही उस कल्पमध्य धारा ॥ ३ ॥

॥ इति अघमर्षण सूक्त ॥

संगठन-सूक्त

(मण्डल १० सूक्त १९१)

सं समिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ । इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्याभर ॥ १ ॥

अर्थ—(१) हे (वृषन्) सुखवर्षक बलवान् (अग्ने) ज्ञानस्वरूप तुम (अर्यः) स्वामी होकर (विश्वानि सं युवसे) विश्वतत्त्वों को संयुक्त करते हो। (इडः पदे) भूमि, वाणीपद में (समिध्यसे) प्रकाशित होते हो। (सः) वह तू (नः) हमको (वसूनि) धनैश्वर्य लोकों को (आभर) प्राप्त करा।

अनुष्टुप् छन्द

वर्षकाग्ने विश्वों को करे संयुक्त अर्यत इडा-पद में दीप्त तू हमें वसुओं को दिला ॥ १ ॥

गीतिका

१

वृषन बलवान सुखवर्षक परम आनंदमय भगवन, तुम्हीं अग्ने प्रकाशक विश्व के आलोक ज्योतिर्घन। मिलाते हो तुम्हीं सम्यक् सुसं-गत विश्वतत्त्वों को, तुम्ही हो अर्यमा करते सकल ब्रह्माड का सर्जन॥ कि जैसे भूमि पर पावक कि तन में आत्मा जैसे, प्रकाशित वाक् के पद में जगत में आप त्यों राजन! विपुल ऐश्वर्य पुष्कल द्रवधन सम्पत्ति दो हमको, कराओ प्राप्त वसुओं को वसोष्पति विश्व जीवनधन॥

सङ्गच्छध्वं सं वदध्वं मनांसि जानताम् । देवा भागं यथापूर्वे सञ्जानाना उपासते ॥ २ ॥

---

(२) हे मनुष्यो ! तुम (सं गच्छध्वम्) मिलकर चलो (सं वदध्वं) परस्पर मिलकर अविरुद्ध वचन बोलो (वः मनांसि) तुम्हारे मन (संजानताम्) एक समान ज्ञान प्राप्त करें । (यथा पूर्वे देवाः) जैसे पूर्व के विद्वान लोग (भागं) सेव्यभाग को, सेव्य प्रभु का (जानानाः) ज्ञान अर्जन करते हुए (सं उपासते) सम्यक् उपासना करते रहें तथैव तुम भी ज्ञानसम्पन्न हो अन्न सेव्य प्रभुका सेवन-उपासन करो ।

संग चलो मिल बोलो तब मन समज्ञानी हो, पूर्व-देव ज्यों ज्ञान पा समभाग उपासते ॥ २ ॥

२

चलो मिलकर परस्पर प्रेम से बोलो विचारो सब; सभी के एक होंवे आचरण चिन्तन मनन भाषण । कि जैसे पूर्व जन करते रहे कर ज्ञान का अर्जन, करो तुम एक हो मिलकर परस्पर ज्ञान-संपादन ॥ करो तुम सेव्य भागों का सुसेवन ईश समुपासन, सदा करते रहे जैसे तुम्हारे पूर्वजन्मा जन ॥

समानोमन्त्रः समितिः समानी समानं मनःसह चित्तमेषाम् । समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि । ३ ॥

समानीव आकूतिः समाना हृदयानिवः । समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ४ ॥

---

(३) (एषां मंत्रः समानः) इनका विचार समान हो (समितिः समानी) सभाएँ एकमत हों, संगति-मेल भी समान हो। (मनः समानम्) अन्तःकरण समान हो (एषां चित्तं सह) इनका चित्त परस्पर साथ हो (वः समानं मत्रं अभिमन्त्रये) तुमको मैं समान विचार से विचारवान् करता हूँ। (वः समानेन हविषा जुहोमि) मैं तुम्हें समान हव्य से यजन करता हूँ।

(४) (वः आकूतिः समानी अस्तु) तुम्हारे संकल्पभाव एक से हों (वः हृदयानि समाना) तुम्हारे हृदय समान हों (वः मनः समानं अस्तु) तुम्हारे मन सम हों (यथा) जिससे (वः) तुम्हारा (सह सु असति) साथ सुखद-श्रेष्ठ-सम्यक् होवे।

समान मंत्र समान समिति हो समान मन चित्त सम हो।
समान मंत्र अभिमंत्रित किए तुम्हें मैं सम हवि होमता ॥३॥
समान हों आकूति सम हृदय तुम्हारे।
समान मन हो तुम्हें, जिससे सुसह होवे ॥ ४ ॥

३

सभी के एक हों सुविचार अविरोधी मन न होवे, समिति संगति परस्पर एक ही हो जन्य संमेलन। सभी के एक होवे मन परस्पर चित्त भी सम हो, कि करता मैं सभी को एक से सुविचार से शोभन॥ तुम्हारा भोग्य अन्नों से यथावत् हव्य द्वारा मैं, किया करता सभी का एकसा ही नित भरण-पोषण ॥

४

तुम्हारा एक हो संकल्प सम होवे हृदय मन भी। कि जिससे तुम सभी के ही सुसंगत कार्य जाएँ बन।

॥ इति ऋग्वेदीय अन्तिम सूक्त ॥

यजुर्वेदीय सूक्त (अध्याय)

३१ वाँ अध्याय (पुरुषसूक्त)

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिꣳ सर्वत स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥

अर्थ—(१) (पुरुषः) ब्रह्माण्डपुर में व्याप्त परमात्मा (सहस्रशीर्षा) असंख्य शीर्षवाला (सहस्राक्षः) असंख्य नेत्र (सहस्रपात्) असंख्य चरणों वाला है । (सः सर्वतः) वह सब ओर से (भूमिं) भूमिं को (स्पृत्वा) व्याप्त करके (दशाङ्गुलम्) दश अँगुल को (अति अतिष्ठत्) प्रकृति का अतिक्रमण करके स्थित हो गया है । अर्थात् दशों इन्द्रियों से अतीत है ।

अनुष्टुप् छन्द

सहस्रशीर्ष सहस्राक्ष सहस्रपात् पुरुष है ।
भूमि सर्वतः व्यापे दशाङ्गुल अति स्थिर है ॥ १ ॥

आनन्दीलय

जो सहस्रशीर्षा सहस्राक्ष और सहस्र चरण बताया है ।
सब ओर विराट भुवनपुर में जो पूरण पुरुष समाया है ॥
परिव्याप्त भूमि, पुरमध्य प्रतिष्ठित ऊर्ध्व दशांगुल अन्तर पर ।
जो स्थल सूक्ष्म भूताङ्ग दशदिशा ओत-प्रोत भीतर-बाहर ॥
है व्याप्त जीव-मन-बुद्धि-चित्त में अहंकार में मध्य प्राण ।
या हृदयदेश आसीन नाभि से दश अँगुल जिसका प्रमाण ॥१॥

पुरुष ऽएवेदथंसर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥
एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥ ३ ॥

---

(२) (पुरुषः एव इदं सर्वं) पुरुष ही यह सब है (यत् भूतं) जो उत्पन्न (यत् च) और जो (भाव्यं) होगा (उत) और (यत् अन्नेन) अन्न से (अतिरोहति) अत्यन्त बढ़ता है जो ((इदं) इस (सर्वं) सब जगत् का (अमृतत्वस्य) अमृतता मोक्ष का (ईशानः) अधिष्ठाता है ।

(३) (अस्य महिमा एतावान्) इस जगत् की महत्ता इतनी है (पूरुषः) सर्वव्यात प्रभु (अतः ज्यायान्) इससे बड़ा है (विश्वाभूतानि) सर्वभूत (पादः) एक चरणवत् है (अस्य त्रिपात्) इसके तीन चरण (दिवि) प्रकाशरूप में (अमृतं) अमृत है ।

पुरुष ही इस जगत् जो हुआ औ' जो होगा ।
औ' अमृतता स्वामी जो अन्न से सर्वोपरि है ॥ २ ॥
ये उसकी महिमा जगत् वो इससे अधिक।
पाद इसका विश्वभूत, त्रिपाद् ऊर्ध्व दिव में ॥ ३ ॥

जो भूत भविष्यत् वर्त्तमान का अमृततत्त्व का स्वामी है ।
जो शस्य भोग्य से विकसित जङ्गम जग का अधिपति नामी है ॥ २ ॥
यह इतना स्थूल सूक्ष्म विश्व उसकी साक्षात् महत्ता है ।
इतनी ही नहीं महत्ता सत्ता उसकी रहित इयत्ता है ॥
उस परम पुरुष के अवयव का है एक चरण यह सकल भुवन ।
सच्चिदानन्द अमृत-प्रकाश से उसके तीन चरण शोभन ॥ ३ ॥

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादो ऽस्येहाभवत्पुनः ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने ऽअभि ॥ ४ ॥
ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ।
सजातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥

---

(४) (त्रिपात्) उक्त तीन चरण अमृतवाला (पुरुषः) पुरुष प्रभु (ऊर्ध्वः) सर्वोपरि (उत् ऐत्) उदय को प्राप्त होता है। (अस्य पादः) इसका एक चरणवत् (इह पुनः अभवत्) यहाँ जगत् रूप बार-बार होता है। (ततः) तब (विश्वङ्) सर्वत्र प्राप्त होता हुआ (वि अक्रामत्) विशेष व्याप्त है (स अशन अनशने) भोजन करने न करने वालों में।

(५) (ततः) उससे (विराट्) विविध पदार्थों से प्रकाशित ब्रह्माण्ड (अजायत) हुआ। विराट के ऊपर वह पूर्ण पुरुष है वह पुरुष (पुरः जातः) प्रथम प्रसिद्ध हुआ (अति अरिच्यत) जगत् से अतिरिक्त होता है (पश्चात्) पीछे (भूमिं) पृथ्वी को उत्पन्न करता करता है। (अथ पुरः) बाद में शरीर।

त्रिपात् ऊर्ध्व उदित ये पाद् जगत् होता पुनः।
चेतन जड़ को व्यापे सर्वत्र प्राप्त हो रहा ॥ ४ ॥
उसीसे विराट् प्रकटा, विराट् से वह ऊर्ध्व है।
वह जगत् से अतिरिक्त पीछे भूमि फिर तनु ॥ ५ ॥

वह त्रिपाद् ऊर्ध्व विराजमान उसके अन्तर्गत जड़-चेतन।
उसके इस एक चरण जग का ही होता पुनः सृजन-विलयन ॥ ४ ॥
उससे विराट् उत्पन्न हुआ वह इससे ऊर्ध्व अधिष्ठित है।
वह है विराट् से भिन्न पुरुष पर इसमें पूर्ण प्रतिष्ठित है ॥
उसने भूमंडल सृजन किया फिर निखिल पुरों का किया सृजन।
उत्पन्न जगत् से पृथक् पुरुष करता सबका नियमन धारण ॥ ५ ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् ।
पशुँस्ताँश्चक्रे वायव्या नारण्या ग्राम्याश्च ये ॥ ६ ॥
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दा ँ ्सि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ७ ॥

---

(६) (तस्मात् यज्ञात्) उस पूज्य (सर्वहुतः) सर्वहुत को ग्रहण करने वाले से सब (पृषदाज्यम्) दधिघृतादि (संभृतं) सम्यक् सिद्ध हुई (ये अरण्याः) जो बनैले (ग्राम्याः) पालतू पशु हैं (तान्) उन (वायव्याम्) वायुतुल्य गुणों वाले पक्षी (पशून्) पशुओं को जो (चक्रे) उत्पन्न करता है ।

(७) (तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतो) उस सर्वप्रणेता यजनीय से ऋक्साम, छन्द उत्पन्न हुए (तस्माद्यजुः) उससे यजु (जायत) हुआ ।

उस सर्वहुत यज्ञ से पृषदाज्य सिद्ध हुए ।
ग्राम्य आरण्य पशुओं को वायव्यों को किया ॥ ६ ॥
सर्वहुत यज्ञ द्वारा ऋचा सामगण हुए ।
छन्द भी हुए उसीसे, उसीसे यजु भी हुए ॥ ७ ॥

उस विश्वप्रणेता यज्ञपुरुष से पृषत् आज्य सम्पन्न हुए ।
सम्पूर्ण ग्राम्य आरण्य सकल पशु विहगवृन्द उत्पन्न हुए ॥ ६ ॥
उस सर्वप्रणेता यज्ञपुरुष से ऋचा साम अवतरण हुए ।
उससे ही छन्द प्रसूत हुए उससे ही यजु मनहरण हुए ॥ ७ ॥

तस्माद्श्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥ ८ ॥
तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ९ ॥

---

(८) (तस्मात् अश्वाः) उससे घोड़े (अजायन्त) हुए (ये के च उभयादतः) और जो दोनों ओर दाँतें वाले हैं; हुए (तस्मात् गावः) उससे गायें (जज्ञिर) उपजे (तस्मात् अजावयः) उससे भेंड़-बकरी (जाताः) हुए ।

(९) (ये देवाः) जो देवगण (च) और (साध्या) साधन करते हुए (ऋषयः) ऋषिगण (अग्रतः) सृष्टि पूर्व (जातं यज्ञं पुरुषं) प्रसिद्ध यज्ञपुरुष को (बर्हिषि) मानस ज्ञान-यज्ञ में (प्रौक्षन्) सींचते हैं (तेन) उसीसे (तं) उसका (अयजन्त) यजन करते हैं ।

अश्व उसीसे हुए जो कोई उभयदन्त हैं ।
गौएँ उसीसे हुईं उसीसे ही भेंड-बकरियाँ ॥ ८ ॥
जात यज्ञपुरुष को ब्रह्माण्ड में सींचते ।
देव ऋषि उससे ही यजन करें साध्य भी ॥ ९ ॥

उससे ही अश्व हुए उभयादत उभय और दाँतों वाले ।
गो अजा भेंड से प्रकट हुए उससे ही पशु भोले-भाले ॥ ८ ॥
उस पूर्व प्रकट यजनीय पुरुष का करते ऋषिगण देव यजन ।
उसका अभिषेक हो रहा है उरपुर ब्रह्माण्डमध्य शोभन ॥ ९ ॥

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्यासीत्किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥१०॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यांशूद्रो अजायत ॥११॥

---

(१०) (यत् पुरुषं) जिस पुरुष को (वि अदधुः) विशेष रूप से धारण किया (कतिधा) कितने प्रकार से (वि अकल्पयन्) विशेष कल्पित किया ? (अस्य मुखं किम् आसीत्) इसका मुख क्या था (बाहू किं किं ऊरू पादा उच्येते) क्या भुजाएँ, क्या ऊरू तथा चरण कहे गये।

(११) (ब्राह्मणः अस्य मुखं) ब्राह्मण इसका मुख (असीत्) है (बाहू राजन्यः कृतः) भुजायें राजन्य की गईं। (यत् वैश्यः तत् अस्य ऊरू) जो वैश्य हैं वह इसके ऊरू हैं (पद्भ्यां शूद्रो अजायत) चरणों से शूद्र हुए।

पुरुष विशिष्ट धार्य जो कतिधा उसे कल्पते।
क्या मुख बाहु क्या ऊरू क्या पाद हैं कह गये ॥१०॥
था ब्राह्मण इसका मुख भुजाएँ राजन्य की।
ऊरू इसके वैश्य औ' पदों से शूद्र थे हुए ॥११॥

उस पूर्ण पुरुष का करते हैं कितने प्रकार कल्पित विधान।
क्या उसका मुख क्या बाहु कथन करते क्या उसके पग समान ॥१०॥
ब्राह्मण मुखरूप हुआ इसका इसके बाहू राजन्य हुए।
जो वैश्य वही हैं ऊरू इसके अवशिष्ट शूद्र पदजन्य हुए ॥
[जो मुख्य वर्ण ब्राह्मण जग का उसमें मुखगुण साकार हुआ।
राजन्यवर्ग के भुजबल में उसका ही बल विस्तार हुआ ॥
जो वैश्यवर्ण वितरक समान वह ऊरू गुण के अनुसार हुआ।
शूद्रों की सेवावृत्तिमध्य प्रकटित पग जगदाधार हुआ] ॥११॥

२०

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायतः।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥१२॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षᳬं शीर्ष्णो द्यौः समवर्त्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥ १३ ॥

---

(१२) (मनसः) मन से (चन्द्रमाः जातः) चन्द्रमा हुआ (चक्षोः) चक्षु से (सूर्यः) सूर्य (अजायत) हुआ (श्रोत्रात्) कान से (वायुः) वायु (च) और प्राण (मुखात् अग्निः) मुख से अग्नि (अजायत) उत्पन्न हुआ।

(१३) (नाभ्याः) नाभि से (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष लोक (आसीत्) हुआ (शीर्ष्णः) शिर से (द्यौः) द्युलोक (पद्भ्यां) चरणों से (भूमिः) पृथ्वी लोक (सम् अवर्तत) सम्यक् हुआ (श्रोत्रात्) कान से (दिशः) दिशाएँ (अकल्पयन्) कल्पित कीं (तथा लोकां) और लोकों को बनाया।

चन्द्रमा मन से हुआ चक्षु से सूर्य ये हुआ।
श्रौत से वायु प्राण औ' मुख से अग्नि था हुआ ॥१२॥

अन्तरिक्ष नाभि द्वारा शीर्ष सेद्यौ सम्यक् हुआ।
पदों से भूमि श्रौत से दिशालोक रचे सभी ॥ १३ ॥

चन्द्रमा पुरुष उस मननशील के मन से प्रादुर्भूत हुआ।
श्रौत से वायु औ' प्राण सूर्य तेजस्वी चक्षु-प्रसूत हुआ ॥ १२ ॥

यह अन्तरिक्ष नाभि से हुआ शीर्ष से द्युलोक हुआ सारा।
पग से पृथ्वी श्रोत से दिशा लोकों का सृजन किया न्यारा ॥ १३ ॥

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ १४ ॥
सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिसप्तः समिधा कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥

---

(१४) (देवाः) देवगण (हविषा पुरुषेण) पुरुष-हविद्वारा (यत् यज्ञं) जिस यज्ञ को (अतन्वत) विस्तृत करते हैं। (अस्य) इस सर्गयज्ञ का (वसन्तः आज्यं आसीत्) वसन्त आज्य रहा (ग्रीष्मः इध्मः) ग्रीष्म ईंधन (शरत् हविः) शरदऋतु हविरूप रहा।

(१५) (अस्य सप्त परिधयः आसन्) इसकी सात परिधियाँ हैं (त्रिसप्त समिधा कृताः) इक्कीस समिधा की गई हैं। (देवाः) देवगण (यत् यज्ञं) जिस यज्ञ को (तन्वाना) विस्तृत करते हुए (पशुं पुरुषं अबध्नन्) द्रष्टा पुरुष को बाँधती है।

जिस हवि पुरुष से देव यज्ञ विस्तारते।
आज्य उसका वसन्त, ग्रीष्म इध्म शरत् हवि ॥ १४ ॥
इसकी सात परिधि इक्कीस समिधाएँ हैं।
देव जो यज्ञ तानते, बाँधे पशु पुरुष को ॥ १५ ॥

जिस हव्य पुरुष से सर्गयज्ञ का देव कर रहे सम्पादन।
है आज्य वसन्त ग्रीष्म समिधा हवि शरद् बनी याज्ञिक साधन ॥१४॥
सम्यक् द्रष्टा उस पूर्णपुरुष को कर निबद्ध शक्तियाँ दिव्य।
समिधाएँ इक्कीस सृष्टि यज्ञ तानती सप्त परिधियाँ दिव्य ॥१५॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥१६॥
अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे ।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥१७॥

(१६) (देवाः) देवगण (यज्ञेन यज्ञं अयजन्त) यज्ञ से यज्ञरूप प्रभु का यजन करते हैं (तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्) वे धारणशक्तियाँ श्रेष्ठतम हैं (ते) वे देव (महिमानः) महत्त्वशाली (यत्र) जहाँ (पूर्वे) पूर्व के (साध्याः) साध्यसम्पन्न (देवाः सन्ति) देव हैं (नाकं ह सचन्त) मोक्ष को ही पाते हैं ॥

(१७) (अद्भ्यः) जलों से (पृथिव्यै रसात् च) और पृथ्वी के सार से (सम्भृतः) सुसम्पन्न (विश्वकर्मणः) अग्नि वा सूर्य से सम्यक् (अग्रे सम् अवर्त्तत) पूर्व यह जीव सम्यक् था । (त्वष्टा) परमात्मा (तस्य रूपं तद् विदधत्) उसके उस रूप को रचता है । (तद् मर्त्यस्य देवत्वम् आजानम्) तब जीव मनुष्यत्व देवत्व को (ऐति) प्राप्त होता है (अग्रे) आदि में ।

देवगण यज्ञ से यज्ञ को करें वे ही धर्म सर्वश्रेष्ठ हैं ।
वे महिमान मोक्ष पाते जहाँ पूर्व साधक देवगण हैं ॥ १६॥

त्रिष्टुप् (भुरिक्)

जलों, पृथ्वी के सार औ' विश्वकर्मा से सुसम्पन्न पूर्व जो था रहा ।
उस मर्त्य के रूप को त्वष्टा रचे आदि में सुकर्म देवत्व पाता ॥१७॥

करते हैं यजन परम यजनीय पुरुष का देव यज्ञ द्वारा ।
यज्ञादिक श्रेष्ठधर्म मिलता है जिनसे मोक्षामृत प्यारा ॥
जिसमें विराजते हैं विद्वान् श्रेष्ठ ज्ञानी साधक योगी ।
छूटते दुःख से होते हैं वे महानुभाव मोक्षभोगी ॥१६॥
जल भूमि सार अग्नि से तथा जो पहले से था वर्त्तमान ।
रचता है सृष्टि विश्वकर्मा त्वष्टा ले जीवन उपादान ॥
फिर आता जीव मर्त्य बनकर मानवता का धरकर शरीर ।
मानव फिर दिव्य कर्मद्वारा देवत्व प्राप्त करते सुधीर ॥१७॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१८॥
प्रजापतिश्चरति गर्भे ऽअन्तरजायमानो वहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥१९॥

---

(१८) (अहं एतं महान्तं आदित्यवर्णं) मैं इस महान् सूर्यतुल्य (तमसः परस्तात्) अन्धकार से पृथक् (पुरुषं) पुरुष को (वेद) जानूँ (तम् एव विदित्वा) उसी को जान कर (मृत्युं अति एति) मृत्यु से पार होते हैं (अन्यः पन्थाः अयनाय न विद्यते) अन्य मार्ग मोक्षप्राप्ति के लिए नहीं है ।

(१९) (प्रजापतिः) प्रजापालक प्रभु (गर्भे) गर्भ में (अन्तः चरति) अन्तर्यामि रूप में विचरता है (अजायमानः) उत्पन्न न होता हुआ (वहुधा विजायत) विविध प्रकार प्रसिद्ध होता है (तस्य योनिं) उसके स्वरूप को (धीराः परिपश्यन्ति) धीर पुरुष सब ओर देख सकते हैं (ह) प्रसिद्ध (तस्मिन्) उसमें (ह) ही (विश्वा भुवनानि तस्थुः) विश्व भुवन स्थित हैं ।

मैं उस महान् आदित्यवर्ण तम से परे पुरुष को जानता ।
उसे ही जान कर मृत्यु पार हो न अन्य मुक्ति का मार्ग है ॥१८॥
प्रजापति अन्तस्थ गर्भ में विचरे अजन्मा बहुधा वि-प्रकट है ।
उसका स्वरूप धीर देखते ब्रह्माण्ड सर्व उसी में स्थित है ॥१९॥

मैं जानूँ उस महान् को जो आदित्यवर्ण गत-अन्धकार ।
उसको ही सम्यक् जान मृत्यु को करते हैं विद्वान् पार ॥
होता है मुक्त वही जन जो उस पूर्णपुरुष को जान जाय ।
इसके अतिरिक्त परमपद का है अन्य नहीं कोई उपाय ॥१८॥
अज होकर भी बहुभाँति प्रजापति करता है विशिष्ट प्रकटन ।
अज अमर गर्भ में अन्तराल में सबके वह करता विचरण ॥
उसके स्वरूप का ध्यान शील ही करते पूर्णतया दर्शन ।
निश्चय ही उसमें ही स्थित हैं यह सकल विश्व यह सकल भुवन ॥१९॥

यो देवेभ्य ऽ आतपति यो देवानां पुरोहितः ।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥२०॥

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन् ।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे ॥२१॥

---

(२०) (यः देवेभ्यः आतपति) जो दिव्य शक्तियों को प्रकाशित करता है। (यः देवानां पुरोहितः) जो देवों का अग्रनायक है। (यः देवेभ्यः पूर्वः जातः) जो देवों से पूर्व प्रसिद्ध है (रुचाय ब्राह्मये) ब्राह्म-रुचि को (नमः) नमन हो।

(२१) (देवाः) देवगण (तद् रुचं ब्राह्मं) उस ब्रह्म के तेज को (जनयन्तः) प्रकट करते हुए (अग्रे) पहले (अब्रुवन्) कहते हैं। (यः ब्राह्मणः) जो ब्राह्मण (एवं विद्यात्) ऐसा जाने (तस्य देवाः वशे आसन्) उसके देवगण वश में होते हैं।

अनुष्टुप्

जो देवार्थ तप रहा, जो देवों का पुरोहित।
देवों से पूर्व जात जो, उस ब्राह्म रुचि को नमः ॥२०॥
ब्राह्मरुच प्रकटते देव आदि में भाषते।
जो ब्राह्मण ऐसे जानें, उसे देव वश में हों ॥२१॥

जिनसे सब देव प्रकाशित हैं जो दिव्य पुरोहित ज्योतिर्घन।
जो सब देवों से पूर्व प्रकट उस परम ब्रह्मज्योति को नमन ॥२०॥

उस ब्रह्मज्ञान को विबुधवृंद कर हृदयंगम उर में धारण।
करते हैं तदनन्तर उसका जन-जन आगे रुचिकर प्रवचन॥

लेता है जान ब्रह्म को हस्ता मलक बना जन इस प्रकार।
वश में कर दिव्य शक्तियों को देवों पर करता स्वाधिकार ॥२१॥

श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम् ।
इष्णन्निषाणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण ॥ २२॥

---

(२२) हे जगदीश्वर ! पूर्णपुरुष ! (ते) आपकी (श्रीः) आत्मिक सम्पद् (लक्ष्मीः) सब भौतिक सम्पद् (च) भी (पत्न्यौ) दो पत्नियाँ हैं (अहोरात्रे पार्श्वे) दिन-रात पार्श्वरूप हैं (अश्विनौ) दोनों अश्विन सूर्य-चन्द्र, द्यावा-पृथ्वी तेरे (व्यात्तं) विशाल मुख हैं (नक्षत्राणि रूपं) नक्षत्ररूप हैं (मे) मेरे लिए (अमुम्) सुख को (इष्णन्) चाहते हुए (इषाण) चाह (मे) मेरे लिए (सर्वलोकं) सर्वलोकों को चाह (मे ईषाण) मुझे सब सुख चाह ।

त्रिष्टुप्

श्री लक्ष्मी पत्नियाँ पार्श्व अहोरात्रि, रूप नक्षत्र मुख बड़ा अश्विन तेरा ।
परलोक चाहते मुझे भी चाह सर्वलोक चाह ॥ २२ ॥

हे देव पत्नियाँ हैं तव श्रेयस्कर श्री लक्ष्मी सुलक्षणा ।
दिन-रात पार्श्व नक्षत्ररूप द्यावापृथ्वी मुख विशद घना ॥
सबके हितचिन्तक परमपुरुष कर दो प्रशस्त मुक्ति की राह ।
मम हित कीजे परलोक मम हित कीजे सब लोक चाह ॥२२॥

॥ इति पुरुषोऽध्यायः ॥

तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु

(यजु० अध्याय ३४ पूर्व के ६ मन्त्र)

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ १ ॥

अर्थ—(१) (यत्) जो (दैवं) दिव्य गुणवाला (दूरंगमम्) दूर जानेवाला (ज्योतिषां ज्योतिः) ज्योतियों की ज्योति (एकं) एक (जाग्रतः) जागते हुए (दूरं) दूर-दूर (उत् एति) भागता है (उ) और (तत्) जो (सुप्तस्य) सोते हुए का (तथा एव) उसी तरह (एति) जाता है। (तत् मे मनः शिवसंकल्पं) वह मेरा मन कल्याणकारी संकल्पों वाला (अस्तु) हो।

त्रिष्टुप् छन्द

१. जो दैव जागते दूर जाये तथैव सोते का भी जाता है।
दूरगामी ज्योतियों की एक ज्योति वो मेरा मन शिवसंकल्प हो॥

लावनी

तुमसे है मेरी विनय देव जीवनधन।
वह होवे शिवसंकल्पवान् मेरा मन॥
जागृति में जो मन दूर-दूर जाता है।
जो सोते में भी ठहर नहीं पाता है॥
जो दिव्य ज्योति की ज्योतिप्रवर्त्तक तन का।
प्रज्ञा का धृति का प्रेरक है जीवन का॥
अति वेगवान जो प्रचुर ज्ञान का साधन।
वह होवे शिवसंकल्पवान् मेरा मन॥ १॥

येन कर्मण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।

यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥२॥

---

(२) (येन) जिस मन से (अपसः मनीषिणः) कर्मनिष्ठ, मननशील (धीराः) ध्यानी जन (यज्ञे विदथेषु) यज्ञ में सङ्ग्राम में, (कर्माणि कृण्वन्ति) कर्मों को करते हैं। (यत् अपूर्वं) जो अद्भुत है (प्रजानां अन्तः यज्ञं) प्रजाओं के हृदय में संगमनीय है (तत् मे मनः शिवसङ्कल्पम् अस्तु) वह मेरा मन शिवसङ्कल्प वाला हो।

---

२. जिससे कर्मी कर्मों को मनीषी यज्ञों को धीर युद्धों को करते।

जो अपूर्व प्रजाओं में पूज्य वह मेरा मन शिवसंकल्प हो॥

जिनसे मनीषिगण यज्ञकर्म आचरते।

भट धीर वीर जीवन-संगर सर करते॥

गुण-कर्म-स्वभाव आदि में जो सर्वोत्तम।

जो प्रजामध्य अन्तस्थ शक्ति है अनुपम॥

मेधावी जिससे करते इष्टाराधन।

वह होवे शिवसंकल्पवान् मेरा मन॥२॥

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतम्प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ३ ॥

---

(३) (यत्) जो (प्रज्ञानम्) विशेष कर ज्ञानोत्पादक बुद्धिरूप (उत) और (चेतः) चेतना (धृतिः च) धारणा का उपकरण है (यत्प्रजासु) जो प्रजाओं में (अन्तः) अन्तःकरण में (अमृतं) अमर (ज्योतिः) प्रकाश-स्वरूप है (यस्मात् ऋते) जिसके बिना (किञ्चन) कोई भी कर्म काम (न क्रियते) नहीं किया जाता । वह मेरा मन शिवसङ्कल्प रूप हो ।

---

३. जो प्रज्ञा बुद्धि धृतिमय प्रजा अन्तर में अमृतज्योति है ।
जिस बिना न कोई कर्म हो सके वह मेरा मन शिवसंकल्प हो ॥

जो प्रजामध्य है बुद्धिरूप धृति चेतन ।
अन्तर में करता दिव्य प्रकाश चिरन्तन ॥
जिस बिना न कोई कृत्य कभी हो पाता ।
जो सकल कर्म का स्रोत बताया जाता ॥
प्रज्ञान-बुद्धि-धृति का है जो वर साधन ।
वह होवे शिवसंकल्पवान् मेरा मन ॥ ३ ॥

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥४॥

---

(४) (येन) जिस (अमृतेन) अविनाशी परमेश सहित मन से (भूतं भुवनं भविष्यत्) भूत, वर्त्तमान तथा भविष्य (सर्वं इदं परिगृहीतं) सब यह सब ओर से परिगृहीत होता है (येन) जिससे (सप्त होता) सप्त शीर्षण्य प्राण होता रूप से (यज्ञः तायते) यज्ञ रचते हैं, वह मेरा मन शिवसंकल्पवान् हो ॥ ४ ॥

---

४. जिस अमृत से भूत भुवन भविष्यत् सर्व परिगृहीत है।
जिससे सप्त होता यज्ञ रचें सो मेरा मन शिवसंकल्प हो ॥

जो भूत भविष्यत् वर्त्तमान के सब क्षण।
सम्यक् है धारण किये हुए मन अमरण ॥
यह पंचप्राण अव्यक्त जीव अभ्यन्तर।
जिस अविनाशी में होता सप्त निरन्तर ॥
करते रहते सविशेष यज्ञ सम्पादन।
वह होवे शिवसंकल्पवान् मेरा मन ॥ ४ ॥

यस्मिन्नृचः साम यजूँषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चित्तँ सर्वमोतं प्रजानां तन्मेमनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥५॥
सुसारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥६॥

(५) (यस्मिन्) जिसमें (रथनाभौ इव अराः) रथनाभि में आरे तुल्य (ऋचः) ऋग्वेद (साम) सामवेद (यजूंषि) यजुर्वेद (प्रतिष्ठिता) प्रकृष्ट स्थित हैं (यस्मिन्) जिसमें (प्रजानां सर्वं चित्तं ओतं) प्रजाओं का सर्व चित्त प्रोत है, वह मेरा मन शिवसङ्कल्पवान् हो।

(६) (यत्) जो (सुसारथिः) सुघर सारथि (अश्वानिव) जैसे घोड़ों को संचालित करता है वैसे (मनुष्यान् नेनीयते) मनुष्यों को इतस्ततः घुमाता है (अभीशुभिः) लगाम से (वाजिनः इव) घोड़ों के समान, वह मेरा मन शिवसंकल्पसम्पन्न हो।

५. जिसमें ऋचा साम यजुः रथनाभि में अरेवत् प्रतिष्ठित हैं।
जिसमें प्रजाओं का चित्त प्रोत वो मेरा मन शिवसंकल्प हो॥
६. सुसारथि अश्ववत् जो मनुष्यों को इतस्ततः रज्जुवाजीवत् ले जाये।
हृत्प्रतिष्ठित अजिर सवेग वो मेरा मन शिवसंकल्प हो॥

रथचक्रनाभि में अरे अवस्थित जैसे।
मनमध्य प्रतिष्ठित साम-यजु-ऋक् तैसे॥
सम्पूर्ण प्रजा का चित्त चेतना वाला।
है प्रोत उसी में यथा सूत्र-मणिमाला॥
सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञानसमन्वित चेतन।
वह होवे शिवसंकल्पवान् मेरा मन॥ ५॥
जैसे सुसारथी करे अश्वसंचालन।
दृढ़ कशाघात से करे अश्व का नियमन॥
ले जाता है इस भाँति मनुष्यों को मन।
भटकाता बागडोर गह हयवत् जन-जन॥
हृदयस्थ अचल अति वेगवान जो शोभन।
वह होवे शिवसंकल्पवान् मेरा मन॥ ६॥

यजुर्वेदीय–चत्वारिंशोऽध्यायः

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥ १ ॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

अर्थ—(ईशा) ईश से (वास्य) व्याप्त, योग्य (इदं सर्वं) यह सब (यत् किंच) जो कुछ भी (जगत्यां) जगत् में (जगत्) जीवन, चंचल है। (तेन त्यक्तेन) [१. उसके त्यक्त द्वारा । २. उसे त्याग भाव से] (भुञ्जीथाः) भोग (मा गृधः) मत ललचा (धनं कस्यस्वित्) [१. धन किसका है। २. किसी का धन । ३. धन प्रजापति प्रभु का है ॥ १ ॥

(कुर्वन्) करते हुए (एव) ही (इह) इस संसार में (कर्माणि) कर्मों को (शतं समाः) १०० वर्ष, अनेकों वर्ष (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे। (त्वयि) तुझमें (एवं) यही मार्ग है (न अन्यथा इतः) न इससे अलग (अस्ति) [उपाय] है। (न कर्म लिप्यते नरे) न कर्म लिप्त होता है नर में ॥ २ ॥

अनुष्टुप्

ये सब ईशावास्य जो कुछ भी जगत् में जगत्।
भोग त्यक्त भाव से चाहो ना. धन किसी का ॥ १ ॥
करते ही यहाँ कर्मों को, शतायु की इच्छा करे।
यही अन्य है नहीं न नर में कर्म लिप्त हो ॥ २ ॥

॥ दोहावली ॥

ईश्वर का आवास है सब जग में चैतन्य।
अनासक्ति से भोग जन लुब्ध न हो धन अन्य ॥ १ ॥
कर्मों को करते हुए कर शतायु की चाह।
नर में कर्म न लिप्त हो, अन्य न इससे राह ॥ २ ॥

असुर्य्या नाम ते लोका अंधेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥
अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवाऽआप्नुवन्पूर्वमर्शत् ।
तद्धावतोऽन्यान्त्येति तिष्ठेत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

(असुर्य्याः) असुरों की (नाम) नाम की (ते लोकाः) वे लोक योनियाँ हैं (अन्धेन तमसा) अन्ध तम से (आवृताः) आच्छादित हैं (तान्) वे (प्रेत्य अपि) मर कर भी (गच्छन्ति) जाते हैं (ये) जो (के च) कोई (आत्महनः जनाः) आत्महन्ता लोग हैं ॥ ३ ॥

(अन् एजत् एकं) न चलने वाला, एकमात्र (मनसः) मन से (जवीयः) अति वेगवान् (न एतत्) न इसे (देवाः) देवगण (आप्नुवन्) पा सकते हैं (पूर्वं) पहले ही (अर्शत्) विद्यमान् होने से (तद्) वह (धावतः) दौड़ते हुए (अन्यान्) औरों को (अत्येति) अतिक्रमण कर जाता है (तस्मिन्) उसमें (अपः) कर्म-प्रवाह (मातरिश्वा) प्राण-वायु (दधाति) धारण करता है ॥ ४ ॥

आसुरी नाम लोक जो अंधतम से आवृत ।
उन्हीं में मरके जाते जो कोई आत्महन्ता हों ॥ ३ ॥

त्रिष्टुप्

स्थिर वो मन से वेगवान् देव न पाएँ उसे पूर्व ही है वहाँ ।
उन्हें दौड़तों को भी स्थिर लाँघता वो आप मातरिश्वा को धारे ॥ ४ ॥

असुरों के जो लोक हैं अंधतमोमय घोर ।
आत्मघाती नर सतत मर जाते उस ओर ॥ ३ ॥
देवातीत सवेग है मन से अविचल एक ।
स्थिर करती उसकी पहुँच धावित गति व्यतिरेक ॥
उसकी सत्ता से यहाँ पा नव जीवनदान ।
करते कर्म-कलाप हैं विविध संचरित प्राण ॥ ४ ॥

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।।५।।
यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ।।६।।

(तत्) वह (एजति) चलता है (तत् न एजति) वह नहीं चलता है। (तत् दूरे तत् उ अन्तिके) वह दूर और वह पास है (तत् अन्तर अस्य सर्वस्य तत् उ अस्य सर्वस्य बाह्यतः) वह अन्दर है इस सबके और वह इस सबके बाहर है ॥ ५ ॥

(यः) जो (तु) तो (सर्वाणि भूतानि) सब भूतों को (आत्मनि) आत्मा में (एव) ही (अनुपश्यति) सर्वतः देखता है (सर्वभूतेषु) सब प्राणियों में (च) (आत्मानं) आत्मा को देखता है (ततः) तब वह (न) नहीं (विचिकित्सति) संशययुक्त होता है ॥ ६ ॥

अनुष्टुप्

वो चलता वो न चलता वो दूर वो पास है।
वो अन्दर इस सबके वो इस सबके बाह्य है ॥ ५ ॥
जो कि सर्वभूतों को आत्मा में अनु देखता।
सब भूतों में आत्मा को वो संशय न प्राप्त हो ॥ ६ ॥

दोहावली

चलता है चलता नहीं है सुदूर वह पास।
अन्दर है वह पूर्णतः बाहर रामनिवास ॥ ५ ॥
सर्वभूत आत्मस्थ जो जन लेता है जान।
आत्मा सब भूतस्थ वह संशयरत हो गान ॥ ६ ॥

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोह कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥
सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणं अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यद-
धाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

(यस्मिन्) जिस अवस्था में (सर्वाणि भूतानि) सब भूतमात्र (आत्मा एव अभूत्) आत्मा ही होते हैं ऐसा निश्चय हो जाता है (तत्र) वहाँ (कः मोहः) क्या मोह (कः शोकः) कौन शोक होगा (एकत्वं अनुपश्यतः) एक भाव को अनुकूल भाव से देखते हुए को ॥ ७ ॥

(सः) वह परमेश्वर (शुक्रं) शुभ्र (अकायं) देहरहित (अव्रणं अस्नाविरं) व्रणादि शारीरिक दोषों से मुक्त, स्नायु आदि देहगुणों से रहित (शुद्धं) शुद्ध (अपापविद्धं) पापरहित (कविः) क्रान्तदर्शी (मनीषीः परिभू स्वयंभूः) साक्षी, सर्वाधिष्ठाता, स्वयं सत्तावाला (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) सनातन काल के लिए प्रजार्थं (याथातथ्यतोऽर्थान्) ठीक-ठीक अर्थों को (व्यदधात्) रचे हैं (परि अगात्) सब ओर से व्याप्त हुआ है ॥ ८ ॥

विज्ञानी के लिए जहाँ आत्मा ही सब भूत हों ।
वहाँ क्या शोक मोह क्या एकत्वद्रष्टा के लिए ॥ ७ ॥

जगती छन्द

वह शुक्र अकाय अव्रण अस्नायु शुद्धअपापविद्ध परिव्यापी ।
कवि मनीषी परिभू स्वयंभू शाश्वत काल को अर्थों को यथावत् विरचता ॥८॥

जहाँ भूत सब आत्ममय विज्ञानी ले जान ।
उस द्रष्टा एकत्व को मोह शोक हो गान ॥ ७ ॥
तेजस्वी तनुदोषगुणमुक्त, विज्ञ अघहीन ।
कविर्मनीषी जगत्पति स्रष्टा शुचि स्वाधीन ॥
घेर रहा चहुँ ओर से सकल प्रजा के अर्थ ।
रचे सनातन से यथावत् सब अर्थ समर्थ ॥ ८ ॥

अन्धतमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ते भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याᳫं रता ॥९॥
अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

(अन्धतमः) अन्ध तिमिर में (प्रविशन्ति) प्रविष्ट होते हैं (ये) जो (असम्भूतिं उपासते) प्रकृति की उपासना करते हैं। (ततः) उससे (भूयः इव) अधिक ही (ते तमः य उ) वे घोर अन्धेरे में जो (सम्भूत्यां) सम्भूति में, कार्यरूप सृष्टि में (रताः) रमे हैं ॥ ९ ॥

(अन्यत् एव आहुः) अन्य ही कहते हैं (सम्भवात्) कार्यरूप से (अन्यत् आहुः असम्भवात्) अन्य कहते हैं कारण से (इति) ऐसे (धीराणां श्रुम) धीरों से सुनते हैं। (ये) जो (नः) हमें (विचचक्षिरे) विशेषतया कहते हैं ॥ १० ॥

अनुष्टुप् छन्द

अन्धतम में प्रविष्ट जो असंभूति सेवते।
और भी तम में डूबे जो सम्भूति निमग्न हैं ॥ ९ ॥
कहा सम्भव से अन्य ही असम्भव से अन्य ही।
यों हम धीरों से सुनें, तत्त्वदर्शी प्रबोधते ॥१०॥

दोहावली

असम्भूति में रत मनुज जाते घन तम ओर।
उनसे भी सम्भूति रत पाते तम घनघोर ॥ ९ ॥
है सम्भव से भिन्न वह कथित असम्भव अन्य।
धीरों से हमने सुने ऐसे वचन अनन्य ॥१०॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयथंसह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥११॥

अन्धतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः ॥१२॥

(सम्भूतिं कार्यरूप सृष्टि (च) और (विनाशं च) कारणरूप जगत् (यः) जो (तद् वेद उभयं सह) जो साथ-साथ दोनों को जाने। वे (विनाशेन) कारण भूत से (मृत्युं तीर्त्वा) मृत्यु पैर कर (सम्भूत्या) सम्भूति से, कार्य सृष्टि से (अमृतं अश्नुते) अमरत्व को प्राप्त करता है ॥११॥

(अन्धतमः प्रविशन्ति) अज्ञान अन्धकार में प्रवेश करते हैं (ये) जो (अविद्यां) केवल कर्म को (उपासते) सेवन करते हैं। (ततः भूय इव ते तमः) उससे भी अधिक अन्धेरे में वह प्रविष्ट होते हैं (य उ विद्यायां) जो केवल ज्ञान में ही (रताः) रमण करते हैं ॥ १२ ॥

जो सम्भूति विनाश औ' दोनों को सह जानता।
मृत्यु तैर विनाश से अमृत संभूति से पाता ॥११॥

अन्धतम में प्रविष्ट जो अविद्या उपासक।
और भी तम में मानो डूबते विद्या में मग्न ॥१२॥

जो सम्भूति विनाश सह उसको लेता जान।
तर विनाश से मृत्यु वह पाता अमृत सुजान ॥११॥

सतत अविद्यारत मनुज जाते घन तम ओर।
पाते उनसे भी अधिक विद्यारत तम घोर ॥१२॥

अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥१४॥

(अन्यत् एव आहुः) ज्ञान अन्य ही फल कहते हैं (विद्यायाः) विद्या–ज्ञान का, (अन्यत् आहुः अविद्यायाः) अन्य ही फल कहा है केवल कर्म का—(इति) ऐसे धीरों से (शुश्रुम) हम सुनते हैं (ये) जो (नः) हमें (तद्) उसका (विचचक्षिरे) उपदेश करते हैं ॥१३॥

(विद्यां) ज्ञान (अविद्यां च) और कर्म को (यः) जो (तद् वेद उभयं सह) दोनों को एक साथ जानता है वह (अविद्यया) कर्म से (मृत्युं) मृत्यु को (तीर्त्वा) पार कर (विद्यया) विद्या–ज्ञान से (अमृतं) अमरता को (अश्नुते) प्राप्त करता है ॥ १४ ॥

कहा अविद्या से अन्य अन्य विद्या से भी कहा।
यों धीरों से सुना हमने, तत्त्वदर्शी प्रबोधते ॥१३॥

उष्णिक् छन्द

जो विद्या अविद्या और उसको संग जानते।
मृत्यु तैर अविद्या से विद्या से पाते अमृत ॥ १४ ॥

विद्या से भी अन्य है कथित अविद्या अन्य।
धीरों से हमने सुने ऐसे वचन अनन्य ॥१३॥
ज्ञान कर्म उसके सहित जो जन लेता जान।
तैर अविद्या से मरण, पाता अमृत सुजान ॥ १४ ॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳ स्मर ॥१५॥
अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥१६॥

(वायुः अनिलं अमृतं अथ इदं) यह प्राणवायु अमृत है (भस्मान्तं शरीरं) शरीर भस्म हो जाने वाला है। हे रक्षक प्रभु का नाम लेकर कर्म संकल्पमय जीव स्मरण कर (क्लिबे स्मर) शक्ति के लिए स्मरण कर (कृतं स्मर) कृत को याद कर ॥ १५ ॥

हे अग्ने ! हमें (सुपथा राये नय) परमार्थ के लिए सुपथ पर ले चल, हे देव तू (विश्वानि वयुनानि विद्वान्) विश्व के शुभे सब कर्मों को जानने वाला है (अस्मत्) हम से (जुहुराणं) कुटिल (एनः) पापों को (युयोधि) दूर करो (ते) आपको (भूयिष्ठां) बार-बार (नमः उक्तिं विधेम) नमस्स्तुति करें ॥ १६ ॥

वायु अनिलामृत है यह भस्मान्त शरीर है।
संकल्पी ओम् भज बलार्थ भज कृत स्मर ॥
• क्रतो ! ओम् भजे बलार्थ रे कृत स्मर ॥ १५ ॥
अग्ने ऐश्वर्य को सुपथ परले चलो देव विश्व कर्म जानते ।
हमसे कुटिल पाप हर करते बहु तव नमः स्तुति ॥ १६ ॥

प्राण अमर यह देह अब मात्र भस्म पर्यन्त ।
ओं सुमर, बलहित सुमर, सुमर कर्म, है अन्त ॥ १५ ॥
ज्योतिर्मय सर्वज्ञ प्रभु हटा सकल अघ वाम ।
दिखा सुपथ परमार्थ हम करते विनत प्रणाम ॥ १६ ॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म ॥१७॥

॥ इति यजुर्वेदीय चत्वारिंशोऽध्यायः ॥

(हिरण्मयेन) सोने के भौतिक ऐश्वर्यावरण से (पात्रेण) पात्र से (सत्यस्य) सत्य का (अपिहितं मुखं) मुख ढका है (यः) जो (असौ) यह (आदित्ये) आदित्य में (पुरुषः) परम पुरुष है (सः) वह (असौ) यह (अहं) मैं हूँ । (ओ३म्) सर्वरक्षक (खं) आकाशवत् व्यापक (ब्रह्म) सर्व महान् हूँ ॥ १७ ॥

हिरण्मय पात्र से सत्य मुख ढका हुआ ।
जो ये पुरुष सूर्य में वह मैं हूँ ओं खं ब्रह्म ॥ १७ ॥

हेमपात्र से है ढका सत्यवदन अविलोम ।
यह जो रवि में पुरुष वह ही मैं खं ब्रह्मोम् ॥१७॥

॥ इति यजुर्वेदीय अन्तिमः अध्यायः ॥

अथर्ववेदीय सूक्त

(काण्ड ३ सूक्त १५)

ओ३म् इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुर एता नो अस्तु।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानां धनदा अस्तु मह्यम् ॥ १ ॥

अर्थ—(१) (अहं) मैं (इन्द्रं) इन्द्रेश्वर को (वणिजं) व्यापार को (चोदयामि) प्रार्थना, प्रेरणा करता हूँ (सः नः) हमें वह (ऐतु) प्राप्त हो (पुर एता नो अस्तु) अग्रगामी हो (न उदन्) अवनत करता हुआ (परिपन्थिनं मृगं) परिपन्थियों को (अरातिं) शत्रुओं को (मृगं) दूर करे (सः) वह (ईशानां धनदा मह्यं अस्तु) वह ऐश्वर्यों का स्वामी धन देने वाला मुझे हो।

भावानुवाद

ऐश्वर्य के लिए प्रार्थना

श्री हमें श्रेयस्करी दी इन्द्र हे वैभव धनी!।
दीजिए हम को दयालु सुलक्षणा लक्ष्मी घनी ॥
दो हमें वाणिज्य की समृद्धि-सुख की प्रेरणा।
हे धनेश प्रजापते निर्विघ्न जीवन पथ बना ॥
हो सुरक्षित अर्थ अर्जन मार्ग हो सुख-शान्तिमय।
दुग्धघृत धनधान्य से परिपूर्ण हो जीवन अभय ॥

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥ २ ॥
इध्मेनाग्न इच्छ मां नो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय ।
यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् ॥ ३ ॥

---

(२) (ये) जो (पन्थानः) मार्ग (बहवः) बहुत से हैं (देवयाना अन्तरा द्यावापृथ्वी संचरन्ति) दिव्य यान आकाश-भूमि-जल में चलते हैं (ते मा जुषन्तां) वे मुझे (पयसा घृतेन) दूध घृतादि से, प्रचुर पदार्थों से, (यथा क्रीत्वा) पर्याप्त खरीद के जैसे (धन आहराणि) धन ले आऊँ ।

(३) (अग्ने!) (इध्मेन) साधनों से (इच्छ मां) लाभ चाहता हुआ (नः) हमें (घृतेन जुहोमि) घृत से आहुति देता हूँ (हव्यं तरसे) हव्य को संकट से बचने के लिए (बलाय) बल के लिए (यावत् ईशे ब्रह्मणा, वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम्) ज्ञान प्राप्तिपूर्वक उत्तम बुद्धि प्रज्ञान कर्मों शतशः व्यापारिक सिद्धियाँ पाऊँ ।

लाभ हम को सर्वदा हो धर्मसय व्यापार में ।
सत्य ऋत हो सरलता हो प्रेम हो व्यवहार में ॥
हों सुलभ सब यान जल-नभ-भूमि-पथगामी हमें ।
वृषभ-गज-हय बाहनों के दो बना स्वामी हमें ॥

इमामग्ने शरणि मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरम् ।
शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं ।। मा कृणोतु।
इदं हव्यं संविदानो जुषेथा शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च ।।४।।
येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः ।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोग्ने सातघ्नो देवान् हविषा निषेध ।।५।।
येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनीमच्छमाना ।
तस्मिन् म इन्द्रो रुचि मा दधातु प्रजापति सोमो अग्निः ।।६।।

।। इति काण्ड ३ सूक्त १५ ।।

---

(४) अग्ने ! हम जिन व्यापार-पथों में दूर-दूर जायें उनमें सफल हों, विशेष लाभ हो, क्रय-विक्रय दोनों में फलित मुझे करो । यह व्यापार हव्य बढ़े, प्रत्येक व्यवहार उन्नत हो ॥ ४ ॥

(५) (येन धनेन प्रपणं चरामि) जिस धन से, मूल से व्यापार करूँ उस धन से देवधन चाहता हूँ, स्थिर लाभ चाहता हूँ । (तत् मे) वह मेरा धन (भूयो भवतु) अधिक हो (मा कनीयोग्ने सातघ्नो देवान् हविषा निषेध) कम न हो (यः) जो अग्ने ! जिस धन से लेन-देन का व्यवहार करूँ ।

(६) मैं जिस धन से व्यापार करने की इच्छा करता हूँ उसमें मुझे रुचि मेरी धारण करे । प्रजापति सोम, हे अग्नि, मैं नित्य प्रभु से प्रेरित होऊँ । मैं प्रभु का प्रतिदिन उपासक हूँ—वही मेरा प्रेरक हो ।

दोग्ध्री गो हे प्रजापति ! प्रचुर पशुधन दीजिए ।
स्वस्थ सुन्दर तेज बलशाली प्रजाएँ कीजिए ।।
धर्म एवं अर्थ द्वारा पूर्ण हो सब कामना ।
सिद्धियाँ हों प्राप्त सब हो स्वस्थ तन उन्नतमना ।।
हिरण्यगर्भ कुबेर भगवन् ! आपसे है प्रार्थना ।
स्याम् पतयोरयीणाम् ऋचा वचन सार्थक बना ।।

सौमनस्य सूक्त

[अथर्ववेद काण्ड ३ सूक्त ३०]

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमना ।
जायापत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्ति वाम् ॥२॥

अर्थ—[१] (वः) तुम (सहृदयं) समान हृदय वाले (सांमनस्यम्) मन से सम्यक् प्रसन्नता (अविद्वेषम्) विद्वेषरहित (कृणोमि) तुम्हारे लिए करता हूँ तुम (अघ्न्या) अहिंसनीय धेनु (वत्स जातं इव) उत्पन्न बछड़े के समान (अन्यो अन्य) परस्पर (अभि हर्यत्) सप्रेम वर्त्तो ।

[२] (पुत्रः) पुत्र (मात्रा) माता से (अनुव्रतः) अनुकूल व्रतवाला हो । (पितुः) पिता के प्रति (संमना भवतु) प्रीतियुक्त मनवाला हो, अनुकूल व्रती भी हो । (जाया) स्त्री (पत्ये) पति के लिए (मधुमतीं) माधुर्यवाली (वाचं वदतु) वाणी बोले । तथैव पति भी (शान्ति वां) शान्त होकर पत्नी से सदा मधुर भाषण करे ।

अनुष्टुप्

हैं हृदय अविद्वेषी मैं सुमना करूँ तुम्हें ।
वत्स जात गौवत् तुम परस्पर बर्त्तो जनो ॥

पुत्र माता पिता का अनुव्रत संमना होवे ।
जाया मधुमती वाणी बोले पति भी शान्ति से ॥

छप्पय छन्द

एक हृदय हो तुम सबका अविरोधी मन हो ।
वैर-विरोध बिसार प्रेमपूरित जग जन हो ॥

वत्सलता से रहें प्रपूरित सबके अन्तर ।
अघ्न्या गौ औ' वत्स जात सम रहो परस्पर ॥

हो कामधेनु परमेश के अमृत-वत्स गण तुम सभी ।
तुम रहो परस्पर प्रेम से द्वेष न लेश करो कभी ॥ १ ॥
पुत्र पिता का अनुवर्त्ती हो आज्ञाकारी ।
हो अनुकूल व्रती सुखमूल विनय व्रतधारी ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥३॥

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहं संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥४॥

---

[३] (भ्राता भ्रातारम्) भाई-भाई को (मा द्विक्षन्) द्वेष कभी न करे (उत) और (स्वसा) बहिन (स्वसारम्) बहिन को (मा) नहीं [द्वेष करे] (सम्यञ्च) सम्यक् (सव्रता) समान व्रतवाले (भूत्वा) होकर (भद्रया) मांगलिक (वाचम्) वाणी को (वदत) बोलो ।

[४] (येन) जिससे (देवाः) देवगण (मिथः) परस्पर (न वियन्ति) विरुद्ध होते हैं । (च) और (नो विद्विषते) विद्वेष नहीं करते (तत्) वह (वः) तुम्हारे (गृहे) घर में (कृण्मः) करता हूँ (पुरुषेभ्यः) पुरुषों को (संज्ञानम्) सम्यक् जानता हूँ (ब्रह्म) ज्ञान [प्राप्त करो] ।

न भाई भाई से द्वेषें न बहिन बहिन से ।
सम्यक् समव्रती होके वाणी बोले भद्रयुत् ॥
जिससे न विरुद्ध हों विद्वेष करें नहीं ।
उस ज्ञान से संज्ञान करूँ तुम पुरुषों को ॥

प्रीतियुक्त मनवाला सौम्य रहे माता प्रति ।
जाया हो मधुमती रखे पति प्रति अविचल रति ॥
बोले सब प्रेम पगे सदा शान्तियुक्त सुमधुर वचन ।
[जग कहीं नहीं होवे कलह कटुता से दुखमय सदन] ॥२॥
द्वेष नहीं रक्खें किंचित् भ्राता से भ्राता ।
भगिनी-भगिनी का द्वेष दूषित हो नाता ॥
भगनी भ्राता भी न द्वेषरत रहें परस्पर ।
रहे स्नेहसिंचित सुखमय जीवन निशिवासर ॥
होंवे समान व्रत के व्रती बन्धु-स्वसा सम्यक् सदा ।
बोले कल्याणी परस्पर सुखप्रद वाणी सर्वदा ॥ ३ ॥
पा जो सुमति विवेक यथा विद्वान् परस्पर ।
ह ते विरतहो सत्वर ॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट संराधयन्तः सुधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥ ५ ॥

[५] (ज्यायस्वन्तः) उत्कृष्टतायुक्त (चित्तिनः) चेतना वाले (सुधुराः) धुरन्धर होकर (रन्तः) विचरते (संराधयन्तः) सम्यक् धनधान्य राज्य-समृद्धि को प्राप्त हुए (मा वियौष्ट) मत विरुद्ध होवो। (अन्यः अन्यस्मै) परस्पर, एक-दूसरे के लिए (वल्गु) मधुर, सत्य भाषण (वदन्तः) बोलते हुए (एत) प्राप्त होवो। (सध्रीचीनान्) समान लाभाऽलाभ से परस्पर सहायक (संमनसः) समान मन से (वः) तुम्हें (कृणोमि) करता हूँ।

छन्द

श्रेष्ट चेता धुरन्धर हो विचरते संधनवान् हो विरोधी न हो।
परस्पर मृदु बोलते मिलो सहाय्य को सुमना एकमत करूँ ॥ ५ ॥

वृथा कुतर्क विवाद त्याग देते हैं कटुतर।
कभी न करते द्वेष प्रेममय होते अन्तर ॥
तुम सब भी उसी विवेक को प्राप्त करो सम्यक् वरो।
तुम करो परस्पर प्रीति जन सम्पति सुमति नरो भरो ॥ ४ ॥
विचरो तुम उत्कृष्ट, श्रेष्ठ गुण को धारण कर।
सम चेता विज्ञानी संयक् बनो धुरन्धर ॥
करो किनारा नहीं तजो पार्थक्य विनाशक।
लाभ-हानि में रहो परस्पर तुल्य सहायक ॥
सब मिल-जुल भार वहन करो ऐक्यमत्य सद्भाव से।
सम पथ पर संचालित करो जीवन वाहन चाव से ॥ ५ ॥

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥६॥
सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ ७ ॥

---

[६] (वः) तुम्हारी (प्रपा) प्याऊ (समानी) समान हो (वः) तुम्हारे (अन्नभागः) खानपान (सह) एकसा हो । (वः) तुम (समाने) समान (योक्त्रे) जुए में (सह) संगी हो (युनज्मि) मैं जोतता हूँ । (अरः) आरे (अभितः) चारों ओर (नाभिमिव) नाल में लगे के समान मिलकर (अग्निं) अग्नि को (सम्यञ्चः) सम्यक् तुम (सपर्यत) सुसेवन करो ।

[७] (वः) तुमको (सध्रीचीनान्) सह वर्त्तमान (संमनसः) परस्पर सह मन ने (एकश्नुष्टीन्) एक कार्य में शीघ्र प्रवृत्त होने वाले (सर्वान्) सबको (संवननेन) सह उपकार से (कृणोमि) करता हूँ । तुम (देवाः इव) देवों के समान (अमृतं) अमरत्व को (रक्षमाणाः) रक्षा करते हुए (सायं प्रातः) सायं प्रात [प्रेमपूर्वक रहो] (वः) तुम्हारी (सौमनसः) सुमनता की भावना (अस्तु) [सदा] हो ।

सम प्रपा तव अन्नभाग सह सम जुए में जोतता सह ।
सम्यक् अग्नि को सेवो अभितः अरा नाभिवत् ॥ ६ ॥
सध्रीचीन समना एकश्नुष्टि सबको संवनन से करूं मैं ।
देवोंवत् अमृत-रक्षा करते सायं प्रातः तुम सुमना हो ॥ ७ ॥

खानपान जलपान स्नान के धाम एक हों ।
एक जुए में जुतो तुम्हारे यान एक हों ॥
यथा चक्र के आरे सारे एक नाभि पर ।
एक केन्द्र पर होते हैं एकत्र परस्पर ॥
तुम इसी भाँति समवेत हो सम्यक् हितसाधन करो ।
नित साम्य अग्नि का विश्वजन सेवन करो यजन करो ॥ ६ ॥
तुम होवो सह वर्त्तमान साथी उद्योगी ।
सम आचरण प्रवृत्त तुल्यधर्मा संभोगी ॥

अथ शान्तिप्रकरणम्

शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रा वरुणा रात हव्या ।
शमिन्द्रा सोमा सुविताय शं यो शं न इन्द्रा पूषणा वाज सातौ ॥१॥

अर्थ—(शं नः) हमें शान्तिप्रद (इन्द्राग्नी) इन्द्र तथा अग्नि दोनों (अवोभिः) रक्षा तथा अन्नादि साधनों से (भवताम्) होवे। (रात हव्या) दान अन्नादि हव्यों के प्राप्त करने वाले, ग्रहण करने वाले (इन्द्रा वरुणा) इन्द्र तथा वरुण हमें (नः शं) कल्याणकारी हो। तथा दाता (इन्द्रा सोमा) इन्द्र तथा सोम (सुविताय) सुखैश्वर्य के लिए (शं यो) कल्याण, शान्तिप्रद हैं। (इन्द्रा पूषणा) इन्द्र तथा पूषा (वाज सातौ) युद्धों में तथा अन्नादि बल प्राप्त्यर्थ (शं न भवताम्) शान्तिप्रद हों ॥ १ ॥

त्रिष्टुप्

इन्द्र अग्नि रक्षार्थ शं ही हमें, दान हव्य, इन्द्र वरुण शं हों।
सुविताय इन्द्र सोम शं हमें इन्द्र पूषा वाज प्राप्ति में शं हों ॥ १ ॥

सकल हितैषी सरल शुभैषी रहो परस्पर।
प्राप्त करो अभ्युदय तथा निःश्रेयस का वर ॥
तुम सब देवों के तुल्य ही अमृततत्त्व रक्षक रहो।
सायं प्रातः सुन्दर मना होवो सुख सम्यक् लहो ॥ ७ ॥

सखी छन्द

शं करे ज्योति-वैभव से इन्द्राग्नि सदैव हमारा।
रक्षा साधनों धनों से बहुविधि अन्नों के द्वारा ॥
जल-अन्न आदि के दाता ग्रहणीय सत्व-संग्राहक।
हो इन्द्र वरुण जीवन में हमको चिर शान्ति विधायक ॥
सुविताय-सुखद जीवन हित सम्पूर्ण सुखद साधन हित।
हो परम शान्ति के दाता देवेन्द्र सोम हमको नित ॥
ऐश्वर्यलाभ होने पर जीवन-विकास के क्षण में।
हो इन्द्र शान्तिकर हमको पोषक पूषा जीवन में ॥

शं नो भगः शमु नः शंसो अस्तु शं न पुरन्धि शमु सन्तु रायः ।
शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु ॥२॥

(भगः नः शं) भग अर्थात् ऐश्वर्य हमें शान्तिप्रद हो (शंसः नः शम् उ) शंसा-प्रशंसा, उपदेश-स्तवन हमें शान्तिमय हो। (पुरन्धिः) बहुतों के धारक बुद्धि या देह, पुर ब्रह्माण्डधारक (शं नः) हमें शान्तिमय हो (रायः शं उ सन्तु) धन शान्तिमय हो (सु यमस्य सत्यस्य शंसः) उत्तम नियामक सत्य का उपदेश (शं नः) हमें शान्तिमय हो (पुरुजातो अर्यमा शं नः अस्तु) बहुप्रसिद्ध न्यायकारी हमें शान्तिप्रद होवे ॥ २ ॥

भग हमें शं हो शंसा शं हमें शं हमें पुरन्धि शं राय भी हो ।
सुयम सत्य की शंसा शं होवे बहुख्यात अर्यमा शं हो हमें ॥ २ ॥

घन चपला हो कल्याणी आन्तरिक शान्ति-विस्तारक ।
बरसे अविरल जलधारा हो बाह्य समृद्धि सहायक ॥
वरणीय प्रकाशक राजा तेजस्वी नायक सारे ।
धन अन्न सैन्य ज्ञानों से नित सुखद शान्ति विस्तारे ॥
गुरु-शिष्य शान्तिकर हों वे रवि सोम शान्ति विस्तारे ।
विद्युन्माला ला झंझा हो शं हमको सांझ सकारे ॥ १ ॥

भग हमें शान्तिमय होवे दे शान्ति प्रशंसा हमको ।
पुरधारक बुद्धि हमारी शं करे हरे घन तम को ।
हो शान्तिमती कल्याणी सम्पत्ति शान्तिप्रद हो धन ॥
दें शान्ति हमें सुनियन्ता सत्योपदेष्टा सज्जन ।
दें शान्ति अर्यमा हमको सुप्रसिद्ध न्याय अधिकारी ।
सत्योपदेश के द्वारा हो शान्तियुक्त नर-नारी ॥ २ ॥

शं नो धाता शमु धर्त्ता नो अस्तु शं न उरूची भवतु स्वधाभिः ।
शं रोदसी बृहती शं नो अद्रिः शं नो देवानां सुहवानि सन्तु ॥३॥
शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु शं मित्रावरुणावश्विना शम् ।
शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शं न इषिरो अभिवातु वातः ॥४॥

(धाता नः शम्) पालक हमें शान्ति देने वाला हो । (धर्त्ता नः शं उ) धारक हमें शान्तिप्रद हो (उरूची) उरू विशद बहुत सी वस्तुओं को प्राप्त कराने वाली भूमि हमें शान्तिप्रद हो (स्वधाभिः) अन्न-जलों के साथ (बृहती रोदसी) विशाल द्यावापृथ्वी लोक (शं) शान्तिदायक हों (अद्रिः नः शं) पर्वत-बादल हमें शान्तिप्रद हों (देवानां सुहवानि शं नः सन्तु) देवों के उत्तम स्तवन-गान हमें शान्तिदायक हों ॥ ३ ॥

(ज्योतिः अनीकः अग्निः शं नः अस्तु) ज्योति-सैन्य-अग्नि हमें शान्तिदायक हों । (मित्रावरुणौ शं नः, अश्विना शं) मित्र-वरुण-अश्विन् देव हमें शान्तिदायक हों (सुकृतानि) पुण्यात्मा सत्कर्मियों के सुकृत्य (शं नः) हमें शान्ति दें (इषिरः वात शं न अभिवातु) गमनशील वायु हमें शान्तिदायक होता हुआ सब ओर बहे ॥ ४ ॥

धाता हमें शं धर्त्ता शं हो हमें उरूची स्वधाओं से हमें शं हो ।
बृहती द्यावापृथ्वी शं हो अद्रि शं देवों के सुहव शं हों हमें ॥ ३ ॥
ज्योति सेना का अग्नि हमें शं हो शं मित्र वरुण अश्विन शं हो ।
सुकृतियों के सुकृत्य शं हमें गमनशील वात शं हो बहे ॥ ४ ॥

धाता शं करे हमारा धर्त्ता शं करे हमारा ।
शं करे हमारा भू ये अन्नादि स्वधा के द्वारा ॥
यह अन्तरिक्ष यह पृथ्वी वर्धनशीला सुविशाला ।
दें शान्ति हमें जीवन में गिरिमाला नीरदमाला ॥
देवों के विज्ञ जनों हों शान्तिप्रसारक प्रवचन ।
देवों के स्तवनगान से हों शान्तिसमन्वित जीवन ॥ ३ ॥
जो ज्योति सैन्य वाला है वह अग्नि शान्ति विस्तारे ।
शं करे देव अश्विन है जीवन में सदा हमारे ॥

शं नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्ष दृशये नो अस्तु ।
शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पति रस्तु जिष्णुः ॥ ५ ॥

(पूर्वहूतौ) पूर्व हूत, पूर्व प्रशंसित दोनों द्यावा-पृथ्वी हमें शान्ति-दाता हों (अन्तरिक्षं दृशये नः शं अस्तु) अन्तरिक्ष देखने के लिए हमें शान्तिप्रद हों (वनिनः औषधीः) वन्य औषधियाँ (नः शं भवन्तु) हमें शं होवें। (रजसस्पतिः जिष्णुः नः शम्) लोकों का पालक स्वामी विजेता हमें शान्तिमय होवे ॥ ५ ॥

पूर्व हूत द्यावापृथ्वी शं हमें अन्तरिक्ष देखने को।
वन्य ओषधियाँ हमें शं होवें जयशील लोकपति शं होवे ॥ ५ ॥

जो युगल परस्पर प्रेमी अनुरक्त मित्र हितकारी।
जो वरण करें आपस में जो मित्र वरुण नर-नारी ॥
वह मित्र वरुण हमको हों अश्विन चिरशान्ति विधाता।
दें शान्ति पुण्य कर्मों से हमको सुकृती जन त्राता ॥
सब ओर प्रवाहित होवे निरुपद्रव वात हमारे।
अति गतिमय वह जीवन में सर्वदा शान्ति विस्तारे ॥ ४ ॥

हों शान्तिदायिनी हमको द्यावापृथ्वी सुखकारी।
जो पूर्व प्रशंसित वन्दित सत्कार्यलीन नर-नारी ॥
आकाश शान्तिमय होवे हो दर्शन हेतु सहायक।
सम्पूर्ण वन्य ओषधियाँ हों हमको शान्ति प्रदायक ॥
सम्पूर्ण लोक लोकान्तर पालक पति विजयी स्वामी।
हो हमें शान्ति का दाता लोकेश जगत्पति नामी ॥ ५ ॥

शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः ।
शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु ॥ ६ ॥

(देवः इन्द्रः वसुभिः) इन्द्र, देव वसुओं सहित (न शं) हमें शं हो। सुशंसः वरुणः) प्रशंनीय वरुण (आदित्येभिः) आदित्यों के साथ (शं) शान्तिप्रद हों—जलराशि द्वादशादित्य सह तथा श्रेष्ठ तेजस्विता से युक्त प्रशंसनीय पुरुष—(रुद्रेभिः रुद्रः) रुद्रों सहित रुद्र (जलाषः) जलों का आधार (नः शं) हमें शान्ति दे (ग्नाभिः त्वष्टा) वाणियों सहित त्वष्टा (नः) हमारे (इह) यहाँ (शं शृणोतु) वचन सुने ॥ ६ ॥

वसुओं से इन्द्रदेव शं होवे आदित्यों से सुशंस वरुण शं ।
रुद्रों से जलाष रुद्र शं हमें सवाक् त्वष्टा सुनें शं यहाँ हमें ॥ ६ ॥

देवेन्द्र शान्ति दे हमको सम्यक् वसुओं के द्वारा ।
दें वरुण शान्ति सुप्रशंसित आदित्य करों के द्वारा ॥
हों रुद्रदेव प्राणों से हमको चिर शान्ति प्रदाता ।
शीतल जलवत् सुखदाता संताप विनाशक त्राता ॥
त्वष्टा सब सुनें हमारी मंगल वाणी कल्याणी ।
वह शिल्पकार निर्माता हो हमें शान्ति वरदानी ॥ ६ ॥

शं नः सोम भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः।
शं नः स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्वः शं वस्तु वेदिः ॥ ७ ॥
शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु ।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ॥ ८ ॥

(सोम) हमें शान्तिदायक हो (ब्रह्म) ब्रह्म हमें शान्तिदायक हो (ग्रावाणः) सोमशिला हमें शान्तिदायक हो। (यज्ञाः) ये यज्ञ हमें शान्ति दें (प्रस्वः) औषधियाँ, उत्तम सौभाग्यशीला महिलाएँ (वेदिः) यज्ञवेदिका (स्वरूणां मितयः) सुन्दर प्रशस्त मितियाँ, स्तम्भ यंत्रार्थ छन्दादि हमें शान्तिदायक हों ॥ ७ ॥

(उरुचक्षाः सूर्यः) बहु तेजस्वी सूर्य (नः शं उदेतु) हमें शान्ति के लिए उदित हो। (चतस्रः प्रदिशः नः शं भवन्तु) चार प्रदिशाएँ हमें शान्ति-प्रद होवें। (ध्रुवयः पर्वताः नः शं भवन्तु) दृढ़ पर्वतगण शं हों (सिन्धवः आपः शं सन्तु) नदी सिन्धु जल संघ हमें शान्तिदायक हों ॥ ८ ॥

सोम शं हो हमें ब्रह्म शं होवे ग्रावाण शं हो यज्ञ शं हो हमें।
शं हमें स्वरू की मितियाँ होवें, प्रस्व शं हो वेदी शं होवे ॥७॥

त्रिष्टुप्

उरू चक्षा सूर्य हमें शं उगे, चार प्रदिशायें शं होंवे।
ध्रुव पर्वतगण हमें शं हो, सिन्धु आपराशि शं हो हमें ॥ ८ ॥

रस सोम चन्द्र औषधियाँ आत्मज प्रिय शिष्य प्रजायें।
दें ब्रह्म शान्ति सुख हमको धन अन्न वेद सु-ऋचायें ॥
दें शान्तिमेध ज्ञानीजन हमको वाणी के नायक।
हों यज्ञ यज्ञ की वेदी औषधियाँ शान्ति प्रदायक ॥
यजमान पुरोहित वेदी रस सोमशिला निष्पादक।
शब्दार्थ छन्द का चिन्तन हो हमें शान्ति सुखसाधक ॥ ७ ॥
सूरज तेजःशाली का शुभ शान्तिहेतु उदयन हो।
चारों प्रदिशायें हमको ध्रुव पर्वत शान्तिसदन हो।
नद सिन्धु सरित् का जीवन विस्तारे शान्ति मनोरम।
निर्झर प्रवाह कलरव से सुख शान्ति लाभ पायें हम ॥ ८ ॥

शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः ।
शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः ॥९॥
शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तूषसो विभातीः ।
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः॥१०॥

(अदितिः व्रतेभिः नः शं) अदिति व्रतों से हमें शं हो। (स्वर्काः मरुतः) प्रशस्त मरुत (नः शं भवन्तु) हमें शं हों। विष्णु, पूषा (भवित्र) भवितव्यता, वायु ये सब हमें शान्तिदायक हों ॥ ९ ॥

(सविता त्रायमाणः देवः शं नः) सर्वोत्पादक प्रेरक रक्षक देव हमें शं हों (उषसः विभातीः शं नः भवन्तु) उषाओं की कान्तियाँ हमें शान्तिमय हों (पर्जन्यः प्रजाभ्यः नः शं भवतु) बादल प्रजाओं के लिए हमें शान्तिमय होंवे (क्षेत्रस्य पतिः शम्भुः शं नः अस्तु) क्षेत्र का स्वामी शान्ति देने वाला हमें शान्तिप्रद होवे ॥१०॥

अदिति व्रतों द्वारा शं हमें हो, प्रशस्त मरुत् शं हो हमें।
विष्णु हमें शं पूषा हमें शं हो, भवित्र हमें शं वायु शं हो ॥ ९ ॥
त्रायमाण देव सविता शं हो कान्तिमती उषाएँ शं हमें।
प्रजार्थ पर्जन्य शं हमें हो, क्षेत्र के पति शम्भु शं हमें हो॥ १० ॥

हो अदिति अखण्ड व्रतों से सुखदायक शान्तिप्रसारक।
उत्कृष्ट प्रशस्त मरुत् भी प्रिय रहे शान्ति विस्तारक।
हो व्यापक विष्णु, पुष्टिकर पूषा औ' वायु सुखारी।
भवितव्य अनागत होंवे हमको मुद मंगलकारी॥ ९ ॥
रक्षक होकर जगप्रेरक सम्पूर्ण विश्व उत्पादक।
वह सवितादेव हमारी हो सदा शान्ति का साधक।
शं हमें उषाएँ अरुणिम हों परम कान्ति शोभान्वित।
हो सुखद क्षेत्रपति शम्भु पर्जन्य प्रजाओं के हि॥१०॥

शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सहधीभिरस्तु ।
शमभिषाच शमु रातिषाचः शं नो दिव्या पार्थिवा शं नो अप्या।११।

विश्वदेवाः) विश्वदेव गण, दिव्य शक्तियाँ (देवाः) दाता होते हुए (नः शं भवन्तु) हमें शं होंवे । (सरस्वती सहधीभिः शं अस्तु) (सरस्वती बुद्धियों सहित हमें शांतिमय होंवें । (अभिषाच रातिषाचः शं) आभ्यन्तर तथा बाह्य पदार्थों से लेने वाले हमें शं हो । (दिव्याः प्रार्थिवाः अप्याः) दिव् पृथ्वी जल से सम्बद्ध पदार्थ (शं नः) शान्तिमय हमें हों ॥११॥

विश्वदेव दातार शं हों हमें सरस्वती धियों सहित शं हो ।
शं अभिषाच रातिषाच शं दिव्य पार्थिव जलीय शं हमें ॥ ११॥

दिव्यता हेतु हों हमको नित विश्वदेव हितकारी ।
प्रज्ञाओं सहित सुविधा हो सरस्वती शं कारी ॥
अभ्यन्तर बाह्य जगत् से सम्बद्ध वस्तुगण प्राणी—
हो हमें दिव्य पार्थिव जल अन्तस्थ वस्तु कल्याणी ॥
त्रयलोक शान्तिकर होंवे त्रयलोक जन्य जीवन भी ।
कर दें अशान्ति का निरसन कर दें अशोक तन-मन भी ॥ ११ ॥

शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः ।
शं नः ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु ॥ १२ ॥

(सत्यस्य पतयः) सत्य के स्वामी (नः शं) हमें शान्ति दें । (अर्वन्तः नः शं गावः शं उ सन्तु) अश्व-गायें हमें शान्तिप्रद हों । (सुकृतः सुहस्ताः ऋभवः) उत्तमकृती सिद्धहस्त शिल्पीजन (नः शं) हमें सुख दें (हवेषु) यज्ञ-संग्रामों में (पितरः) पितर लोग (नः शं भवन्तु) हमें सुख-शान्तिमय हों ॥ १२ ॥

सत्य के पालक हमें शं होंवे, शं हमें अश्व गोवृन्द शं होंवे ।
सुकृती सुहस्त शिल्पी शं हमें, पितर हवों में हमें शांति दें ॥१२॥

सब सत्यधर्म के पालक हों हमें शान्ति के कारण ।
हों गोधन हमें शान्तिमय दें अश्व सब पशुगण ॥
सुन्दर कृतियों के कर्त्ता सब सिद्धहस्त ज्ञानी जन ।
सब ऋभव [शिल्प विज्ञानी] दें हमें शान्ति नित नूतन ॥
यज्ञों में सङ्ग्रामों में हों हमें पितरगण शोभन ।
निज अनुभव भण्डारों से वह करें शान्ति सुख-वर्णन ॥ १२ ॥

शं नो अज एकपाद्देवो अस्तु शं नोऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः ।
शं नो अपां नपात् पेरुरस्तु शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपाः ॥१३॥

(एकपाद्) एक चरण में ब्रह्माण्ड स्रष्टा तथा धारक, पालक (अजः) अजन्मा (देवः) प्रकाशक (नः शं अस्तु) हमें सुखद हो । (अहिर्बुध्न्यः नः शं) मेघ अन्तरिक्ष समुद्र हमें शान्ति दें (अपां) जलों में (नपात्) चरण रहित [नावें] (पेरुः) पार करने वाली होकर (नः शं) हमें कल्याणकारी हों (देवगोपा पृश्निः नः) देवों से रक्षित आकाश हमें शान्तिमय हो ॥१३॥

अज, एकपाद् देव हमें शं हो, मेघ शं हो समुद्र शं होवे ।
अपाद् जल नौका पार करे शं, देवगोपा आकाश शं हमें हो ॥१३॥

सबजग को एक चरण में जिसने धारा-विस्तारा ।
वह देव अजन्मा हमको दे सुखद शान्ति की धारा ॥
हो हमें शान्ति का दाता नभ-मण्डल में घन-गर्जन ।
हो सुखद शान्तिविस्तारक हमको समुद्र गगनांगन ॥
यात्राएँ सुखद बनायें निर्विघ्न पार ले जायें ।
हो हमें शान्तिप्रद अर्णव जलयान तथा नौकाएँ ॥
बहु दिव्य शक्तियों द्वारा रक्षित आकाश निराला ।
सुविशाल सुखों का वर्षक दे शान्ति हमें द्युतिवाला ॥ १३ ॥

इन्द्रो विश्वस्य राजति शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥१४॥
शं नो वातः पवताᳪ शं नस्तपतु सूर्यः । शं नः कनिक्रदद् देवः पर्जन्यो अभिवर्षतु ॥१५॥

(इन्द्र) परमेश्वर (विश्वस्य) विश्व का (राजति) विराजता है, राजा है । [वह] द्विपद-चतुष्पदों में हमारे सुखद हो ॥ १४ ॥

(शं नः वातः पवताम्) सुखद वायु हमें बहें । (नः सूर्यः शं तपतु) हमारे लिए सूर्य शान्ति-सुखदायक तपे (कनिक्रद् देवः पर्जन्यः) गरजने वाला दिव्य मेघ हमारे लिए सुखपूर्वक बरसे ॥१५॥

द्विपाद् गायत्री

इन्द्र विश्व-विराजता हमें शं हो द्विपद्-चतुष्पदों को ॥ १४ ॥

अनुष्टुप्

वात शं हमें बहे सूर्य हमें शं तपे ।
शं गरजते पर्जन्य हमें दिव्य अभिवर्षें ॥ १५ ॥

जो इन्द्र विश्व का राजा ऐश्वर्यवान् परमेश्वर,
जो शोभित विद्युत् के सम जगती के भीतर-बाहर ।
वह द्विपद-चतुष्पद के हित हो सुखद सदा हितकारी,
वह पुत्रादिक पशु-धन की नित रक्षा करे हमारी ॥ १४ ॥

नित वात बहे सुखकारी हम सबके लिए शांतिप्रद ।
नित तपे सुखकारी हम सबके लिए शान्तिप्रद ॥
सब ओर हमारे बरसे गर्जित पर्जन्य दिव्य घन ।
हो शान्ति हेतु हम सबको उनका गर्जन-अभिवर्षण ॥ १५ ॥

अहानि शं भवन्तु नः शꣳ रात्री प्रतिधीयताम् । शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रात हव्या । शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ शमिन्द्रासोमा सुविताम शंयो ॥ १६ ॥

यजु० ३६, मंत्र ८, १०, ११

(अहानि नः शं भवन्तु रात्रिः शं प्रतिधीयताम्) दिन हमें शान्ति को हों, रात्रियाँ शान्ति हमारे प्रति धारण करें (इन्द्राग्नी) विद्युत्-अग्नि हमें सुखद हों रक्षाओं से, देने योग्य सुख वस्तुओं वाले (इन्द्रावरुणा) इन्द्र-वरुण, विद्युत्-जल हमें शं हों (इन्द्रापूषणा) विद्युत्-पृथ्वी हमें शं हों, अन्न सेवन के लिए युद्धों में (इन्द्रासोमा) विद्युत् औषधियाँ (शंयो) सुख की (सुविताम) प्रेरणा के लिए शान्तिप्रद हमें होंवे ॥ १६ ॥

अतिशक्करी छन्द

दिवस हमें शं होवें रात्रियाँ शं हमें धारें।
इन्द्राग्नी शं होंवे हमें रक्षा से, शं इन्द्र वरुण दान हव्य से ॥
इन्द्र पूषा अन्नरणों में शं हों।
इन्द्र सोम सुख-प्रेरणा को शम् ॥ १६ ॥

दिन शान्ति हेतु हमको हो निशि करे शान्ति को धारण ।
इन्द्राग्नि सुरक्षा द्वारा हो हमें शान्ति सुख-कारण ॥
जल-अन्न आदि के दाता ग्रहणीय सत्व-संग्राहक ।
हो इन्द्र-वरुण जीवन में हमको चिर शान्ति विधायक ॥
ऐश्वर्य-लाभ होने पर जीवन-विकास में रण में ।
हो इन्द्र शान्तिकर हमको पोषक पूषा जीवन में ॥
प्रेरणा सुखद जीवनहित सम्पूर्ण सुखद साधन हित ।
हों परम शान्ति के दाता देवेन्द्र सोम हमको नित ॥ १६ ॥

शन्नो देवी रभिष्टय आपो भवन्तु पीतये शंयोरभिस्रवन्तु नः ॥ १७ ॥ यजु० ३६-१२

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म-शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्ति-रेधि ॥ १८ ॥ यजु० ३६-१७

(देवी आपः) दिव्य गुणयुक्त जल (अभिष्टये पीतये) अभीष्ट को पाना (नः शं भवन्तु) हमें सुखद होवें (नः शंयोः अभिस्रवन्तु) हमारे लिए सुख क़ी सब ओर से वर्षा करें ॥ १७ ॥

(द्यौः शान्तिः) द्युलोक शान्तिकारक हो (अन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिः आपः शान्ति ओषधयः शान्तिः) अन्तरिक्ष, पृथ्वी, जल और औषधियाँ शान्तिकारक हों । (वनस्पतयः शान्तिः विश्वेदेवाः शान्तिः ब्रह्मशान्तिः सर्वं शान्तिः) वनस्पतियाँ, सर्व देवगण, ज्ञान, परमेश्व यह सब शान्तिकारक हों (शान्तिः एव शान्तिः) शान्ति ही शान्ति हो । (सा मा शान्तिः एधि) वही पूर्ण शान्ति मुझे प्राप्त हो ॥ १८ ॥

गायत्री छन्द

दिव्य आप शं हों हमें । पीने तथा अभीष्ट को। सुख अभिवर्षा करे ॥ १७॥

भुरिक् शक्करी छन्द

द्यौ शान्ति अन्तरिक्ष शान्ति पृथिवी
शान्ति आप शान्ति औषधियाँ शान्ति ।
वनस्पतियाँ शान्ति विश्वदेव शान्ति ब्रह्मशान्ति
सर्व शान्ति शान्ति एव शान्ति वो मुझे शान्ति हो॥ १८ ॥

परितृप्ति हेतु हो हमको अभिलषित सिद्धि की कारण।
सब दिव्य शक्ति कल्याणी हमको अतिशय मनभावन् ॥
सब ओर हमारे ऊपर वह शान्ति-सुधा बरसायें।
पीने को इष्ट सिद्धि को जल दिव्य सौख्य सरसायें ॥ १७ ॥
हो हमें द्युलोक शान्तिमय हो पृथ्वीलोक शान्तिमय।
हो अन्तरिक्ष निरुपद्रव यह आप अशोक शान्तिमय ॥

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ १९ ॥

यजु० ३६-२४

(तत् देवहितं) वह देवों का हितसाधक (शुक्रं) तेजस्वी शुद्धस्वरूप (चक्षुः) सबका दर्शक [ब्रह्म] (पुरस्तात्) पहले से ही (उच्चरत्) उत्कृष्टता प्राप्त है। हम उसे (पश्येम शरदः शतं) सौ वर्ष तक देखें (जीवेम शरदः शतं) सौ वर्ष तक [देखने को] जीते रहें। (शृणुयाम शरदः शतं) सौ वर्ष तक सुनें (प्रब्रवाम शरदः शतं) सौ वर्ष प्रवचन करें (अदीना स्याम शरदः शतं) अदीन सौ वर्ष तक जियें (भूयः शरदः शतात्) और सौ वर्ष से भी अधिक होकर [जियें] ॥ १९ ॥

छन्द भुरिक् ब्राह्मी त्रिष्टुप्

वो चक्षु देवहित, पूर्व से शुक्र उत्कृष्ट। देखें शत वर्ष उसे, जिएँ शत वर्षों तक, सुने उसे शत शरद प्रभाषें शत शरद तक, अदीन होवे शत शरद होवें शताधिक तथा ॥ १९ ॥

औषधी वनस्पतियाँ भी हो शान्तिमयी कल्याणी।
सब देव शान्तिकारक हों दें शान्ति वेद की वाणी ॥
हो ब्रह्म शान्ति सुखदाता हों पर्ण शान्तिकर सारे।
शान्ति ही शान्ति जो होवे हम उसी शान्ति को धारें ॥ १८ ॥

सबका द्रष्टा जोतिर्घन जो ब्रह्म विश्व का लोचन।
जो देवों का हितकर्त्ता सर्वोपरि विज्ञ सनातन ॥
उसकी ही परम् कृपा से शत शरद करें अवलोकन।
उसको ही लखें सुनें हम शत शरद प्राणकर धारण ॥

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति। दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २० ॥

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः। यदपूर्वं य क्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ २१ ॥

जो दिव्य शक्तिसम्पन्न मेरा मन सोते और जागते हुए दूर-दूर भटकता है, जो ज्योतियों की ज्योति है वह मेरा मन कल्याणकारी विचारों वाला हो ॥ २० ॥

जिससे कर्मशील जन कर्म से, मनीषी जन यज्ञ तथा धीर युद्धों में कर्म करते हैं, जो प्राणियों में अद्वितीय अन्तस्थ है। वह मेरा मन उत्तम संकल्पों वाला हो ॥ २१ ॥

जो दैव जागते दूर जाये तथैव सोते का भी जाता है।
दूरगामी ज्योतियों की एक ज्योति वो मेरा मन शिवसंकल्प हो ॥ २० ॥
जिससे कर्मी कर्मों को मनीषी यज्ञों को धीर युद्धों को करते।
जो अपूर्व प्रजाओं में पूज्य वह मेरा मन शिवसंकल्प हो ॥ २१ ॥

शत वर्ष सुनें प्रवचन हम, शुभ भद्र वचन गुण-कीर्तन।
हम करें पतितपावन का शत-शत शरदों तक प्रवचन ॥
दीनतारहित होकर हम शत शरद स्वतन्त्र निरन्तर।
शत वत्सर से भी ऊपर हम पायें जीवन का वर ॥१९॥
जागृति में सुप्तदशा में जो दूर-दूर जाता है।
जो अनुपम दिव्य शक्तिमय संसृति में भटकाता है ॥
जो दिव्य दूरगामी है जो ज्योति ज्योति का मन।
हो शिवसंकल्पों वाला वह ही मेरा मन भगवन् ॥२०॥
कर्मण्यमनीषी मानव सत्कृत्य यज्ञ आचरते।
जिसके द्वारा मेधावी नाना कर्मों को करते ॥

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु। यस्मान्नऽऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मेमनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ २२ ॥

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृते न सर्वम्। येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २३ ॥

जो ज्ञान, चेतना और धैर्य का साधन है जो प्रजाओं में अमर ज्योतिं-सा है। जिसके बिना कोई काम नहीं होता, वह मेरा मन शुद्ध पवित्र विचारों वाला हो ॥ २२ ॥

जिस अमृत रूप मन से यह सब भूत, वर्तमान् और भविष्यत् परिगृहीत होते हैं। जिससे सप्त शीर्षण्य प्राण सात होता रूप से यजन करते हैं वह मेरा मन शिवसंकल्पमय हो ॥ २३ ॥

जो प्रज्ञा बुद्धि धृतिमय प्रजा अन्तर में अमृत ज्योति है।
जिस बिना न कोई कर्म हो सके वह मेरा मन शिवसंकल्प हो ॥ २२ ॥
जिस अमृत से भूत भुवन भविष्यत् सर्व परिगृहित हैं।
जिससे सप्त होता यज्ञ रचें वो मेरामन शिवसङ्कल्प हो ॥ २३ ॥

जो पूज्य प्रजाओं में है अद्भुत अन्तस्थरूप मन।
हो शिवसंकल्पों वाला वह मेरा मन भगवन् ॥ २१ ॥
जिसमें धृति ज्ञान चेतना की जगती ज्योति निरन्तर।
अविनश्वर ज्योतिरूप है जो प्रजावर्ग के अन्दर ॥
जिस बिना न कोई होता है कहीं कार्य-सम्पादन।
होवे शिवसंकल्पों से मुक्त वह मेरा मन भगवन् ॥ २२ ॥
है परिगृहीत कालत्रय जिस अमृत रूप मन द्वारा।
शीर्षण्य प्राण से जिनसे है विशद् यज्ञविस्तारा ॥
सातों होताओं द्वारा जो ज्ञानयज्ञ रचता मन।
होवे शिवसङ्कल्पों से युत वह मेरा मन भगवन् ॥ २३ ॥

यस्मिन् ऋचः सामयजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः । यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ २४ ॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत् प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥२५॥

जिस मन में ऋक् यजुः, साम, अथर्व रथ की नाभि में अरों के समान प्रतिष्ठित हैं, जिसमें सर्व प्रजाओं के चित्त प्रोत हैं, वह मेरा मन शिवसंकल्पमय हो ॥ २४ ॥

सुसारथी अश्ववत् जो मनुष्यों को इतस्ततः ले जाता है । लगाम वाले घोड़ों तुल्य वह हृदय में प्रतिष्ठित सदा बलवान् वेगवान् मन शिवसंकल्पमय हो ॥२५॥

जिसमें ऋचा साम यजुः रथनाभि में अरेवत् प्रतिष्ठित हैं ।
जिसमें प्रजाओं को प्रोत चित्त वो मेरा मन शिवसङ्कल्प हो ॥ २४ ॥
सुसारथि अश्ववत् जो मनुष्यों को रज्जुवाजिवत् इतस्ततः ले जाये ।
हृत्प्रतिष्ठित अजिर सवेग वो मेरा मन शिवसंकल्प हो ॥ २५ ॥

यह ज्ञान-भक्ति-कर्म त्रय ऋक्सामयजु निगमागम ।
सम्पूर्ण निहित हैं जिसमें रथनाभिमध्य आरों सम ॥
है ओतप्रोत जिस मन में जंगम जग का चित चेतन ।
होवे शिवसङ्कल्पों से युत् वह मेरा मन भगवन् ॥ २४ ॥

यह बागडोर मनुजों की जो जहाँ तहाँ ले जाता ।
अश्वों को यथा सुसारथि मनवाँछित चाल चलाता ॥
जो हृदय अजिर सुप्रतिष्ठित् गतिवान् तीव्रगामी मन ।
होवे शिवसंकल्पों से युत् वह मेरामन भगवन् ॥ २५ ॥

स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते । शं राजन्नोषधीभ्यः ॥ २६ ॥ साम उत्तरा प्र०१-१-१

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥२७॥

(सः) वह तू (राजन्) राजनीय परमेश्वर (नः) हमारे (गवे) गायों आदि पशुओं, ज्ञानेन्द्रियादि में (शं) सुख-शान्ति (पवस्व) दे (जनाय) प्रजाजन के लिए (शं) शान्तिप्रद हो (अर्वते) अश्वादि में (शं) शान्ति हो, सुख हो। (ओषधीभ्यः शं) औषधियों के लिए शम् हो ॥ २६ ॥

(अभयं नः करति अन्तरिक्षं) हमे अन्तरिक्ष लोक में अभय प्राप्त हो (द्यावापृथिवी उभे इमें अभयं) द्यु पृथ्वी दोनों इन लोकों में अभय प्राप्त हो (पश्चात् अभयं पुरस्तात् अभयं उत्तरात् अधरात् नः अभयं अस्तु) पीछे से अभय आगे से अभय उत्तर से अभय नीचे से हमें अभय हो ॥ २७ ॥

गायत्री छन्द

शं गौओं को जन को शं, अश्वों को। औषधियों को शं वो तु
राजन् दे ॥ २६ ॥

त्रिष्टुप्

हमें अन्तरिक्ष अभय करे, द्यावापृथ्वी यह दोनों अभय हो।
पीछे से आगे से अभय उत्तर से अधः से अभय हमें होवें ॥ २७ ॥

हे दीप्यवान्! परमेश्वर! हे राजन् शोभाशाली।
गोआदि सकल पशु धनं हित दो सुखद शान्ति की लाली ॥
सन्तति हितार्थ स्वजनों को तुम दो सुशान्ति कल्याणी।
अश्वादिक गति जयसाधक पशुओं के लिए सुहानी ॥
भेषजों वनस्पतियों के सुनिमित्त शान्ति विस्तारो।
आरोग्य कान्ति सुन्दरता बलहेतु शान्तिसुख धारो ॥ २६ ॥
हो अभय निरापद हमको यह अन्तरिक्ष जग सारा।
हो अभय हमें यह द्यावा यह पृथ्वीलोक हमारा ॥

अभयं मित्रादभयं मित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात् ।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥२८॥

॥ इति शान्ति प्रकरणम् ॥

(मित्रात् अभयं अमित्रात् अभयं ज्ञातात् अभयं परोक्षात् अभयं) मित्र से अभय शत्रु से अभय, ज्ञात-अज्ञात से अभय हो । (नः अभयं नक्तं अभयं दिवा) हमें रात अभय तथा दिन अभय हों । (सर्वाः आशाः मम मित्रं भवन्तु) सम्पूर्ण आशा [१ दिशा । २ आशा] मेरी मित्र हो जायें ॥ २८ ॥

मित्र से अभय अमित्र से अभय ज्ञात आज्ञात् से अभय ।
नक्तको दिवा को हमें अभय, सर्वा आशा मेरी मित्र हो जाएँ ॥२८॥

तड़िता तुषार घन-गर्जन झंझा भीषण उल्कायें ।
सम्पूर्ण विघ्नजालों से हों अभय दाहिने बायें ॥
आगे से अभय हमारे पीछे से अभय हमारे ।
हो अभय हमें ऊपर से नीचे से सांझ-सकारे ॥ २७ ॥
मित्रों से प्राप्त अभय हो रिपुओं से प्राप्त अभय हो ।
ज्ञातों से अज्ञातों से भी हमको अभय अक्षय ।
[हम निर्भय होकर विचरें हमको न किसी से भय हो ।
साम्राज्य शान्ति का छाये आनंद अखण्ड अक्षय हो] ।
हो हमको निशा अभयप्रद हो दिवा अभयप्रद हमको ।
हो जायँ मित्र आशाएँ सम्पूर्ण निरापद हमको ॥ २८ ॥

॥ इति शान्तिप्रकरणस्य भाषान्तरम् ॥

[मंत्र संख्या ३१९]

शून्यद्विशून्यनेत्रेऽब्दे कार्तिकस्यासितेदले ।
अमायां शुक्रवारे च ग्रन्थोऽयम्पूर्तिमागतः ॥
अलिख्यत कारागारे पञ्चवर्षाणि प्राक्मया ।
पुनरद्य पूर्तिमागात् ग्रन्थोऽयं परिमार्जितः ॥
वेदस्य मूलमन्त्राणां व्याख्यानं राष्ट्रभाषया ।
रचितः ब्रह्मज्ञानाय सुखबोधाय सम्प्रति ॥
कृष्णलालात्मजः नाम रामनिवासोऽहं द्विजः ।
'कल्पपादपछायायां वेदस्य' कृति-लेखकः ॥

॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥



परिशिष्ट

पृथ्वीसूक्त

(अथववेद काण्ड १२ सूक्त १)

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्मयज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ १ ॥
असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु ।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी प्रथतां राध्यतां नः ॥ २ ॥

रूपमाला छन्द

बृहद् सत्य प्रकाश प्रभु, ऋत उग्र नियति विधान ।
कार्य करने का सुदृढ़ संकल्प दीक्षा-ज्ञान ॥
ब्रह्म-ज्ञान महान् तप-बल यज्ञ-पर उपकार ।
अन्न और प्रजापति यह धारते संसार ॥
भूमि भूत-भविष्य की जो पालिका समुदार ।
वह प्रदान करे हमें उरुलोक का उपहार ॥ १ ॥
जो कि मानव-संघ में है वसुमती उन्मुक्त ।
जो कि उन्नत निम्न सम बहु भाग से संयुक्त ॥
जो कि नाना वीर्यधारी औषधी को धार ।
कर रही है पुष्ट उनको पाल विविध प्रकार ॥
उसी पृथ्वी का हमें भी प्राप्त हो आधार ।
दे हमें सम्पति सुख फल अन्न का उपहार ॥ २ ॥

समछन्दानुवर्त्ती अनुवाद

सत्य-बृहत् ऋत-उग्र दीक्षा तप, ब्रह्मयज्ञ ये पृथ्वी धारते हैं ।
वो हमारी भूत-भव्य-पत्नी, उरुलोक पृथ्वी हमें करे ॥ १ ॥
मानवों के मध्य में असंबाध, जिसके निम्नोच्च तल सम बहु ।
नाना वीर्या जो औषधियाँ धारे, पृथ्वी हमें प्रथित प्राप्त कराये ॥ २ ॥

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टय संबभूवुः ।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥३॥
यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टय संबभूवुः ।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु॥४॥
यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठाभगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥ ५॥

जिस धरा पर सरित सिन्धु समुद्र अगणित आप ।
हो रहे उत्पन्न अन्न अनेक कृष्य कलाप ॥
हो रहा जिससे कि अनुप्राणित जगत् गतिमान ।
अन्न-जल से तृप्त जीवन धारता है प्राण ॥
पूर्व पुरुषों का हमें भी वह कराये पान ।
पेय उत्तम पय सलिल औषधि सरस बलवान् ॥ ३ ॥

कर रहे जिसकी समावृत विशद प्रदिशा चार ।
कर रही जिस पर कृषक उत्पन्न अन्नाहार ॥
वह हमें दे भूमि गोधन अन्न का उपहार ।
प्राणियों की जो कि पोषक भूमि विविध प्रकार ॥ ४ ॥

जिस धरा पर पूर्वकालिक पूर्व जन्मा देव ।
विविध विक्रम कार्य करते श्रेष्ठतम स्वयमेव ॥
असुर दुर्दमनीय पीड़क के दमन के योग्य ।
देव जन के हेतु वसुमति हो सुभग उपभोग्य ॥
जो धरा गो अश्व विहगों का विरामस्थान ।
भूमि वह हमको करे सौभाग्य वर्च प्रदान ॥ ५ ॥

जिसमें समुद्र सिन्धु आप हैं, जिसमें अन्न कृष्यादि हो रहे ।
जिसमें यह प्राण गतिशील, वह हमें भू पूर्व पेय धारे ॥ ३ ॥
जिस पृथ्वी की चार प्रदिशाएँ, जिसमें सम्यक् अन्न हो रहा है ।
जो धारे बहुधा प्राण चेतना, वो भूमि धारे गो अन्नों में हमें ॥ ४ ॥
जहाँ करें विक्रम पूर्व पूर्वज, जिसमें दबायें देव असुरों को ।
जो है निवास गो अश्वों खगों का वह पृथ्वी हमें भग वर्चस् धारे ॥५॥

विश्वम्भरा वसुधानीं प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशिनी ।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्र ऋषभा द्रविणे नो दधातु ॥६॥

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम् ।
सा नो मधुप्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥७॥

वसुमती विश्वम्भरा जो भरण-पोषण-शील ।
जो प्रतिष्ठा-मान-यश की वर्द्धिनी सुश्लील ॥
धारती निज वक्ष में जो रत्न खनिज हिरण्य ।
भूमि जगत निवेशनी दे हमें सुयश अनन्य ॥
जो धरा आधार जग के प्राणियों का प्राण ।
धारती जो अग्नि तेजस्वी नृपति द्युतिमान ॥
जो धरा ऋषभा बनी औ' वृषभ इन्द्रादित्य ।
द्रविण में हमको करे स्थापित वही भू नित्य ॥ ६ ॥
सतत सजग महान् राजन् अप्रमादी धीर ।
अन्नधनदा जिस धरा के सतत रक्षक वीर ॥
वह धरा हमको परम प्रिय मधुर मधु औ' अन्न ।
तेज वर्चस सुबल से करती रहे सम्पन्न ॥ ७ ॥

समछन्दानुवर्ती अनुवाद

विश्वंभरा वसुधानीं प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगत् की निवेशिनी ।
विश्वानर-अग्नि-इन्द्र को धारे [भरे] ऋषभा भूमि हमें द्रविण में धरे ॥६॥
जिस विश्वदानी भू पृथ्वी की, सजग देव सतत रक्षा करें ।
वो हमें मधु प्रिय दुहे वर्चस से भरे धरे ॥७॥

यार्णवेऽधि सलिलमग्न आसीत् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः। यस्यां हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः। सा नो भूमिस्त्विषं बलं दधातूत्तमे ॥ ८ ॥

यस्यामापः परिचराः समानारहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति। सा नो भूमिर्भूरिधारा पयोदुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ९ ॥

अग्र में जब सर्ग के आरम्भ का था लग्न।
मध्य अर्णव के धरा जो थी सलिल में मग्न॥
कर रहे जिस भूमि का निज बुद्धि सम्मत भोग।
बुद्धिमान महान् मेधावी मनीषी लोग॥
हृदय जिसका है अमृत ऋत सत्य से आवृत।
परम व्योम वितान में है सूर्य प्रेरक नित्य॥
वह समुत्तम राष्ट्र को दे तेज बल का दान।
भूमिमाता वह हमारा नित करे कल्याण॥ ८॥
जिस धरा पर आप्त जनसम पूर्ण जल की धार।
लोक-सेवाशील परिचर तुल्य पा विस्तार॥
बह रहे सर्वत्र परिव्राजक समान प्रपात।
अप्रमादी वह रहे जिस पर सतत दिन रात॥
भूरिधारा शील भू वह पुष्ट कर पय-पान।
तेज धन से सींचती हमको रहे भगवान्॥ ९॥

समछन्दानुवर्त्ती अनुवाद

अग्रार्णव में जो सलिलस्थ थी जिसमें मनीषीधियों से विचरें।
जिस पृथ्वी का हृदय परम व्योम में सत्य से ढका अमृत।
वह भू उत्तम में बल-तेज धारे॥ ८॥
आप परिचर समान जहाँ दिन-रात अप्रमाद झरतें।
वो भू हमें भूरिधारा पय दुहे वर्चस् से सींचती रहे॥ ९॥

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे ।
इन्द्रो याम् चक्र आत्मने ऽन मित्रां शचीपतिः ।
सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥
[इति प्रथमो दशति]
गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु ।
बभ्रु कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् ।
अजीतो ऽहतो अक्षतो ऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥ ११ ॥

भूमि जिसकी देव अश्विन नित्य करते माप ।
विष्णु जिसमें विविध करता सृष्टि कृत्य कलाप ॥
शचीपति राजेन्द्र करता शत्रु को निर्मूल ।
भूमिमाता वह रहे मुझ पर सदय अनुकूल ॥
करे मुझ सुत के लिए वह पुष्ट कर पय-पान ।
जिस तरह माता कराये स्वसुत को पय-पान ॥ १० ॥
[द्वितीय दशति]
भूमि तव हिमवन्त पर्वत गिरि अरण्य समस्त ।
हों सदा सुखप्रद मुझे मैं हूँ न बंधनग्रस्त ॥
रहूँ अपराजेय अक्षत स्वस्थ औ' स्वाधीन ।
हत न कोई कर सके मुझको समर में क्षीण ॥
विश्वरूपा रोहिणी कृष्णा ध्रुवा भू मात ।
इन्द्रगुप्ता रक्षिता पृथ्वी सुभरणी तात ॥
मैं अधिष्ठित रहूँ तुझमें भूमिमाँ सानंद ।
हे सकल उत्पादिके ! भू ! कर मुझे निर्द्वन्द ॥ ११ ॥

जिसको अश्विन् मापते विष्णु विक्रम करते ।
इन्द्र शचीपति जहाँ स्व शत्रुओं को मारे ।
वह भूमाता पुत्रार्थ मुझ पय बहाये ॥ १० ॥
तेरे हिमवन्त गिरिपर्वत अरण्य तव पृथ्वि ! स्योन हो ।
भरे तू कृष्णारोहिणी विश्वरूपा ध्रुवा भूमि पृथ्वी इन्द्रगुप्ता ।
मैं अजेय अक्षत अहत पृथ्वी में रहूँ ॥ ११ ॥

यत ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवः। तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माताभूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्त्तु ॥ १२ ॥

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः। यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात्। सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना ॥ १३ ॥

पृथ्वि ! जो तव मध्य एवं नाभिकेन्द्रित भाग।
जहाँ आत्मज ओज बलधर द्रव रहे विराज॥
हो रहे जो भी तुम्हारे प्रतनु से उत्पन्न।
कर प्रतिष्ठित उन सभी में दो मुझे बल अन्न॥
भूमिमाता कीजिये हमको पवित्र चरित्र।
ऊर्ज अपना दीजिए माँ हमें कान्त विचित्र॥
भूमि मेरी माँ तथा मैं हूँ धरा का पूत।
सर्व रसदाता पिता पर्जन्य सुखद प्रभूत॥
भूमिमाँ पालक तथा पर्जन्य हों अनुकूल।
वह हमारा पर्ण पालन करें सब रसमूल। १२॥
जहाँ करते विश्वकर्मा वेदियाँ निर्माण।
भूमि जिसपर लोक हितकर तने यज्ञ-वितान॥
जहाँ हवि से पूर्व रचते ऊर्ध्व शुक्र महान्।
दीप्तमय स्वरु याग-यूप अनूप शोभावान्॥
भूमि जिसपर सतत होते लोक हितकर काम।
वर्धमाना भूमि वर्द्धित करें हमें ललाम॥ १३॥

पृथ्वि ! जो तव मध्य, नाभि में तव तनुजन्य अर्ज हो रहा है।
उनमें हमें धर, पूत कर माता भूमि पुत्र मैं पृथ्वी का।
औ' पर्जन्य पिता वो हमें पाले॥ १२॥
जिसमें वेदियाँ धारी जा रहीं जिसमें यज्ञ रचते विश्वकर्मा।

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्याद् यो ऽभिदासान्मनसा यो वधेन तं नो भूमे रन्धेय पूर्व कृत्वरि ॥ १४ ॥

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः। तवेमे पृथिवि पञ्चमानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥ १५ ॥

जो कि हमसे द्वेष रखता या रखे दुर्भाव।
जो करे आक्रान्त मनद्वारा बुरा बर्त्ताव ॥
आयुधों अभियान से जो नाश में हो लीन।
उन हमारे द्वेषियों को भूमि कर आधीन ॥
तू बनी है पर्व से अरि-दमन के अनुकूल।
भूमि तू उच्छेद करदे शत्रुता का मूल ॥ १४ ॥
तुम्हीं से संजात तुम ही में विचरते मुक्त।
मर्त्य मानव द्विपद और चतुष्पदादिक युक्त ॥
तू सभी के हेतु है माँ भरण-पोषणलीन।
पंच मानव हैं तुम्हारे ही जननि! शालीन ॥
सूर्य जिनके हेतु होता हुआ उदय प्रभात।
तानता है रश्मियों से अमृत ज्योति प्रपात ॥ १५ ॥

जिस पृथ्वी के ऊर्ध्व स्वरु रचें शुक्रगण आहूति से पूर्व ॥
वो हमें वर्धमाना भू बढ़ायें ॥ १३ ॥

जो हमसे द्वेष दुर्भाव करे, मन से दबाये वधलीन जो।
उसे तू भू पूर्व कृत्वरि मार दे ॥ १४ ॥

तव-जात तुझमें विचरें मर्त्य, तू पोषे द्विपद-चतुष्पद।
पृथ्वि ! तुझमें पंच मानव ये, जिन मर्त्यों को सूर्य उदय होता
अमृत-ज्योति रश्मि ताने ॥ १५ ॥

ता नः प्रजाः सं दुह्रतां समग्रा । वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम् ॥ १६ ॥

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम् । शिवां स्योनामनुचरेम विश्वहा ॥ १७ ॥

वह समस्त प्रजा करें सम्यक् हमें परिपूर्ण ।
वाक् में मुझको मधुरता दो जननि संपूर्ण ॥
वह प्रजाएँ करें हमसे मधुसना आख्यान ।
हे मधुरिमा स्रोतभूमे ! दो मुझे मधुदान ॥ १६ ॥

भेषजों की माँ तुम्हीं विश्वस्व हे सर्वस्व ।
हों तुम्हीं सम्पूर्ण औषधि मूल जीवन सत्त्व ॥
तुम ध्रुवा हो धर्म द्वारा धृता शिवा अनूप ।
मेदिनी सुखकारिणी उत्पादिनी अनुरूप ॥
सर्वदा सुखदा करें विचरण परम अभिराम ।
हे महा अचला स्थिरा वसुधा विनीत प्रणाम ॥ १७ ॥

वो हमें प्रजा समग्र संदुहे मेरी वाक् में मधु पृथ्वि ! धराओ ॥१६॥
विश्वस्व ओषधि-माता ध्रुवा भूमि पृथ्वी धर्म से धारिका शिवा ॥
सुखदा को हम अनुचरें सदा ॥१७॥

महत् सधस्थं महती बभूविथ महान् वेग एजथुर्वेपथुष्टे महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम्। सा नो भूमे प्ररोचय हिरण्यस्येव संदृशिमानो द्विक्षत कश्चन ॥ १८ ॥
अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु।
अग्निरन्तःपुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः ॥ १९ ॥
अग्निर्दिव आतपत्यग्नेर्देवस्योर्वन्तरिक्षम्।
अग्निं मर्त्तास इन्धत हव्यवाहं घृतप्रियम् ॥ २० ॥

हे महत् सहवास-स्थल तू तू महान् विराट्।
तज प्रमाद महेन्द्र रक्षणशील तव सम्राट्॥
वेग भी तेरा महा तू महा गौरववान्।
संचलन तेरा महा है प्रगति कम्प महान्॥
हे सुभूमे! हो मुझे तू रुचिर स्वर्ण समान।
द्वेष कोई भी न हमसे करे भूमि महान्॥ १८ ॥

भूमि तव अंचल प्रतिष्ठित अग्नि ज्योतिर्मान।
धारता है अग्नि ओषधि रूप में जल-प्राण॥
भूमि तेरी अग्नि से है जगत् जीवन साज।
प्रस्तरों में नरों में तव अग्नि रही विराज॥
गोधनों में अश्व में है जीवनाग्नि त्वदीय।
विविध रूपा अग्नि भूमे! तव अनिर्वचनीय॥ १९ ॥

तप रहा है अग्नि ही दिवलोक से भी नित्य।
अन्तरिक्ष विशाल भी आधीन देवादित्य॥
मर्त्य जन भी हव्यवाहक आज्यप्रिय तव आग।
कर प्रदीप्त सफल बनाते नित्य नूतन याग॥ २० ॥

महत् सहस्थानी महती हो महावेग गति करे कम्पित हो तू।
सजग महेन्द्र तेरी रक्षा करे वो हमें भू तू रुचिरा हो॥
स्वर्ण की ही संदृशि कोई द्वेषी न हो मेरा॥१८॥
भू-अग्नि भेषजों में अग्नि आप धारे अग्नि अश्म में।
अग्नि पुरुषों में गौओं अश्वों में अग्नियाँ॥१९॥
अग्निदेव की अग्नि ही दिव अन्तरिक्ष में तपे।
हव्यवाह घृतप्रियाग्नि मर्त्यदीपित करें॥२०॥

अग्निवासा पृथिव्यसितज्ञूस्त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु ॥२१॥
भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमकरं कृतम् ।
भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्या ।
सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु ॥ २२ ॥

अग्निवासा ! अग्नि से तू भूमि ओत-प्रोत ।
असित अधिपति अग्नि का तू ज्ञानवर्द्धक स्रोत ॥
भूमि तेरे बाह्य भीतर अग्नि है आच्छन्न ।
तू जनाती सकल बन्धनमुक्त ईश अनन्य ॥
अग्निवासा ! असित ज्ञाता भूमि ! दो वरदान ।
कर मुझे सुतीक्ष्ण तेजस्वी प्रखर द्युतिमान ॥ २१ ॥

भूमि जिस पर जन निरन्तर परम शोभावान् ।
देवगण को हव्य एवं यज्ञ करें प्रदान ॥
भूमि पर ही मरणधर्मा मर्त्य मानव लोग ।
स्वधा द्वारा अन्न से करते स्वजीवन योग ॥
भूमि मर्त्यों के लिए जो प्राणदा संस्थान ।
वह करे जरदष्टि मुझको प्राण आयुप्रदान ॥ २२ ॥

अग्निवासा ! पृथिवि ! असितज्ञ संतीक्ष्ण तेजस्वी कर मुझे ॥ २१ ॥
भूमि में देव देते हैं, यज्ञ हव्य कृत करते । भूमे मनुष्य जीते हैं,
मर्त्य स्वधान्न से। वो हमें पृथ्वी प्राणायु धारण करावे,
जरदष्टि मुझे करे ॥ २२ ॥

यस्ते गन्धः पृथिवि संबभूव यं विभ्रत्योषधयो यमापः ।
यंगन्धर्वा अप्सरश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु मानो द्विक्षत
कश्चन ॥ २३ ॥

यस्ते गन्धः पुरष्कमाविवेश यं जभ्रु सूर्याया विवाहे
अमर्त्याः पृथिवि गन्धमग्रे तेन मा सुरभिं कृणु । मा नो द्विक्षत
कश्चन ॥ २४ ॥

पृथ्वि ! तुझमें राजती जो मधुर मनहर गन्ध ।
वहन करती जिसे औषधि तरल जल स्वच्छन्द ॥
करें जिसका सतत सेवन अप्सरा गन्धर्व ।
माँ सुरभि की मूल मुझको दो सुरभि वह सर्व ॥
करो सुरभित माँ हमारा बाह्य अन्तरदेश ।
करे कोई भी न हमसे द्वेष ईर्ष्या लेश ॥ २३॥
जो तुम्हारी गन्ध पुष्कर में प्रविष्ट विशेष ।
गन्ध अग्रिम जिसे धरते हैं अमर्त्य निवेश ॥
सूर्या की प्राप्ति प्रात विवाह पर जो पूर्व ।
धारते जो गन्ध अग्रिम देव अमर अपूर्व ॥
उस सुरभि से करो सुरभित माँ मुझे सविशेष ।
करे कोई भी न हमसे द्वेष ईर्ष्या लेश ॥ २४ ॥

पृथ्वि ! जो तव गन्ध हो रही जो धारें औषधियाँ जो आप हैं ।
जो गन्धर्वाप्सरा सेवें उससे मुझे सुरभित करो ना हमसे द्वेषे कोई ॥२३॥
जो तव गन्ध पुष्कर में बसी जो गन्धअग्र में अमर्त्यों ने ।
सूर्या के विवाह में धारी उस सुरभि को दे मुझे ना हमसे द्वेषे कोई ॥२४॥

यस्ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः। यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषूत हस्तिषु। कन्यायांवर्चो यत् भूमे तेनास्मां अपि संसृज मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ २५ ॥

शिलाभूमिरश्मापांसुः सा भूमिः संधृता धृता। तस्यै हिरण्य वक्षसे पृथिव्या अकरं नमः ॥ २६ ॥

गन्ध जो तव पुरुष एवं स्त्रियों में रम्य।
मानवों में कान्त जो सौभाग्य रुचिर अनन्य ॥
अश्व में जो वीर जन में जो मृगों में गन्ध।
गन्ध मनहर जो तुम्हारी हस्तियों में गन्ध ॥
जो तुम्हारा रम्य वर्चस् कान्ति का उपहार।
है कुमारी सरल-कन्यावर्ग मध्य अपार ॥
उसी वर्चस् गन्ध से कर मुझे युक्त विशेष।
करे कोई भी न हमसे द्वेष ईर्ष्या लेश ॥ २५ ॥
भूमि ही हैं यह शिलाएँ भूमि हैं चट्टान।
भूमि प्रस्तरखण्ड एवं धूलिकण भू-मान ॥
भूमि सम्यक् धारिका जो है धृता अभिराम।
उसी भूमि सुवर्णवक्षा को अशेष-प्रणाम ॥

जो गन्ध पुरुष स्त्रियों में जनों भगरुचि। जो अश्वों में वीरों में जो मृगों में हस्तियों में।
कन्याओं में वर्च जो उससे युक्त कर मुझे। ना हमसे द्वेषे कोई ॥ २५ ॥
शिला अश्मा धूलि वह भूमि संधारिका धृता।
उस स्वर्णवक्षा पृथ्वी को हम नमन करें ॥ २६ ॥

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा । पृथिवीं विश्वधायसं धृतमच्छा वदामसि ।। २७ ।।

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः । पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ।। २८ ।।

विमृग्वरीं पृथिवीमावदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम् । ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभिनिषीदेम भूमे ।। २९ ।।

भूमि ही हैं यह शिलायें भूमि हैं चट्टान ।
भूमि प्रस्तरखण्ड एवं धूलिकण भूमान ।।
भूमि सम्यक् धारिका जो है धृता अभिराम ।
उसी भूमि सुवर्णवक्षा को अशेष प्रणाम ।। २६ ।।

वनस्पति वनराजि जिस पर विश्व वृक्ष समाज ।
धरें अगणित रूप सुस्थिर अचल रहे विराज ।।
विश्व धायस उस धृता की स्तुति करें हम आज ।
हो रहे जिन पर निरन्तर स्वस्तिकारी काज ।। २७ ।।

बैठते चलते खड़े होते हुए गतिमान ।
वाम-दक्षिण चरण पायें भूमि पर पीड़ान ।। २८ ।।

विमृग्मरि ! हे पावनी ! धरिणी ! क्षमा ! सहमान !
ब्रह्म द्वारा है निरन्तर वृद्धिमती महान् !
भूमि पृथ्वी ! मैं तुम्हारा जननि करता गान ।
ओज पौष्टिक अन्नधन की धारिणी श्रीमान् ।।
हम करें सर्वत्र भूमे ! क्रोड़ में तव वास ।
जननि तेरी स्तुति सदा करते रहें सुखराशि ।। २९ ।।

जिसमें वृक्ष वानस्पत्य ध्रुव स्थित हैं सदा ।
पृथ्वी विश्वधायस धृता को हम शुभ कहें ।। २७ ।।

बैठते खड़े चलते हम गति करते वा ।
दायें बायें चरण से न व्यथित हों भूमि में ।। २८ ।।

विमृग्वरी पृथ्वी को शुभ कहूँ क्षमा भूमि ब्रह्म से वर्द्धित को ।
ऊर्ज पुष्ट अन्नभाग घृत को धारती भूमे ! तुझमें रहें ।। २९ ।।

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुर प्रिये तं निदध्मः । पवित्रेण पृथिविमात् पुनामि ।। ३० ।।

यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद् याश्च पश्चात् । स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा निपप्तं भुवने शिश्रियाणः ।। ३१ ।।

शुद्ध बहे प्रवाह तन में नित हमारे भ्रात ।
कष्ट जो भी हो हमारा करें अरि का साथ ।।
करूँ मैं निज को पवित्र चरित्र हो सुपुनीत ।
डाल अप्रिय पर विपद् गाऊँ तुम्हारे गीत ।। ३० ।।

[इति तृतीय दशति]

जो प्रदेश त्वदीय प्राची में उदीची बीच ।
जो कि नीचे और पीछे जो प्रतीची बीच ।।
मुझे विचरण हित सभी हो सुखद रम्य प्रदेश ।
मैं करूँ सेवन सभी का हूँ न पतित निमेष ।। ३१ ।।

शुद्ध धारा हमारे तन में झरें जो कष्ट, अप्रिय में रखें ।
पवित्र से पृथ्वी ! पवित्र होऊँ ।। ३० ।।

जो तुम्हारी प्रदिशाएँ उदीची प्राची जो अध, वा पश्चात् जो भूमे !
स्योना हों मुझे विचरण को आश्रित भुवन में न पतित हूँ ।। ३१ ।।

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठामोत्तरादधारादुत।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन् परिपन्थिनो वरीयो याव-
यावधम् ॥ ३२ ॥

यावत् तेऽभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना। तावन्मे
चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ३३ ॥

कर न आगे से न पीछे से कभी आघात।
तू न अपर निम्न पथ से दीजिये दुख मात॥
तू हमारे हेतु हो माँ स्वस्तिमती अक्रूर।
पंथ निष्कंटक रहें बटमार से हो दूर॥
विषम वधिकों आयुधों को दूरकर कर त्राण।
कीजिये समुचित हमारा भूमि माँ कल्याण॥ ३२ ॥
मित्र सूर्य प्रकाश द्वारा क्षितिज तट तक मात।
मैं करूँ यावत् तुम्हारा मेदिनी साक्षात्॥
उत्तरोत्तर वर्ष तावत् हो न चक्षुविनाश।
दृश्य मैं लखता रहूँ कर नयन ज्योति विकाश॥ ३३ ॥

हमें ना पीछे ना आगे ना उत्तर नीचे दुःखदो भू।
भूमे! स्वस्ति हो हमें, न परिपन्थी वरीय वध को उनमें रहें॥ ३२ ॥
यावत् तुझमें देखूँ मैं सूर्य से मेदिनी तक।
त्यों मम चक्षु क्षीण न उत्तरोत्तर काल हों॥ ३३ ॥

यच्छयानः पर्यावर्त्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम् उत्ता-
नास्त्वा प्रतीचीं यत् पृष्ठीभिरधिशेमहे । मा हिंसीस्तत्र नो भूमे
सर्वस्य प्रतिशीवरि ॥ ३४ ॥

यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु । मा ते मर्म
विमृग्वरि माते हृदयमर्पिपम् ॥ ३५ ॥

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः ।
ऋतवस्ते विहिताहायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ॥ ३६ ॥

जब शयन में करवटें लें पार्श्व दक्षिण वाम ।
जब करें उत्तान हो हम पीठ से विश्राम ॥
तब सभी को वक्ष अपना बना शयनागार ।
हे सुलाने हारि माँ! हमको कभी मत मार ॥ ३४ ॥
विमृग्वरि! तव मर्म को पहुँचे न हमसे कष्ट ।
जब कभी खोदें खनिज तो हों समूल न नष्ट ॥
खोदने या काटने पर त्रिविध उपज अरण्य ।
शीघ्र उग आएँ पुनः तव हृदय भेषज वन्य ॥ ३५ ॥
ग्रीष्म वर्षायें शरद् हेमन्त शिशिर वसन्त ।
विहित ऋतुएँ ये तुम्हारी अहोरात्र अनन्त ॥
ये तुम्हीं से जन्य भूमे! सुख हमें पहुँचाय ।
फूल फल खाद्यान्न भेषज अभिलषित दे जायँ ॥ ३६ ॥

जो सोते हुए करवटें लेते दाईंबाईं ओर हों भू!
सीधे पीठ से लेटे तुझमें विश्राम करें जो,
तो मत मार हमें तू सबकी प्रतिशी वरि! ॥ ३४ ॥
जब तुझे मैं वि-खोदूँ तभी शीघ्र उग आये ।
विमृग्वरि! तेरे मर्म ना हृदय को कष्ट हो ॥ ३५ ॥
भूमे तव ग्रीष्म वर्षा शरद् हेमन्त शिशिर वसन्त ।
ये ऋतुएँ तव विहिता जात अहोरात्र पृथिवि! हमें दुहे ॥३६॥

व्रापसर्पं विजमाना विमृग्वरी यस्यामासन्नग्नयोये अप्स्वन्तः। परादस्यून ददति देवपीयूनिन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम्। शक्राय दध्रे वृषभाय वृष्णे ॥ ३७ ॥

यस्यां सदो हविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते।
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे ॥३८॥

विमृग्वरी विशुद्धकारी कुटिल सर्पाक्रान्त।
आप में अग्नियाँ जिसमें हैं प्रदीप्त नितान्त॥
भूमिदेव विनाशकारी दस्युओं को त्याग।
वरण करती इन्द्र को कर वृत्र असुर विराग॥
वीर्यशाली शक्र के प्रति वृषभ धेनु समान।
जो समर्पित मेदिनी है निखिल धन की खान॥ ३७॥

भूमि जिस पर सद विनिर्मित हविर्धानवितान।
भूमि जिसपर यूप अध्वर हो रहे निर्माण॥
भूमि जिस पर यज्ञवेत्ता ब्रह्मविद् विद्वान्।
अर्चना करते ऋचा से साम से कर गान॥
सोम का सम्यक् कराने के लिए उपभोग।
इन्द्र को समवेत होते जहाँ ऋत्विज लोग॥ ३८॥

जहाँ सद् हविर्धान में यूप जिसमें बनें।
ब्रह्मा जिसमें अर्चते ऋक् सामों से यजुर्विद्।
जिसमें सोमपानार्थ इन्द्र को ऋत्विज जुड़ें ॥३८॥

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः ।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥३९॥
सा नो भूमिरादिशतु यद्धनं कामयामहे ।
भगो अनु प्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥४०॥
यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलवाः । युध्यन्ते
यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः । सा नो भूमिः प्रणुदतां
सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥ ४१ ॥

पूर्व जिसमें भूत कृत ऋषि स्तवन करे अभंग ।
सात सत्रों और वेधा यज्ञ तप के संग ॥३९॥
कामना हम करें जिस धन की वही मिल जाय ।
भूमिमाता अभिलषित धन दे हमें सुविताय ॥
भग हमें ऐश्वर्यशाली हों सदैव सहाय ।
इन्द्र को सब कार्य में हम अग्रगामी पाँय ॥४०॥

भूमि जिस पर मर्त्य करते विविध स्वर से गान ।
नृत्य करते युद्ध करते बाजते नीशान ॥
वह हमारे शत्रुओं को परे करे सपत्न ।
भूमि वह ही करे मुझको पूर्णतः असपत्न ॥ ४१ ॥

जिसमें पूर्व में भूतकृत ऋषि गाते स्तुति ।
वेधा की सप्त सत्र से यज्ञ से तप सहित ॥३९॥
वह भू हमें दिलाये जो धन भी हम चाहें ।
भग अनुकूल वर्त्तें इन्द्र पुरोगव आये ॥४०॥
जिस भू में गायें नाचें मर्त्यं विविध स्वरों से ।
युद्ध करते आक्रन्द जिसमें बजें दुन्दुभी ।
वो भू मुझे असपत्न करे हमारे सपत्नों को प्रीणन करे ॥४१॥

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः । भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥ ४२ ॥

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते । प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशांरण्यां न कृणोतु ॥ ४३ ॥

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहावसुर्माणं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे । वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्य माता ॥ ४४ ॥

भूमि जिस पर धान्य यव इत्यादि नाना अन्न ।
भूमि जिस पर पंच मानव हो रहे उत्पन्न ॥
सलिल वर्षा से धरा जो पूर्णतः सम्पन्न ।
नमन उस पर्जन्यपत्नी भूमि को हो अन्न ॥ ४२ ॥
भूमि जिस पर देवकृत हैं पुर नगर अभिराम ।
और जिसके क्षेत्र में करते विविध रण काम ॥
विश्वगर्भा अदिति पृथ्वी को प्रजेश समर्थ ।
सब दिशाओं से करे रमणीय सबके अर्थ ॥ ४३ ॥
धारती जो भूगुहाओं में विविध निधिखान ।
वह मुझे करती रहे वसु मणि हिरण्य प्रदान ॥
वही दिव्या भूमि वसुदा दे विविध वसुदान ।
सुमन-माता पुष्ट हम सबको करें श्रीमान ॥ ४४ ॥

जिसमें अन्न व्रीहि जौ जिसके पंच मानव ये ।
नमन् हो वर्षासिक्त को भूमि पर्जन्य पत्नी को ॥ ४२ ॥
पुरदेवकृत जहाँ क्षेत्रों में विक्रम होते ।
प्रजापति विश्वगर्भा पृथ्वीको आशाआशा को हमें रम्य करे ॥ ४३ ॥
निधि धारती बहुधा गर्भ में वसु मणि हिरण्य पृथ्वी मुझे दे ।
वसुदा हमें वसुओं को देती देवी सुमन माता धारें हमें ॥ ४४ ॥

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥ ४५ ॥

यस्ते सर्पो वृश्चिकस्तृष्टदंश्मा हेमन्तजब्धो भृमलो गुहाशये ।
क्रिमिर्जिन्वत् पृथिवी यद्यदेजति प्रावृषि तन्न सर्पन्मोपसृपद्
यच्छिवं तेन नो मृड ॥ ४६ ॥

विविधधर्मा विविध वाचक जनों को अनुकूल ।
यथाविधि अनुसार बहुधा पालिका सुखमूल ॥
अनायास ध्रुवा धरा से धेनुतुल्य उदार ।
उसी गो से द्रविण की दोहें अनेकों धार ॥ ४५ ॥
सर्प वृश्चिक तीक्ष्ण दंष्ट्रा जन्तु जो दुर्दान्त ।
गुहाशयित त्वदीय जो भ्रमरादि शीताक्रान्त ॥
जो कि पावसजन्य कृमि गतिशील सरीसृपभेक ।
वह न हम तक रेंगते आएँ कभी दुख रेख ॥
अन्य जो शिव रूप मंगल मूल हों अनुकूल ।
भूमि तू उससे सुखी कर दे हमें आमूल ॥४६॥

बहुधा विविध वाचक जन धारे नाना धर्मों को यथा गृही ।
सहस्र द्रविण की धारा मुझे दुहें ध्रुव धेनुवत् अबाध भू ॥ ४५ ॥
जो तव बिच्छू तीक्ष्णदंष्ट्रा शीताक्रांत भ्रमर गुहाशयित ।
कृमि जो जो वर्षाजन्य, चलें वे न पास रेंगे ।
पृथ्वी जो शिव हो उससे सुखी करा हमें ॥ ४६ ॥

ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे यैः। संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवः तेन नो मृडय ॥ ४७ ॥

मल्वं बिभ्रती गुरुभृद् भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः। वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय विजिहीते मृगाय ॥ ४८ ॥

वीथियाँ पगडंडियाँ जन-पथ अनेक त्वदीय।
रथ शकट वाहन विविध गमनार्थ पथ रमणीय॥
पथ जिस पर संचरित है सतत उभय प्रवृत्त।
भद्रगण एवं निरन्तर पापरत दुर्वृत्त॥
उन सभी जन-पथों को हम जय करें स्वाधीन।
हों निरापद हों अतस्कर सुपथ शत्रु-विहीन॥
अन्य जो शिवरूप मंगल मल हों अनुकूल।
भूमि तू उस से हमें कर दे सुखी आमूल॥ ४७॥
तू मलिन मल मूर्ख एवं परम गौरववान्।
तुच्छ पूर्ण नगण्य एवं अग्रगण्य समान॥
धूलिकण को भी तथा गम्भीर गुरु गिरिभार।
धारती है तू सभी को भूमि सर्वाधार॥
भद्रपापी के निधन को तुल्य सहती मात।
तू वराहों सूकरों से तुल्य करती बात॥
वन्य पशुओं के लिए भी त्यागती तू स्थान।
तू सभी की पालिका है मात एक समान॥ ४८॥

जो तेरे बहुशः पथ जनों के लिए हैं जो रथ के मार्ग हैं तेरे।
जिनमें भले बुरे दोनों चलें वे अतस्कर अशत्रु,
पथ जीतें शिव जो हो उससे सुखी करा॥ ४७॥
मल्व गुरु सर्व धारे भद्रपापी मृत्यु सहनशीला।
पृथ्वी वराह से संवादती सूकर मृगों को स्थान त्यागती॥ ४८॥

ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति । उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित ऋक्षाकां रक्षो अप बाधयास्मत् ॥ ४९ ॥

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः ।
पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद्भूमे यावय ॥ ५० ॥

जो कि तेरे वन्य पशु हैं मृग तथा पुरुषाद ।
मनुजभक्षी विचरते हैं सिंह-व्याघ्र अबाध ॥
स्यार वृक् दुखहेतु ऋच्छसमूह राक्षस क्रूर ।
इन सभी को तू हमारे पाससे रख दूर ॥ ४९ ॥

गन्धलोलुप जो विलासी अप्सरा गन्धर्व ।
और जो निष्क्रिय निकम्मे कृपण दम्भी सर्व ॥
क्रूरकर्मा मांसभक्षी रक्ष-कुल संघात ।
दूर हमसे कर पिशाचादिक सभी को मात ॥ ५० ॥

आरण्य पशुमृगादि हितैषी जो तेरे नरभक्षी सिंह-व्याघ्र विचरें ।
स्यार वृक पृथिवि ! दुखदायी ये ऋच्छ राक्षस दूर कर हमसे ॥४९॥
जो गन्धर्व अप्सराएँ जो निकृष्ट दीनदंभी ।
सर्व पिशाच राक्षस उन्हें हमसे भूमे ! हटा ॥५०॥

यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना
वयांसि । यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि कृण्वंश्च्यावयंश्च
वृक्षान् वातस्य प्रवामुपवामनुवात्यर्चिः ॥ ५१ ॥

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि ।
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये
धामनि धामनि ॥ ५२ ॥

भूमि जिसपर द्विपद्पक्षी हंसवर्ग सुपर्ण।
शक्तिशाली विहग उड़ते विविधरूप विवर्ण॥
जहाँ चलता मातरिश्वा चण्ड झंझावात।
धूलि औ' आँधी उड़ाता गिरा द्रुम संघात॥
जहाँ वायु प्रवेग से बहता निरन्तर साथ।
बह रही है अग्निज्वाला लू जलाती गात॥ ५१ ॥
भूमि जिसपर कृष्ण एवं अरुण वासर रात।
संग रहते संग्रथित सम्बद्ध सम्यक् साथ॥
जोकि वर्षाजल समावृत्त भूमि प्रिया ललाम।
भद्रता से आवृत्ता धारे हमें सब धाम॥ ५२ ॥

जो द्विपाद् उड़ते पक्षिगण हंस सुपर्ण सशक्त विवर्णा।
जिसमें वात मातरिश्वा चले धूलि उडाती गिराती वृक्षों को।
वात की प्रवाम उपवाम पीछे चले॥ ५१ ॥
जिसमें कृष्ण-अरुण सहित अहोरात्र में विहित भूमि में।
वर्षा से भू घिरी पृथ्वी भद्र से घिरी प्रिया,
वह हमें धारे प्रिया सर्वधामों को॥ ५२ ॥

द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः ।
अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च संसदुः ।। ५३ ।।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् ।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहि ।। ५४ ।।

अन्तरिक्ष विशाल विस्तृत यह धरा आकाश ।
लोकत्रय मेरे लिए ही हैं समस्त निवास ।।
अग्नि भू स्थित सूर्य द्यु स्थित लोक के आधार ।
अन्तरिक्ष प्रदेश में स्थित आप दिव्याधार ।।
सर्व लोकों में निहित स्थित दिव्य-शक्ति स्वरूप ।
विश्वदेव सुबुद्धि मेधा दें मुझे अनुरूप ।। ५३ ।।

श्रेष्ठतर सहमान हूँ मैं अहा उत्तर नाम ।
सब दिशाओं से विजेता विश्वजयी ललाम ।।
सर्व आशाएँ करूँ जय पूर्णतः सविशेष ।
सहनशील विशिष्ट मैं वश में करूँ दिग्देश ।। ५४ ।।

द्यौ मुझको ये पृथिवी अन्तरिक्ष व्यापक औ' ।
सूर्य अग्नि आप विश्वेदेवा सम्यक् मेधा देंवे ।। ५३ ।।
मैं हूँ सहमान भू में उत्तर श्रेष्ठतर हूँ ।
अभीषाड् विश्वाषाड् हूँ, आशा आशा विषासहि ।। ५४ ।।

अदो यद् देवि प्रथमाना पुरस्ताद् देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम् ।
आ त्वा सुभूतम विशत् तदानीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः ॥५५॥

ये ग्रामा यदरण्यं या सभा अधिभूम्याम् ।
ये सङ्ग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥ ५६ ॥

विविध रूपों से अनिर्वचनीय विशद अपार ।
जब किया स्व स्वरूप का तूने महाविस्तार ॥
देवि पृथिवि ! पूर्व तव ही देवगण विद्वान् ।
तुझे प्रथमाना कथन कर दे गये सम्मान ॥
हैं तुझी में ही प्रविष्ट विशिष्ट सर्वसुभूत ।
यथाकाल रचे चतुर्दिक विविध प्रान्त प्रभूत ॥ ५५ ॥

भूमि जो तुझमें अवस्थित विजन वन अभिराम ।
जो तुम्हारे क्रोड में शोभित नगर-पुर-ग्राम ॥
जो सभाएँ जो समितियाँ संगठन के काम ।
क्षेत्र हैं विस्तीर्ण एवं जो अमित संग्राम ॥
इन सभी के मध्य हम शुभ लें तुम्हारा नाम ।
चारु वचनों से तुम्हें करते विनीत प्रणाम ॥ ५६ ॥

जो विशद व्याप्ति से तू देवों से पूर्व प्रथमाना महिमा कही ।
सुभूत तुझी में प्रविष्ट हुए यथाकाल चार प्रदिशा रचीं ॥ ५५ ॥
जो ग्राम जो अरण्य हैं, जो सभा भूमि पर ।
जो संग्राम समितियाँ उनमें तुझे चारु कहें ॥ ५६ ॥

अश्व इव रजो दुधुवेषि तान् जनान् य आक्षियन् पृथिवीम् । यादजायतमन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्यगोपा वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम् ॥ ५७ ॥
यद् वदामि मधुवत् तद् वदामि यदीक्षे तद् व नन्तिमा ।
त्विषीमानस्मि जूतिमान वान्यान हन्मि दोधतः ॥ ५८ ॥

हुई जब से तुम तभी से आज तक संजात ।
सकल जन जो भी तुम्हारे क्रोड में हे मात ॥
हुए तुझसे और तुझमें हो गये वह लीन ।
युक्त और वियुक्त ज्यों अपदार्थ रजकण दीन ॥
अश्व जैसे धूलिकण को कर विकंपित गात्र ।
झाड़ देता झाड़ती त्यों भूमि तू जन मात्र ॥
चिर प्रसन्ना हर्षदा सुखमूल भूमि महान् ।
भूवन गोपा भूमि तू अग्रेत्वरी गतिवान् ॥
गर्भ में तू ग्रहण करती धारकर प्रतिपाल ।
सकल औषधिचय वनस्पतिवर्ग विविध रसाल ॥ ५७ ॥
जब कभी बोलूँ जननि मैं होमधुर तब बोल ।
जननि ! मेरी हृदय-रसना में मधुर मधु घोल ॥
करें आदर सब करें भव विश्व योगक्षेम ।
जब कभी देखूँ सभी देखें मुझे सप्रेम ॥
मैं बनूँ अतिक्रान्तिशाली तेजमय श्रीमान ।
अतिपराक्रमशील एवं परम आभावान ॥
शत्रु जो मुझसे करें विद्वेष क्रोध अपार ।
तेज शमदम से सकल को मैं गिरा दूँ मार ॥ ५८ ॥

अश्व ज्यों रज झाड़े त्यों जो पृथ्वी जनों को फैंकती है ।
जिससे हुए इन्द्रा अग्रेत्वरी वन भुवनगोपा वनस्पति औषधि गर्भ धारे॥५७॥
जो बोलूँ मधुवत् बोलूँ जो देखूँ देखें मुझे भद्र बोलें ।
त्विषीमान जूतिमान विक्रमी हूँ तेज से हनूँ ॥ ५८ ॥

शान्ति वा सुरभिः स्योना कीला लोध्नी पयस्वती ।
भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसासह ॥ ५९ ॥
यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तरर्णन्ते रजसि प्रविष्टाम् ।
भूजिष्यं पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवन्मातृमद्भयः ॥६०॥

शान्तिवाहक सुरभिवाली सुखद अमृत समान ।
सब सुधोपम रस सुरभि समधारिके ! स्वस्थान ॥
सकल पौष्टिक पय सहित हे पयस्वती उदार ।
दो मुझे आशीष भूसे पृथ्वी ! मधु आगार ॥ ५९ ॥

रजस् लोक महान अर्णव सन्निविष्ट प्रविष्ट ।
विश्व कर्मी को धरा तू सृष्टि हेतु अभीष्ट ॥
जो गुहा आकाश में है निहित रक्षित पात्र ।
पात्र सारी भोग्य सामग्री सुसज्जित पात्र ॥
मातृवत् जो मानते उनके लिए साक्षात् ।
भोग अवसर पर प्रकट जो वत्सला भूमात ॥
प्रचुर देती है सुतों को माँ यथा सुपदार्थ ।
वसुमती देती तथावत् सौख्य जनलाभार्थ ॥ ६० ॥

शान्ति सुरभि सुखदा कीला लोध्नी पयस्वती ।
पय-सहित पृथ्वी भू मुझको आशीष देवे ॥ ५९ ॥
अन्तीरक्षार्णव प्रविष्टा विश्वकर्मा को हवि से अभीष्ट ।
गुहास्थित भूजिष्य पात्रजो, प्रकटे भोगकाले मातृवत् जनों को ॥६०॥

त्वमस्या वपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना। यत् त
ऊनं तआपूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ।। ६१ ।

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिविप्रसूताः।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं वलिहृतः स्याम ।।६२।।

पृथिवि ! आवपनी जनों को रही उत्पन्न ।
क्षेत्र में होता यथा त्यों हों वपन से अन्न ।।
तू अदिति अविभाज्य अक्षय औ' अखण्डित वेश ।
भूमि प्रपथाना विशाला भारवह सविशेष ।।
पूर्ण करती प्राणियों की कामना सम्पूर्ण ।
ऋत नियम संसार से भी पूर्वजन्मा पूर्ण ।।
जो कमी आती उसे आपूर्ण करते देव ।
अन्नपूर्णा तू प्रजापति से सदा अत एव ।। ६१ ।।

पृथिवि ! सब सन्तति हमारी जन्य करो अदीन ।
पार्श्व में स्थित तव रहें सम्पूर्ण रोग विहीन ।।
यक्ष्मादिक से रहित होंवे बलिष्ठ सुयोग्य ।
आयु होवे दीर्घ तुमको भेंट दें बलिभोग्य ।। ६२ ।।

तू जनों की आवपनी अदिति है कामधेनु पप्रथाना ।
प्रजापति जो तेरी न्यूनता आपूरता ऋत की प्रथमजा ।। ६१ ।।
समीप तव नीरोग अयक्ष्मा हमारी सन्तति पृथिवी होवे ।
हम दीर्घ आयु हों हम प्रतिबुध्यमान तुझे बलि भाग दें ।। ६२ ।।

भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठतम्। संविदीना दिवा कवे श्रितां माधेहि भूत्याम् ॥ ६३ ॥

॥ इति अथर्ववेदीय पृथ्वीसूक्तम्, अ० का० १२ सूक्त १ ॥

हे सुभूमे ! मात हे ! तुम भद्र शुभ कल्याण।
शिवालक्ष्मी का दयामयि दीजिये वरदान॥
कीजिये सुन्दर प्रतिष्ठित भद्रता साक्षात्।
क्रान्तिदर्शिन देवि अन्तर्यामिनी भूमात॥
हो सुसंगत दिव्यता दिवलोक का ले सार।
मुझे श्री में भूरि-भव्य विभूतियों में धार॥ ६३॥

भद्रद्वारा सुप्रतिष्ठित् मुझे भूमिमातः करा।
संविदाना, दिवा, कवे, श्रीभूति में मुझे धर॥ ६३॥

॥ इति पृथ्वीसूक्त समछन्दानुवर्त्ती अनुवाद॥

सन्दर्भ-ग्रंथ सूची

भावपक्ष—भाग १

महर्षि दयानन्द—यजुर्वेदभाष्य (सम्पूर्ण)—वैदिक यंत्रालय, अजमेर।
सत्यार्थ प्रकाश—आर्य प्रकाशन मण्डल, अजमेर।
आर्याभिविनय—गोविन्दराम हासानंद, दिल्ली।
दयानन्द ग्रंथ-संग्रह— " " "
ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका—वैदिक यंत्रालय, अजमेर।
पंच-महायज्ञ-विधि— " " "
संस्कार-विधि— " " "
वेदाङ्ग-प्रकाश धातुपाठ— " " "
वैदिक संस्थान लखनऊ—यजुर्वेदभाष्य (दो भाग)
स्वामी आत्मानन्द सरस्वती—संध्या अष्टाङ्ग योग, आज्ञाराम गाँधी, यमुनानगर।
स्वामी वेदानन्द—स्वाध्याय-संग्रह, आर्य प्रकाशन, दिल्ली।
स्वाध्याय-सन्दोह—
स्वाध्याय-सुमन—
पण्डित जयदेव शर्मा—चतुर्वेदभाष्य—आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर।
पं० हरिश्चन्द्र—सामवेद-भाष्य, सार्वदेशिक प्रकाशन, दिल्ली।
स्वामीब्रह्ममुनि—वैदिक वंदन " " "

आचार्यदेव शर्मा अभय—वैदिक विनय, भाग १, २

रामगोपाल विद्यालंकार—संस्कार-प्रकाश।

आत्माराम अमृतसरी—संस्कार-चन्द्रिका।

आर्थर एन्थोनी–ए वैदिक रीडर (A Vedic Reader)

विद्यानन्द-विदेह—वेद व्याख्या ग्रन्थ।

द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री—हृद्वीणा।

नारायण स्वामी—ईशोपनिषद्, सार्वदेशिक प्रकाशन लि०, दिल्ली।

स्वामी दर्शनानन्द—ईशोपनिषद् प्रकाश, हरिश्चन्द्र बजाज, मेरठ।

हनुमान प्रसाद पोद्दार–उपनिषदांक (कल्याण) गीताप्रेस, गोरखपुर।

सार्वदेशिक, वेदप्रकाश, वेदपथ, वेदवाणी, भारती (मासिक)। तथा आर्यमित्र, भूदान यज्ञ, धर्मयुग (सोम-सुधा के प्रकाशित अंश) तथा संस्कार-चन्द्रिका।

२५–१०–५९

कलापक्ष—भाग २

गोस्वामी तुलसीदास—विनय-पत्रिका, श्री वियोगीहरि संपादित।

गुप्त मैथिलीशरण—साकेत, साहित्यसदन, चिरंगाव (झांसी)।

प्रसाद—कामायनी, आँसू, लहर भारती भण्डार, प्रयाग।

जगन्नाथ 'भानु'—छन्द प्रभाकर।

पंत	पल्लव
मम्मट	काव्य-प्रकाश
निराला	तुलसीदास

प्रमुख संस्कृत प्रकाशन

रचनानुवादकौमुदो	डॉ० कपिलदेव द्विवेदी	४.२५
प्रौढ रचनानुवादकौमुदी	डॉ० कपिलदेव द्विवेदो	१२.५०
संस्कृत व्याकरण	डॉ० कपिलदेव द्विवेदी	१२.५०
मुद्राराक्षसम् (विशाखदत्त	डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी	११.००
चन्द्रालोक सुधा (पंचम मयूख)	विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी	४.००
वेदचयनम्	विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी	७.५०
कादम्बरो : कथामुख	डॉ० देवर्षि सनाढ्य तथा विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी	४.५०
लघुसिद्धान्त कौमुदो (संक्षिप्त)	डॉ० रामअवध पाण्डेय	४.००
पालि-प्राकृत-अपभ्रंश संग्रह	डॉ० रामअवध पाण्डेय तथा रविनाथ मिश्र	१२.५०
नलोपाख्यानम्	गंगासहाय प्रेमो	३.००
भुशुंडिरायायण (दो खंडों में)	डॉ० भगवतोप्रसाद सिंह	८०.००



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी